# राजस्थान-भारती

भाग 1

भारतीय इतिहास को राजस्थान का अवदान

प्रोफेसर एस.आर. गोयल

# राजस्थान-भारती

(प्रोफेसर एस.आर. गोयल अभिनन्दन-ग्रन्थ)

भाग 1

## भारतीय इतिहास को राजस्थान का अवदान

सम्पादक

सोभाग माथुर

शंकर गोयल

साइण्टिफिक पब्लिशर्स् , जोधपुर

# सम्पादकीय

भारत के इतिहास मे राजस्थान की भूमिका प्राचीन काल से ही अतीव महत्त्वपूर्ण रही है । इस प्रदेश ने अनेक अवसरो पर भारत के सम्मान की रक्षा की है जिससे राजस्थान के अनेक अध्याय हमारे देश के इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ बन गये है । राजस्थान के राजनीतिक इतिहास की रोचकता का एक अन्य कारण यहां की राजनीतिक सस्कृति तथा संस्थाओं के वे पक्ष हैं जो अन्य प्रदेशो मे विरलतः अथवा कुछ भिन्न रूप मे मिलते है । भारतवासी देशभक्ति, शूरता, आत्म-सम्मान के लिए प्राणोत्सर्ग करने की अदम्य ललक, धर्मपरायणता, धर्मनिरपेक्षता, नारी जाति के लिए सम्मान की अभिव्यक्ति, कलात्मक अभिरुचि, देवभक्ति, साहित्य प्रेम, इत्यादि जिन मूल्यो के लिए समस्त विश्व मे विख्यात हैं उनका स्पष्टतम और गौरवपूर्ण रूप राजस्थान मे दिखाई देता है । आधुनिक राजस्थान अपने साधनो के सीमित होते हुए भी प्रत्येक क्षेत्र मे निरन्तर प्रगतिशील है । इन सभी दृष्टियो से भारतीय इतिहास तथा सस्कृति के विकास मे राजस्थान का योगदान बहुमूल्य है, बहुप्रशंसित है, और इस तथ्य को हृदयगम रखकर ही राजस्थान के इतिहास तथा संस्कृति की समुचित मीमांसा की जानी चाहिए ।

प्रस्तुत ग्रन्थ को दो खण्डो मे विभाजित किया गया है : (1) 'भारतीय इतिहास को राजस्थान का अवदान', तथा (2) 'भारतीय संस्कृति को राजस्थान का अवदान' । पाठको की सुविधार्थ इनको भी निम्नलिखित अनुभागो मे विभाजित कर दिया गया है : राजस्थान के इतिहास के कुछ अध्याय, राजनीतिक सस्कृति तथा संस्थाएं, मनीषी एवं मनीषा तथा धर्म, सस्कृति और कला । प्रस्तुत ग्रन्थ देश के प्रख्यात इतिहासविद् तथा जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, के इतिहास विभाग के 1992 मे सेवानिवृत्त हुए प्रोफेसर तथा अध्यक्ष डॉ. एस. आर. गोयल को उनके मित्रो , सहयोगियो तथा विद्यार्थियो की ओर से समर्पित है । प्रोफेसर गोयल हमारे देश के उन कुछ गिने-चुने इतिहासकारो मे से है जिन्होने अपनी मौलिक कृतियो [1] और अनेक शोध-निबन्धो से भारतीय-विद्या के क्षेत्र मे कार्यरत विद्वानो मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है ।[2]

प्रोफेसर गोयल मौलिक चिन्तक तथा लेखनी के धनी हैं । प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास, विशेषतः गुप्त युग, उनके अध्ययन तथा अध्यापन का विशेष क्षेत्र रहा है । लेकिन उनकी जिज्ञासा और ज्ञान की परिधि उससे कही अधिक व्यापक है । उन्होने प्राचीन इतिहास और संस्कृति के विभिन्न पक्षो[3], मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास, राजस्थान तथा विश्व सभ्यताओ के इतिहास का भी परिशीलन किया

---

1. प्रोफेसर एस. आर. गोयल की कृतियों तथा शोध-निबन्धों की विस्तृत सूची तथा उन पर लिखी गई रचनाओं की जानकारी आगे 'गोयल-साहित्य' शीर्षक के अन्तर्गत दी गई है ।

2 प्रोफेसर गोयल के विभिन्न सुझाव और मत अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का विषय हो गए हैं । उनके सुझावों की मीमांसा करने वाले कुछ विदेशी विद्वान् हैं : टॉमस ट्रॉटमान (जर्मनी), ए. के. वार्डर (कनाडा), जे. खोन्दा (नीदरलैण्ड्स), जी. एम. [illegible] बैशम (आस्ट्रेलिया) , इलियोस वुर्म (आस्ट्रिया), टी आर. [illegible] ली (पाकिस्तान), फ्रेडरिक एम. एशर, बार्डवैल एल. स्मि[illegible] जोआना विलियम्स् (सभी अमेरिका) ।

3. उदाहरणार्थ, दे. प्रागितिहास, मुद्रा-शास्त्र, अभिलेख-शास्त्र, धार्मिक इतिहास तथा सांस्कृतिक इतिहास पर उनके ग्रन्था

है ।[4] वह धर्म-दर्शन, इतिहास-दर्शन, मुद्रा-शास्त्र, अभिलेख-शास्त्र, साहित्येतिहास, दर्शन-शास्त्र, राजनीति शास्त्र तथा आधुनिक अनुसंधान पद्धति के अधिकारी विद्वान् हैं । इस विस्तृत पृष्ठभूमि के कारण उनके ग्रन्थों तथा शोध-पत्रों का विषय प्राचीन इतिहास तक ही सीमित नहीं रहा है । उनका दृष्टान्त संकीर्णवृत्ति के विशेषज्ञों के लिये विस्मयजनक हो सकता है किन्तु वास्तव में विद्या के क्षेत्र में कूपमण्डूकता को गुण नहीं माना जा सकता ।[5] निश्चय ही प्रोफेसर गोयल के लेखन की विस्तृत परिधि, गहराई तथा व्यापकता आगामी पीढ़ियों के इतिहासकारों को आश्चर्यजनक लगेगी ।

कुछ विद्वान् भ्रमवशात् इतिहास-लेखन में अपने दृष्टिकोण को ही इतिहास का मर्म मान बैठते हैं, किन्तु प्रोफेसर गोयल इतिहासकारों के किसी भी दल या विचार-धारा विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं और उन्होंने इस प्रकार की संकीर्ण और मात्र अपने निष्कर्षों को अथक रूप से दोहराने वाली शैली को कभी स्वीकृत नहीं किया है । मूल साक्ष्यों का पक्षपातरहित विवेचन ही इतिहास का सार है और प्रोफेसर गोयल की कृतियों तथा शोध-लेखों में इसी आदर्श की अनुपालना है । उनके लेखन की प्रमुख विशेषता उनका स्वतन्त्र मौलिक चिन्तन है । उन्होंने कभी अपने पूर्वगामी वरिष्ठ विद्वानों के विचारों का अन्धानुकरण नहीं किया है ।

प्रोफेसर गोयल के इतिहास-ग्रन्थ प्रकाशित होने के बाद हमारे देश के इतिहास के कुछ युगों का रूप बहुत कुछ बदल गया है । उनकी रचनाओं का सर्वाधिक प्रभाव गुप्त इतिहास-लेखन पर पड़ा है । जब 1967 में गुप्त इतिहास पर उनका शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुआ तभी भारत के मूर्धन्य इतिहासकार प्रोफेसर रमेशचन्द्र मजूमदार, विख्यात पाश्चात्य भारतीय-विद्या-विशारद ए. एल. बैशम आदि ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी । प्रोफेसर मजूमदार ने स्वीकार किया था कि अब डॉ. गोयल के सुझावों को नज़रअन्दाज करके गुप्त इतिहास नहीं लिखा जा सकता । प्रोफेसर ए. एल. बैशम ने भी डॉ.गोयल के शोध-प्रबन्ध को गुप्त इतिहास पर लिखित सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ बताया था । बाद में अमेरिका की इतिहासविद् प्रोफेसर एलिनोर ज़ेलिओट ने इसकी 'मॉडल ऑव हिस्टोरियोग्रेफी' कह कर प्रशंसा की तथा डॉ. बहादुरचन्द्र छाबड़ा जैसे महान् अभिलेख-शास्त्री ने स्वीकृत किया कि डॉ. गोयल ने गुप्त इतिहास पर जो कुछ लिखा है वह सर्वथा मौलिक है और उनके द्वारा किया गया गुप्त इतिहास का पुनर्निर्माण अब सर्वत्र माना जाता है।[6]

प्रोफेसर गोयल भारत के एकमात्र इतिहासकार हैं जिनके मुखपत्रों (थीम पेपर्स) में रखे गये सुझावों पर भारतीय और विदेशी विद्वानों के प्रतिक्रियात्मक लेखों सहित तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं : (1) 'दि ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट' (दिल्ली, 1979) । इसके सम्पादक डॉ. एस. पी. गुप्त एवं श्री के. एस. रामचन्द्रन हैं । इसके मुखपत्र (थीम पेपर) में प्रोफेसर गोयल ने मान्यता रखी है कि ब्राह्मी लिपि का विकास नहीं आविष्कार हुआ था तथा यह आविष्कार प्रारम्भिक मौर्य काल में हुआ और उसके पूर्व भारत में,

4. दे., माथुर, सोभाग, 'एस. आर. गोयल्स स्टडीज इन मेडीवल एण्ड मॉडर्न इण्डियन हिस्ट्री', एस. आर. गोयल : हिज मल्टीडायमेन्शनल हिस्टोरियोग्रेफी, सं. जगन्नाथ अग्रवाल एवं शंकर गोयल, नई दिल्ली, पृ. 208–22 तथा इसी ग्रन्थ में डॉ. बाबूलाल शर्मा का लेख 'डॉ. एस. आर. गोयल्स कण्ट्रिब्युशन टु दि स्टडी ऑव एन्श्येण्ट सिविलिजेशन्स', पृ. 165–69.

5. प्रोफेसर गोयल के सम्मान में शीघ-प्रकाश्य ग्रन्थ श्रीरामाभिनन्दनम् के लिए प्रोफेसर जी.सी. पाण्डे का सन्देश ।

6. गुप्त इतिहास पर प्रोफेसर गोयल के योगदान के मूल्यांकन के हेतु दे. एस. आर. गोयल : हिज मल्टीडायमेन्शनल हिस्टोरियोग्रेफी में प्रोफेसर्स अजयमित्र शास्त्री (पृ. 1–22) , टी. पी. वर्मा (पृ. 107–22) तथा प्रीतिकुमार मित्र (पृ. 83–206) के आलेख । इस विषय पर कुछ अन्य लेख रिएप्रेजिंग गुप्त हिस्ट्री फॉर एस. आर. गोयल में प्रकाशित हैं (सं. बहादुरचन्द्र छाबड़ा, पी. के. अग्रवाल, अश्विनी अग्रवाल तथा शंकर गोयल, नई दिल्ली, 1992) ।

आर. नागास्वामी ने ब्राह्मी लिपि की समस्या का सर्वश्रेष्ठ और एक मात्र स्वीकार्य हल बताया है। अब प्रोफेसर टी.पी वर्मा तथा प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल जैसे पुराविद् भी यह मानते हैं कि ब्राह्मी लिपि का आविष्कार हुआ था, शनै. शनै. विकास नही। (2) 'किंग चन्द्र एण्ड दि मेहरौली पिलर' (मेरठ, 1989)। इसके सम्पादक भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर जनरल मुनीश चन्द्र जोशी, डॉ एस. के. गुप्त (जयपुर) तथा डॉ. शकर गोयल हैं। इसके मुखपत्र मे प्रोफेसर गोयल ने सुझाव रखा है कि मेहरौली-प्रशस्ति मे वर्णित 'चन्द्र' नामक नरेश की पहिचान समुद्रगुप्त से की जानी चाहिए, द्वितीय चन्द्रगुप्त से नही। उनका यह मौलिक सुझाव प्रोफेसर एस. बी. देव तथा श्री एम. सी. जोशी आदि अनेक विद्वानो द्वारा स्वीकृत हुआ है। स्वय प्रोफेसर छाबड़ा ने, जो पहिले 'चन्द्र' की पहिचान द्वितीय चन्द्रगुप्त से करते थे, प्रोफेसर गोयल के मत को स्वीकार किया। (3) 'पोलिटिकल हिस्ट्री इन ए चेंजिंग वर्ल्ड' (जोधपुर, 1992)। इसके सम्पादक राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, के भूतपूर्व कुलपति एव सुविख्यात इतिहासकार और चिंतक प्रोफेसर जी सी पाण्डे, डॉ एस के गुप्त (जयपुर) तथा डॉ शकर गोयल हैं। इसके मुखपत्र मे प्रोफेसर गोयल ने राजनीतिक इतिहास को नया रूप देने की आवश्यकता तथा उपायों का विवेचन किया है। प्रोफेसर गोयल के द्वारा रखी गई 'नवीन राजनीतिक इतिहास' की अवधारणा की सर्वत्र प्रशसा हुई है। नीदरलैण्ड्स के विख्यात विद्वान् प्रोफेसर जे. खोन्दा ने भी इसे भारतीय इतिहास के अध्ययन मे एक 'नया मोड़' बताया है।

प्रोफेसर गोयल की इतिहास-दृष्टि[7], उनकी रचनाओ तथा कर्मठता की अनेक विद्वानो ने मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। अपने एक पत्र (14-2-92) मे चण्डीगढ़ के प्रोफेसर स्वर्गीय जगन्नाथ अग्रवाल ने प्रोफेसर गोयल को लिखा था . "आपने इतना लिखा है और इतना विद्वत्तापूर्ण लिखा है कि आपके आलोचक भी आपकी प्रशसा करने के लिए बाध्य हो जाते है। आपके द्वारा हिन्दी भाषा मे रचित इतिहास साहित्य तो विशेषत प्रशसनीय है क्योंकि बहुत कम लोग हिन्दी में उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थो की रचना कर रहे हैं। आप अपने आपमे एक सस्था है।" 1989 मे 'अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यु' मे भी डॉ गोयल की प्रशसा प्राचीन भारतीय इतिहास पर सर्वाधिक और मौलिक ग्रन्थों के रचयिता के रूप मे की गई थी। जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर जनरल डॉ बहादुर चन्द्र छाबड़ा ने 'रिएप्रेजिंग गुप्त हिस्ट्री फॉर एस आर गोयल' के सम्पादकीय मे लिखा है कि प्रोफेसर गोयल ने गुप्त इतिहास पर जो कुछ लिखा है वह पूर्णत मौलिक है और उनके द्वारा गुप्त वश का पुनर्निर्माण अब भारतीय-विद्या जगत् मे सर्वत्र माना जाता है (पृ vii)। डॉ गोयल के प्रति उनके भाव उस सस्कृत प्रशस्ति से भी स्पष्ट है जो उन्होने डॉ. गोयल के लिए उक्त पुस्तक के लिये लिखी है। नागपुर के प्रोफेसर अजयमित्र शास्त्री के अनुसार अगर कोई आज इस समय जीवित भारतीय इतिहासकारो की गणना करे तो प्रोफेसर श्रीराम गोयल का नाम उनमे मुख्य नामो मे होगा। उन्होंने अपने ग्रन्थो की विशाल सख्या, उनकी व्यापकता, गुणवत्ता तथा मौलिकता से इतिहास के क्षेत्र मे अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। वाराणसी के प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल ने अपने एक सन्देश मे प्रोफेसर गोयल को 'आधुनिक गणेश' बताया है और अन्यत्र एक स्थल पर लिखा है कि उनमे वैज्ञानिक विद्वत्ता की सर्वोत्कृष्ट परम्परा के सभी गुणो का समावेश है। उनका मूल साक्ष्यों पर ऐसा अधिकार है जो विरलत ही देखने मे आता है। किसी भी समस्या के विविध पक्षों का सूक्ष्म विश्लेषण करने की उनमें नैसर्गिक योग्यता है। तर्कसगत ढग से प्रतिपादन, सामग्री का व्यवस्थीकरण और सबसे अधिक किसी समस्या का अध्ययन करने

7 दे एस आर गोयल . हिज़ मल्टीडायमेन्शनल हिस्टोरियोग्राफी में शकर गोयल का आलेख, 'एस आर गोयल्स एप्रोच टु हिस्ट्री'।

है ।[4] वह धर्म-दर्शन, इतिहास-दर्शन, मुद्रा-शास्त्र, अभिलेख-शास्त्र, साहित्येतिहास, दर्शन-शास्त्र, राजनीति शास्त्र तथा आधुनिक अनुसंधान पद्धति के अधिकारी विद्वान् हैं । इस विस्तृत पृष्ठभूमि के कारण उनके ग्रन्थों तथा शोध-पत्रों का विषय प्राचीन इतिहास तक ही सीमित नहीं रहा है । उनका दृष्टान्त संकीर्णवृत्ति के विशेषज्ञों के लिये विस्मयजनक हो सकता है किन्तु वास्तव में विद्या के क्षेत्र में कूपमण्डूकता को गुण नहीं माना जा सकता ।[5] निश्चय ही प्रोफेसर गोयल के लेखन की विस्तृत परिधि, गहराई तथा व्यापकता आगामी पीढ़ियों के इतिहासकारों को आश्चर्यजनक लगेगी ।

कुछ विद्वान् भ्रमवशात् इतिहास-लेखन में अपने दृष्टिकोण को ही इतिहास का मर्म मान बैठते हैं, किन्तु प्रोफेसर गोयल इतिहासकारों के किसी भी दल या विचार-धारा विशेष से सम्बद्ध नहीं हैं और उन्होंने इस प्रकार की संकीर्ण और मात्र अपने निष्कर्षों को अथक रूप से दोहराने वाली शैली को कभी स्वीकृत नहीं किया है । मूल साक्ष्यों का पक्षपातरहित विवेचन ही इतिहास का सार है और प्रोफेसर गोयल की कृतियों तथा शोध-लेखों में इसी आदर्श की अनुपालना है । उनके लेखन की प्रमुख विशेषता उनका स्वतन्त्र मौलिक चिन्तन है । उन्होंने कभी अपने पूर्वगामी वरिष्ठ विद्वानों के विचारों का अन्धानुकरण नहीं किया है ।

प्रोफेसर गोयल के इतिहास-ग्रन्थ प्रकाशित होने के बाद हमारे देश के इतिहास के कुछ युगों का रूप बहुत कुछ बदल गया है । उनकी रचनाओं का सर्वाधिक प्रभाव गुप्त इतिहास-लेखन पर पड़ा है । जब 1967 में गुप्त इतिहास पर उनका शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुआ तभी भारत के मूर्धन्य इतिहासकार प्रोफेसर रमेशचन्द्र मजूमदार, विख्यात पाश्चात्य भारतीय-विद्या-विशारद ए. एल. बैशम आदि ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की थी । प्रोफेसर मजूमदार ने स्वीकार किया था कि अब डॉ. गोयल के सुझावों को नज़रअन्दाज करके गुप्त इतिहास नहीं लिखा जा सकता । प्रोफेसर ए. एल. बैशम ने भी डॉ.गोयल के शोध-प्रबन्ध को गुप्त इतिहास पर लिखित सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ बताया था । बाद में अमेरिका की इतिहासविद् प्रोफेसर एलिनोर ज़ेलिओट ने इसकी 'मॉडल ऑव हिस्टोरियोग्रेफी' कह कर प्रशंसा की तथा डॉ. बहादुरचन्द्र छाबड़ा जैसे महान् अभिलेख-शास्त्री ने स्वीकृत किया कि डॉ. गोयल ने गुप्त इतिहास पर जो कुछ लिखा है वह सर्वथा मौलिक है और उनके द्वारा किया गया गुप्त इतिहास का पुनर्निर्माण अब सर्वत्र माना जाता है।[6]

प्रोफेसर गोयल भारत के एकमात्र इतिहासकार हैं जिनके मुखपत्रों (थीम पेपर्स) में रखे गये ... पर भारतीय और विदेशी विद्वानों के प्रतिक्रियात्मक लेखों सहित तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके ... ओरिजिन ऑव ब्राह्मी स्क्रिप्ट' (दिल्ली, 1979) । इसके सम्पादक डॉ. एस. पी. गुप्त ... रामचन्द्रन हैं । इसके मुखपत्र (थीम पेपर) में प्रोफेसर गोयल ने मान्यता रखी है कि ब्रा... नहीं आविष्कार हुआ था तथा यह आविष्कार प्रारम्भिक मौर्य काल में हुआ और ...

---

4. दे., माथुर, सोभाग, 'एस. आर. गोयल्स स्टडीज इन मेडीवल एण्ड मॉडर्न इण्डियन हिस्ट्री ... मल्टीडायमेन्शनल हिस्टोरियोग्रेफी, सं. जगन्नाथ अग्रवाल एवं शंकर गोयल, नई दिल्ली ... में डॉ. बाबूलाल शर्मा का लेख 'डॉ. एस. आर. गोयल्स कण्ट्रिब्युशन टु दि स्टडी ... पृ. 165–69.

5. प्रोफेसर गोयल के सम्मान में शीघ्र-प्रकाश्य ग्रन्थ श्रीरामाभिनन्दनम् के लिए प्रोफेसर ...

6. गुप्त इतिहास पर प्रोफेसर गोयल के योगदान के मूल्यांकन के हेतु दे. एस. आर. ... हिस्टोरियोग्रेफी में प्रोफेसर्स अजयमित्र शास्त्री (पृ. 1–22) , टी. पी. वर्मा (पृ. 10... 83–206) के आलेख । इस विषय पर कुछ अन्य लेख रिएप्रेजिंग गुप्त हिस्ट्री (सं. बहादुरचन्द्र छाबड़ा, पी. के. अग्रवाल, अश्विनी अग्रवाल तथा शंकर गोयल,

विभाग मे शोध का वातावरण बनाने मे रहा । जोधपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग से उनके निर्देशन में जितने विद्यार्थियों ने पीएच डी उपाधि अर्जित की है सम्भवत उतनी किसी और के निर्देशन में नही।

जब प्रोफेसर गोयल 1992 में सेवानिवृत्त हुए, उसके पूर्व ही उनके प्रशसक उनके सम्मान मे दो ग्रन्थ प्रकाशित कर चुके थे । इनमें एक था 'एस आर गोयल हिज़ मल्टीडायमेन्शनल हिस्टोरियोग्रेफी' (नई दिल्ली, 1992) । इसके सम्पादक चण्डीगढ के सुप्रथित वरिष्ठ भारतीय-विद्या विशारद प्रोफेसर जगन्नाथ अग्रवाल और डॉ शकर गोयल थे । यह ग्रन्थ सर्वथा अनूठा है क्योंकि इसमे प्रोफेसर गोयल के भारतीय-विद्या के विभिन्न पक्षो में योगदान पर अलग-अलग विद्वानो द्वारा लिखित अट्ठारह लेख हैं । ऐसा ग्रन्थ भारत के किसी अन्य इतिहासकार के ऊपर सम्भवत अभी तक नही लिखा गया है । दूसरा ग्रन्थ था 'रिएप्रेज़िंग गुप्त हिस्ट्री फॉर एस आर गोयल' (नई दिल्ली, 1992) । इसके सम्पादक भारत के पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर जनरल डॉ बहादुरचन्द्र छाबड़ा, डॉ पृथिवीकुमार अग्रवाल, डॉ अश्विनी अग्रवाल एव डॉ शकर गोयल थे । इस बीच में प्रोफेसर गोयल के सम्मान मे एक तीसरे अभिनन्दन ग्रन्थ —'श्रीरामाभिनन्दनम्' — की योजना भी बन गई थी । यह ग्रन्थ इस समय मुद्रणाधीन है। ऐसे में यह सर्वथा स्वाभाविक था कि स्वय राजस्थान के इतिहासकारो के मन मे प्रोफेसर गोयल को सम्मानित करने की इच्छा उत्पन्न होती । प्रस्तुत ग्रन्थ 'राजस्थान भारती' (दो भागो में) उनके प्रशसको की इसी इच्छा की अभिव्यक्ति है।

प्रोफेसर गोयल के प्रति जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, के कला सकाय के सभी विभागों एव नगर के भारतीय विद्या से सम्बन्धित शोध-सस्थानों में आदर की भावना रही है । इस ग्रन्थ मे जोधपुर विश्वविद्यालय के दर्शन शास्त्र, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, राजनीति शास्त्र, सस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि लगभग सभी विभागो एव जोधपुर नगर की भारतीय विद्या से सम्बन्धित लगभग सभी सस्थाओं के विद्वानों के आलेखों का सम्मिलित होना इसका प्रमाण है । इस ग्रन्थ के कुछ अन्य सम्मानित लेखको में जोधपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष एव प्रोफेसर के एस लाल तथा डॉ आर पी व्यास, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, के इतिहास विभाग के सेवानिवृत्त प्रोफेसर एव अध्यक्ष के एस गुप्त, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, के इतिहास एव भारतीय सस्कृति विभाग के भूतपूर्व प्रोफेसर डॉ गोपीनाथ शर्मा, कुमायू विश्वविद्यालय, गढवाल के कुलपति डॉ मोहनचन्द्र जोशी, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर, के हिन्दी विभाग की डॉ योगेश्वरी शास्त्री तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्रोफेसर बी डी चट्टोपाध्याय के नाम विशेषत उल्लेखनीय हैं ।

अन्त में हम उपर्युक्त विद्वानो एव उन सभी अन्य विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करते हैं जिन्होने इस ग्रन्थ में अपने आलेख देकर इस योजना को सफल बनाने में हमारी सहायता की है । जिन विद्वानों के शोध-निबन्ध हम किसी कारणवश सम्मिलित नहीं कर पाए उनसे हम क्षमायाचना करते हैं । हमारे मित्र तथा कर्मठ प्रकाशक श्री पवनकुमार शर्मा ने, जिनमे राजसथान के इतिहास और सस्कृति को आलोकित करने के लिए अदम्य उत्साह है, बड़ी तत्परता के साथ इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया है । इसके लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं ।

विजयदशमी, 1994

सोभाग माथुर
शंकर गोयल

# विषय-सूची



## खण्ड 1

## प्रोफेसर एस. आर. गोयल और उनका कृतित्व



## खण्ड 2

## राजस्थान के इतिहास के कुछ अध्याय

## खण्ड 3

# राजनीतिक संस्कृति एवं संस्थाएं

# लेखक-सूची

1 प्रोफेसर डॉ मोहनचन्द्र जोशी, कुलपति, कुमाऊ विश्वविद्यालय, गढ़वाल ।
2 प्रोफेसर डॉ के एस लाल, भूतपूर्व प्रोफेसर एव अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर, एव हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।
3 प्रोफेसर डॉ गोपीनाथ शर्मा, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास एव भारतीय सस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ।
4 प्रोफेसर डॉ दयानन्द भार्गव, अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
5 प्रोफेसर डॉ बी डी चट्टोपाध्याय, सेण्टर फॉर हिस्टोरिकल स्टडीज़, स्कूल ऑव सोशल साइन्सिस, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली ।
6 प्रोफेसर डॉ के एस गुप्त, भूतपूर्व प्रोफेसर एव अध्यक्ष, इतिहास विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ।
7 प्रोफेसर डॉ गणेशीलाल सुथार, निदेशक, पण्डित मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ, सस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
8 प्रोफेसर डॉ जयकान्त सिंह, प्रोफेसर एव विभागाध्यक्ष, राजकीय दरबार आचार्य सस्कृत कॉलेज, जोधपुर ।
9 डॉ राम प्रसाद व्यास, भूतपूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
10 डॉ डी आर भण्डारी, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर।
11 डॉ निर्मला उपाध्याय, अध्यक्ष, राजनीति विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, ॰धपुर।
12 डॉ रमा भार्गव, एसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (सेवानिवृत्त) ।
13 प्रोफेसर श्रीमती योगेश्वरी शास्त्री, हिन्दी विभाग, कॉलिज फॉर वीमेन, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर ।
14 डॉ सोभाग माथुर,एसोशियेट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
15 डॉ श्रीमती बी बेञ्जमिन, एसोशिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
16 डॉ कन्हैयालाल राजपुरोहित, एसोशिएट प्रोफेसर , राजनीति विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
17 डॉ सोहन कृष्ण पुरोहित, एसोशिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
18 डॉ नीलकमल शर्मा, एसोशिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।

19. श्री पुखराज आर्य, एसोशिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
20. डॉ. हेमन्त कुमार शर्मा, एसोशिएट प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
21. डॉ. श्याम प्रसाद व्यास, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
22. डॉ. सूरज पालीवाल, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
23. डॉ. मनमोहन स्वरूप माथुर, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजस्थानी विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
24. डॉ. शिव प्रकाश गुप्त, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
25. डॉ. हेरम्ब चतुर्वेदी, एसोशियेट प्रोफेसर, मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।
26. डॉ. मंगलाराम विश्नोई, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
27. डॉ. शंकर गोयल, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
28. डॉ. मोहनराम चौधरी, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर ।
29. डॉ. विक्रमसिंह राठौड़, कार्यवाहक निदेशक, राजस्थानी शोध-संस्थान, जोधपुर ।
30. डॉ. बाबूलाल शर्मा, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग, राजकीय महाविद्यालय, बाड़मेर ।
31. डॉ. कुमारी अनुराधा श्रीवास्तवा, असिस्टेण्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, सनातन धर्म महाविद्यालय, ब्यावर ।
32. डॉ. श्रीमती वसुमती शर्मा, प्राच्य-विद्या-प्रतिष्ठान, जोधपुर ।
33. डॉ. नारायणलाल शर्मा, उदयपुर ।
34. डॉ. सर्वोत्तम माथुर, चौरघर, जोधपुर ।
35. डॉ. श्रीमती शोभा पालीवाल, 71, सेन्ट्रल स्कूल स्कीम, जोधपुर ।
36. डॉ. कुमारी मनोरमा उपाध्याय, 128, नेहरू पार्क, जोधपुर ।

# खण्ड 1

# प्रोफेसर एस. आर. गोयल और उनका कृतित्व

# 1

# गोयल-साहित्य

## शंकर गोयल

भारतीय-विद्या के क्षेत्र मे अखिल भारतीय ही नही अन्तरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त एव मेक्सिको के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ डेविड एन. लारेंज़ेन के अनुसार 'भारत के सर्वश्रेष्ठ पांच वर्तमान इतिहासकारों मे एक'* प्रोफेसर एस. आर. गोयल का जन्म उत्तर प्रदेश के हापुड़ नगर मे 1932 ई. मे हुआ था। अपने पैतृक नगर से आपने प्रथम श्रेणी मे हाई स्कूल परीक्षा पास की (1949) और फिर इण्टरमिजिएट की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर (1951) इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षार्थ बी. ए. मे प्रवेश लिया। उस समय आपकी विशेष रुचि दर्शन-शास्त्र मे थी जिसमे आपने बी. ए. मे सर्वाधिक अंक अर्जित किए और 'मणीन्द्रनाथ नन्दी सुवर्ण पदक' अर्जित किया (1953)। दर्शन मे इस विशेष अभिरुचि का प्रभाव आपके भावी अकादमिक जीवन और कृतित्व पर स्पष्टतः परिलक्षित है। लेकिन अपने गुरु, सुप्रसिद्ध विद्वान् और दार्शनिक इतिहासकार प्रोफेसर गोविन्दचन्द्र पाण्डेय के (जो बाद मे राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति बने) नित्य सम्पर्क मे रहने के लोभ से आपने एम. ए. में इतिहास विषय लिया और प्राचीन इतिहास में 'प्रथम श्रेणी के साथ प्रथम स्थान' पाने का गौरव अर्जित किया। उसी वर्ष आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सी. एम. पी. कालिज में नियुक्त हुए और प्राचीन इतिहास विभाग के अध्यक्ष बने। 1958 में आप गोरखपुर विश्वविद्यालय मे प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग में असिस्टैण्ट प्रोफेसर बने और इस पद पर 1970 तक कार्यरत रहे। इस बीच में आपने भारतीय-विद्या के एक अन्य महान् विद्वान् प्रोफेसर वी. एस. पाठक (सम्प्रति कुलपति, गोरखपुर विश्वविद्यालय) के निर्देशन में गुप्त साम्राज्यिक वंश के इतिहास पर पीएच. डी. उपाधि अर्जित की (1966)। आपका यह शोध-प्रबंध समस्त भारतीय-विद्या जगत् मे आपकी धवलकीर्ति का कारण बना, प्रोफेसर ए. एल. बैशम जैसे पाश्चात्य इतिहासकार द्वारा 'गुप्त इतिहास पर लिखित सर्वोत्तम ग्रन्थ' रूप में सराहा गया तथा भारतीय तथा विदेशी मानक शोध-पत्रिकाओं मे प्रशंसित हुआ।

डॉ. गोयल 1970 मे जोधपुर विश्वविद्यालय मे इतिहास विभाग मे रीडर बनकर आए और 1982 में विभागाध्यक्ष बने। 1985 आप इसी विभाग में प्रोफेसर बने और 1992 तक सेवानिवृत्त होने तक इतिहास विभाग के प्रोफेसर-अध्यक्ष पद को सुशोभित करते रहे।

प्रोफेसर गोयल के निर्देशन में जोधपुर में बारह विद्यार्थियो ने पीएच. डी. उपाधि अर्जित की। उनमे अधिकांश के शोध-प्रबंध प्रकाशित हो चुके हैं। उनके निर्देशन मे डॉक्टरेट प्राप्त करने वालो में इतिहास विभाग के वर्तमान प्रोफेसर-अध्यक्ष डॉ. दिनेशचन्द्र शुक्ल सहित छः अध्यापक सम्मिलित हैं। विभाग के

* दे., *Reappraising Gupta History for S.R. Goyal* (eds. B.Ch. Chhabra et al, New Delhi, 1992) में डेविड लारैंज़ेन का लेख।

अन्य अनेक प्राध्यापक स्नातकोत्तर स्तर पर आपके विद्यार्थी रहे हैं। इस प्रकार जोधपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में शोध का वातावरण बनाने में प्रोफेसर गोयल का श्लाघ्य योगदान रहा है। इनके अतिरिक्त आपके अन्य अनेक विद्यार्थी आज विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर (यथा फैजाबाद, शिमला, जयपुर आदि), रीडर (गोरखपुर, जयपुर आदि) पदों पर कार्यरत हैं। विभिन्न महाविद्यालयों में एसोशिएट प्रोफेसर तथा व्याख्याता पदों पर कार्यरत आपके विद्यार्थियों की तो गणना करना भी कठिन है।

प्रोफेसर गोयल का प्रथम शोध-निबन्ध 1958 में प्रकाशित हुआ और प्रथम ग्रन्थ 1961 में। तब से अब तक वह अथक और अविरामरूपेण भारतीय-विद्या की सेवा करते आ रहे हैं। प्रोफेसर गोयल की प्रमुख विशेषता उनका तर्कसम्मत मौलिक चिन्तन है जिसके परिणामस्वरूप उनकी हर रचना में ऐसा कुछ होता है जो अन्य विद्वानों को प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए, उनके सुझावों को स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने के लिए, विवश कर देता है। प्रोफेसर गोयल के विचारों और सुझावों पर सवा सौ से अधिक प्रतिक्रियात्मक लेख लिखा जाना इसका प्रमाण है।

## (अ) प्रोफेसर गोयल के प्रकाशित ग्रन्थ :

### (a) राजनीतिक इतिहास और संस्थाएँ

(1) *A History of the Imperial Guptas*, Allahabad, 1967.
(2) *Gupta evam Samakalina Rajavamsa*, Allahabad, 1969.
(3) *Prachina Nepala ka Rajanitika aura Samskritika Itihasa*, Varanasi, 1973.
(4) *Kautilya and Megathenes*, Meerut, 1987.
(6) *Nanda-Maurya Samrajya ka Itihasa*, Meerut, 1988.
(7) *Prachina Bharata ka Itihasa*, Vol. I (Magadha- Satavahana-Kushana Samrajyon ka Yuga), Meerut, 1988.
(8) *Prachina Bharata ka Itihasa*, Vol. II (Gupta aura Vakataka Sam rajyon ka Yuga),Meerut, 1988.
(9) *Prachnia Bharata ka Itihasa*, Vol. III (Maukhari-Pushyabhuti Chalukya Yuga), Meerut, 1988.
(10) *Vedika aura Janapadaugina Bharata*, Jodhpur, 1993.

### (b) अभिलेख-शास्त्र तथा मुद्रा-शास्त्र

(11) *Prachina Bharatiya Abhilekha Samgraha*, Jaipur, 1982.
(12) *Guptakalina Abhilekha*, Meerut, 1984.
(13) *Maukhari-Pushyabhuti-Chalukyayugina Abhilekha*, Meerut, 1988.
(14) *Indigenous Coins of Early India*, Jodhpur, 1994.
(15) *An Introduction to Gupta Numismatics*, Jodhpur, 1994.
(16) *The Dynastic Coins of Ancient India*, Jodhpur, 1994.

### (c) चरित-ग्रन्थ

(17) *Harsha Siladitya*, Meerut, 1986.

(18) *Samudragupta Parakramanka*, Meerut, 1987.
(19) *Chandragupta Maurya*, Meerut, 1987.
(20) *Priyadarsi Asoka*, Meerut, 1988.

(d) धार्मिक इतिहास

(21) *A Religious History of Ancient India*, Vol. I (Pre-Vedic, Vedic, Jaina and Buddhist Religions), Meerut, 1984.
(22) *A Religious History of Ancient India*, Vol. II (Smarta, Epic Pauranika and Tantrika Hinduism), Meerut, 1986.
(23) *Harsha and Buddhism*, Meerut, 1986.
(24) *A History of Indian Buddhism*, Meerut, 1987.

(e) प्रागितिहास तथा प्राचीन सभ्यताएं

(25) *Pragaitihasika Manava aura Samskritiyan*, Gorakhpur, 1961.
(26) *Visva ki Prachina Sabhyatayen*, upto 323 B.C., Gorakhpur, 1963.

(f) सम्पादित ग्रन्थ

(27) *Magadha Samrajya ka Udaya*, New Delhi, 1981.
(28) *Prarambhika Mughal Samrajya ka Itihasa*, New Delhi, 1987.

(g) अनूदित ग्रन्थ

(29) *Yuddhakala* (Hindi trans. of Arthur Birnie's *The Art of War*), Gorakhpur, 1965.

(h) अन्य मुद्रणाधीन स्वरचित ग्रन्थ

(30) *Intellectuals in Ancient India.*
(31) *Dakshina Bharata ka Itihasa.*
(32) *Literary Avenues to India's Past.*
(33) *A Comprehensive History of Hinduism*, Vol. I (upto c. 1200 A.D.).
(34) *A Comprehensive History of Hinduism*, Vol. II (c. 1200 to A. D. to Contemporary Times).
(35) *Studies in Rajasthan History.*

(i) मुद्रणाधीन सम्पादित ग्रन्थ (सह-सम्पादक डॉ. शंकर गोयल)

(36) *The Art of the Gupta-Vakataka Age.*
(37) *The Wonder that was Gupta India.*
(37) *A History of India from c. 300 to 750 A.D.*

**(आ) ऐसे ग्रन्थ जिनमें प्रोफेसर गोयल के मुखपत्र (Lead Papers) तथा उनमें दिए गए सुझावों पर अन्य विद्वानों के प्रतिक्रियात्मक लेख हैं :**

(1) *The Origin of Brahmi Script*, ed. by Dr. S.P. Gupta and Dr. K.S. Ramachandran, Delhi, 1979.
(2) *Kind Chandra and the Meharauli Pillar*, ed. by Shri M.C. Joshi, Dr. S.K. Gupta and Dr. Shankar Goyal, Meerut, 1989.
(3) *Political History in a Changing World*, ed. by Professor G.C. Pande, Dr. S.K. Gupta and Dr. Shankar Goyal, Jodhpur, 1992.

**(इ) प्रोफेसर गोयल द्वारा लिखित शोध-निबन्ध, समीक्षा-निबन्ध, भूमिकाएं तथा मानक ग्रन्थों के अध्याय, आदि* :**

1. 'The Date of the Arthasastra of Kautilya'. *CMP Degree College (Allahabad University) Magazine*, 1958, pp. 58-67.
2. 'History of the Sarayupara Region', *Purva, Bulletin of the Department of Ancient History, Culture and Archaeology, Gorakhpur University*, Jan. 1959, pp. 29-32.
3. 'Were the Imperial Guptas Brahmanas by Caste ?' (in Hindi), *Bulletin of the Gorakhpur University*, 1961, pp. 5-9.
4. 'Paschimi Asia men Sivopasana', *Vasanti*, Varanasi, 1961, pp. 63-66.
5. 'A-Himavat a - Kumarya Bharatavarsham', *Aaj, Dec. 30, 1962*, pp. 13-14.
6. 'Ramabhakta Akbar', *Tripathaga*, April 1961, pp. 33-35.
7. 'Rashtriya Suraksha aura Guptacharya', *Aaj*, Feb. 2, 1963, pp. 14ff.
8. 'Atharvaveda men Rudropasana', *Aaj*, Feb.16, 1963, pp. 14 ff.
9. 'Krshnavallabha Sri Radha ka Mula Svarupa', *Aaj*, Sept. 1, 1963, pp. 13-16.
10. 'Yajurveda men Rudra ka Svarupa aura uska Aitihasika Mahatva' *Bharati* (Bombay), VIII, ii, Sept. 1963, pp. 130 ff.
11. 'Was Magadha the Original Home of the Imperial Guptas ?', PIHC, 1964 (abstract).
12. 'Was Pataliputra the Capital of the Imperial Guptas ?' *PIHC*, 1964 (abstract).
13. 'Samudragupta : The King of Meharauli Pillar Inscription' (in Hindi),

* इस सूची में बहुप्रचलित एवं सर्वज्ञात संकेताक्षरों के अतिरिक्त निम्नलिखित संकेताक्षर प्रयुक्त है :— *MSU* ( = मागध साम्राज्य का उदय, सं. श्रीराम गोयल एवं शिवकुमार गुप्त, नई दिल्ली , 1981); *BMS* ( = भारत में मुगल साम्राज्य का प्रारम्भिक इतिहास, नई दिल्ली, 1987 ) ; *KCMP* (*King Chandra and the Meharauli Pillar*, eds. M.C. Joshi, S.K. Gupta and Shankar Goyal, Meerut, 1989); *PHCW* (= *Political History in a Changing World*, eds. G.C. Pande, S.K. Gupta and Shankar Goyal, Jodhpur , 1992).

Nagari Pracharini Partrika, LXIX, Pt. iii, V.E. 2021, pp. 261-277.

14. 'Krshna Bhakti ka eka Akhyat Sampradaya : Sahajayana', *Bl. arati*, (Bombay), July 1964, xxiii, pp. 50-53.
15. 'Samudragupta and the North-West', *Proceedings of the Oriental Conference*, Gauhati Session, 1964, pp. 153-168.
16. 'Brahmana Granthon men Rudra ka Svarupa', *Aaj*, May 3, pp. 13-14.
17. 'Subhasha Chandra Vasu ki Itihasa Drshti', *Aaj*, Jan. 26, 1964, pp. 18ff.
18. 'Rgveda men Rudropasana', *Aaj*, March 4, 1964, pp. 13-14.
19. 'The Problem of Baladityas in the Gupta Period', *Bhuyan Com.* Vol., Gauhati, 1965, pp. 100-114.
20. 'Observations on the SriVikrama Coin of Samudragupta', *JNSI*, 1965, XXVII, Pt. ii, pp. 142-145.
21. 'The Date of Kalidasa, An old Suggestion Modified', *Proceedings of the Oriental Conference*, XXII, I, 1965, p. 72 f. (abstract).
22. 'Rasalila ka Aitihasika Vikasa', *Parishad Patrika*, July 1965, pp. 57-60.
23. 'The Date of Vasubandhu and the Identity of His Patron', (in Hindi), *Shri S.N.M. Tripathi Abhinandana Grantha*, Varanasi, 1965, pp. 101-107.
24. Krshna Vallabha Sri Radha ka Avirbhava, *Bharati*, (Bombay), 1965, pp. 55-59.
25. 'The Attribution of Chandragupta-Kumaradevi Coin Type', *JNSI*, 1966, XXVIII, Pt. i, pp. 17-20.
27. 'Early Choronology of the Gupta Dynasty', *JBRS*, Vol. III, January 1966, pp. 55-67.
28. 'Gaya and Nalanda Plates of Samudragupta', *JBRS*, Vol. III, January 1966, pp. 68-72.
29. 'Were the Lichchhavis an Off-shoot of the Mongoloid Race ?' (in Hindi), *Navadhara*, 1968, Dr. Hajari Pd. Dwivedi Felicitation Volume, pp. 55-60.
30. 'Harshavardhana : Navina Mulyankana', *Itihasa Samiksha*, Vol. I, Pt. ii, 1971, Jaipur, (review article), Jaipur.
31. 'Guptakalina Arthavyavastha', *Itihasa Samiksha*, Vol. II, Pt. i, Jaipur, 1971, (review article), pp. 1-29.
32. 'Did the Vakatakas Invade Rajasthan in the Middle of the 5th Century?', *PRHC*, Ajmer Session, 1971, pp. 22-26.
33. 'Were the Maukharis an Off-shoot of the Malavas of the Punjab and Rajasthan?', *PRHC*, Ajmer, 1972, pp. 16-21.
34. 'Kanishka-ki-Tithi', *Itihasa Samiksha*, 1972, Vol. III, Pt. ii aipur, (review article), pp. 144-180.

35. '*Saktimata*', *PGCS*, RU, 1972, pp. 1-13.
36. 'The Malavas of Rajasthan in the Third-Fourth Centuries, A.D. , *PRHC*, 1973, Beawar, pp. 15-20.
37. 'Did Dhruvadevi belong to Rajasthan ?', *PRHC*, 1973, Beawar, pp. 132-133.
38. 'Education in the Vedic Age', *PGCS*, RU, 1973, pp. 1-16.
39. 'Education in the Post-Vedic Age', *PGCS*, RU, 1973, pp. 1-16.
40. 'Buddhist and Jain Education', *PGCS*, RU, 1973, pp. 1-13.
41. 'The Significance of the Phrase - Kaumara Dhamani Patanga-samairapati Occurring in the Gwalior Prasasti of Mihrabhoja', *PRHC*, 1974, Pali, pp. 28-30.
42. 'Relative Chronology of Nagabhata II's Campains', *PRHC*, 1974, Pali, pp. 31-36.
43. 'The Riddle of Kautilya and Chanakya', *Jijnasa*, Jaipur, (Mahavira Jayanti Number), July-Oct., 1974, i, No. 3-4, pp. 32-51.
44. 'The Dates of the Mahabharata and the Dasarajna Wars' (in Hindi)', *Purakalpa*,1974, Vol. IV, Pt. I, pp. 5-12.
45. 'The Origin of the Sakti Cult in the Post Vedic Pciod', (in Hindi), *Purakalpa*, 1974, Vol. IV, Pt. iii, pp. 38-49.
47. 'Gupta Vamsa ka Prarambhika Itihasa', *PGCS*, RU, 1974, pp. 1-13.
48. 'Gandhiji's View of History', *Jijnasa*, Jaipur, Jan. 1975, II, No. I, pp. 37-43.
49. 'The Original Home of the Later Guptas', *PRHC*, Ajmer, 1975, pp. 24-32.
50. 'Subhas Bose's Reflections on Indian History', *Quarterly Review of Historical Studies*, Calcutta, 1975, XV, No.2, pp. 115-121.
51. 'Rise of the Guptas', *PGCS*, RU, 1975, pp. 1-11.
52. 'Chandragupta II', *PGCS*, RU, 1975, pp. 1-8.
53. 'Ramagupta', *PGCS*, RU, 1975, pp 1-7.
54. 'The Legitimacy of Rama's Succession in the *Ramayana*', *Journal of the Ganga Natha Jha Kendriya Sanskrita Vidyapitha*, 1976, XXXII (1-4), pp. 323-342.
55. 'The Riddle of Ama-Nagavaloka', *PRHC*, Kota, IX, 1976, pp. 26-37.
56. 'Samudragupta', *PGCS*, RU, 1976, pp. 1-18.
57. 'Future of Research in Political History', *Indica*, Bombay, XIV, 1977, No. 2, pp. 85-98.
58. 'Kamalayudha : A New Name in the Ayudha Family', *PRHC*, Udaipur, X, 1977, pp. 47 ff.
59. 'Growth and Development of Press and Public Opinion in India (1818-1919)', *DCC*, Punjabi University, Patiala, 1978, pp. 1-11.
60. 'The Jaunpur Inscription of the Maukharis', *Journal of the*

*Epigraphical Society of India*, Mysore, V, 1978, pp 89 92
61 'Mauryon ki Jati eka Naya Drstikona', *Parishad Patrika*, April 1979, xix, pp 9–20
62 'Succession Problem in the Valmikiya Ramayana', *Readings in History*, ed by K.S Lal, Jodhpur, 1979, pp 49 79
63 'Search of a Cultural Policy for India An Exercise in Futility?' Published in the *Dimensions of a Cultural Policy*, ed by S K.Lal, New Delhi, 1979, pp 66 76
64 'Brahmi An Invention of the Early Maurya Peiod', Lead Paper in *The Origin of Brahmi Script*, eds by S P Gupta and K S Ramachandran New Delhi, 1979, pp 1 53
65 'Harsha and Rajasthan', *PRHC*, Jaipur, 1979, pp 14 19
66 'Prachina Bharatiya Rajanitika Itihasa men Anusandhana ka Bhavishya', Foreword to *Uttara Bharata ka Prachina Rajanitika Itihasa*, by S K. Purohit, 1980, pp ix xx
67 'Christian Bias in the Historiography of the Early Krishna Worship', published in the *Bias in Indian Historiography*, ed Devahuti, New Delhi, 1980, pp 120 39
68 'Origin of Brahmi Script', *Bias in Indian Historiography*, ed D Devahuti, New Delhi, 1980, pp 273 75
69 'Did Harsha ever Embrace Buddhism as his Personal Religion ?' *Journal of Bihar Research Society*, Dr K.P.Jayaswal Commemoration Volume, 1981, pp 373 393
70 'A Socio Religious Aspect of the Indus Civilization', *Cultural Contours of India, Dr Satya Prakash Felicitation Volume*, 1981, pp 35 38
71 'Sources of the History of the Janapada Age,' in Hindi, *MSU*, eds by S R Goyal and S K Gupta, 1981, pp 5-15
72 'Monarchical States of the Janapada Age Avant, Kosala and Vatsa', in Hindi, *MSU*, pp 24 41
73 'Rise of Magadha Bimbisara' (in Hindi) *MSU*, pp 86-98
74 'Ajatasatru', (in Hindi), *MSU*, ed by S R. Goyal and S K. Gupta, pp 99-111
75 'Republican States Vajji Republic' (in Hindi), *MSU*, ed by S R Goyal and S K. Gupta, 1981, pp 53–71
76 'Sasaka Pati Sasita Patni' *Jnanodaya*, Dec 1961
77 'Successors of Ajatasatru and the Dynasty of Sisunaga', (in Hindi), MSU, ed by Goyal and Gupta, 1981, pp 112–118
78 'Nanda Dynasty' (in Hindi), *MSU*, ed by Goyal and Gupta, 1981, pp 112–118.
79 'Magadhan Chronoloy', (In Hindi), *MSU*, ed by [illegible] 1981, pp 148–158

80. 'Successors of the Achaeminids', (in Hindi), *MSU*, ed. by S.R. Goyal and S.K. Gupta, 1981, pp. 186-198.
81. 'Invasion of Alexander', (in Hindi), *MSU*, ed. by Goyal and Gupta, 1981, pp. 199-211
82. 'Return March of Alexander', (in Hindi), *MSU*, ed. by Goyal and Gupta, 1981, pp. 212–227.
83. 'Writing of Political History of Ancient India : New Trends and Prospects', *Historical and Political Perspectives*, ed. Devahuti, 1982, pp. 93–100.
84. 'Prachina Kala men Bharata-Simhala Sambanda', Foreword to *Sri Lanka men Hindu Dharma*, by S.N. Kapoor, 1985, pp. ix–x.
85. 'Role of Princes in Indian Polity', Foreword to *Princes and Polity in Ancient India*, by M.C. Joshi, 1986, pp. vii–viii.
86. 'Rajasthan ke Itihasa ke Adhyayana men Abhilekhon ka Mahatva', 'Amukha' to *Rajasthan Ke Abhilekhon ka Samskritika Adhyayana*, 1986, by S.P. Vyas.
87. 'Solahavin Sati ke Prarambha men Bharata ki Avastha', *BMS*, 1987, ed. by Goyal and Gupta, pp. 24–34.
88. 'Babar ka Mulyankan', *BMS*, 1987, pp. 67–72.
89. 'Humayun ka Prathama Rajatva', *BMS*, 1987, pp. 73–102.
90. 'Sur–Sasana Antarala', *BMS*, 1987, pp. 103–120.
91. 'Humayun ka Dvitiya Rajatva,' *BMS*, 1987, pp. 121–129.
92. 'Akbar ka Samrajya Vistara', *BMS*, 1987, pp. 155–171.
93. 'Akbar ka Dharma aura Dharmika Niti', *BMS*, 1987, pp. 213–239.
94. 'Akbar ka Mulyankana', *BMS*, 1987, pp. 254–270.
95. 'Prarambhika Mughal Nyaya Vyavastha', *BMS*, 1987, pp. 322–326.
96. 'Status of Women in Smrtis', Foreword to *Economic Status of Women in Ancient India*, 1987, by Savita Vishnoi, pp. ix–xiv.
97. 'Jainacharya Haribhadra', Foreword to *India as Known to Haribhadra Suri*, by R.S. Shukla, 1989, pp. ix–xiii.
98. 'Origin and Social Significance of the Medieval Bhakti', Foreword to *Medieval Bhakti Movement* by Susmita Pande, 1989, pp. ix–xxxiii.
99. 'Problem of the Identification of King Chandra', Lead Paper for *King Chandra and the Maharauli Pillar*, 1989, ed. by M.C. Joshi, S.K. Gupta and Shankar Goyal, pp. 73–82.
100. 'Re-appraisal of the Problem of the Identification of King Chandra', in *King Chandra and the Meharauli Pillar*, 1989, ed. by M.C. Joshi, S.K. Gupta and Shankar Goyal, pp. 205–237.
101. 'State of Buddhism as Revealed in the Inscriptions of Western India', Foreword to *Buddhism in Western India* by Gindallian Mangvungh, 1990, pp. ix–xxiii.

102 'British Attitude towards Indian Princes', Foreword to *British Policy towards Princely States of India*, ed by R P Vyas, 1990, pp v–xvi

103 'Prachina Bharata men Yaksha Puja', Foreword to *Bharata Ko Yakshon ki Dena*, by Shri Arun, 1990, pp vii–lvii

104 'Need of a New Approach to the Writing of Political History of Ancient India', Lead Paper for *Political History in a Changing World*, ed by G C Pande, S K Gupta and Shankar Goyal, 1990, pp 3–17

105 'Re-appraisal of the Problem of a New Approach to the Writing of Political History of Ancient India', in *Political History in a Changing World*, ed by G C Pande, S K Gupta and Shankar Goyal, 1994

106 'Misra', *Hindi Visva Kosha*, Varansasi, Vol IX, pp 289–95

107 'Medea', *Hindi Visva Kosha*, Varanasi, Vol IX, pp 295 97

108 'Palmyra', *Hindi Visva Kosha*, Varanasi, Vol VII, p 209

109 'Political History A Reconsideration', *Jijnasa*, Jaipur, III, No 2

110 'Nehru's View of History', *Quarterly Review of Historical Studies*, Calcutta, pp 11-39

111 'The Date of the Harshacharita of Bana', *Quarterly Review of Historical Studies*, XVIII, No 4, pp 246–49

112. 'The Bihar Stone Pillar Inscriptions of the Imperial Guptas', *Journal of the Indian Epigraphical Society* Vol. Seven, 1980, pp 49-53

113 'Rajasthan The Original Home of the Later Guptas', *Bharati, Prof R.B Pandey Com Vol*, Varanasi, pp 20–28

114 'Sita ka Tyaga, Purvajon ki Drshti men', *Sarasvati*, Lucknow

115 'Sita ke Janma ki Vichitra Kathayen', *Tripathaga*, Lucknow, pp 17–22

116 'Kya Jalplavana Akhyana Mulatah Bharatiya Tha ?', *Sarasvati*, Lucknow

117 'Lipi ka Janma aura Vikasa', *Sarasvati*

118 'Gandhiji ki Itihasa Drshti', *Aaj*

119 Harshacharita of Bana', *Rythm in History*, Jaipur

120 'Nehru · His Enchantment and Disillusionment with Marxism', in *Spectrum of Nehru's Thought*, eds. Sobhag Mathur and Shankar Goyal, New Delhi, 1994, pp 51–64

121 'Was Buddhism a New Religion and Culture?', *Dr Sampurnand Commemoration Volume*, Varanasi, 1994, pp 522–29

122. 'Phanishwar Nath Renu An Appraisal' (in Hindi), *Madhyadhara*, Allahabad

123 'Ambedkar and Buddhism', *Proceedings of the* ... *on the Life, Misson,*

Ambedkar*, New Delhi, 1991, Section IV, pp. 12–30.

124. The Varying Meaning of the Term *Mahamatra* as an Index for Literary Chronology', *Shri K.M. Srivastava Felicitation Volume*, New Delhi.

शीघ्र प्रकाश्य :

125. 'Predecessors of the Guptas in North India', Chapter for *History of Ancient India*, ed. G.C. Pande.
126. 'The Early Gupta Kings', Chapter for *History of Ancient India*, ed. G.C. Pande.
127. 'Samudragupta', Chapter for *History of Ancient India*, ed. G.C. Pande.
128. 'Ramagupta to Kumaragupta', Chapter for *History of Ancient India*, ed. G.C. Pande.
129. 'Rise of the Gupta Empire', Chapter submitted for *Cambridge History of India*, Vol. II.
130. 'The Zenith of the Gupta Empire', Chapter submitted for *Cambridge History of India*, Vol. II.
131. 'Decline and Fall of the Gupta Empire', Chapter submitted for *Cambridge History of India*, Vol. II .
132. The Huna Invasion', Chapter submitted for *Cambridge History of India*, Vol. II.
133. Rise of the Gupta Empire', Chapter for *The Wonder that was Gupta India*, eds. S.R. Goyal and Shankar Goyal.
134. 'Zenith of the Gupta Empire', Chapter for *The Wonder that was Gupta India*, eds. S.R. Goyal and Shankar Goyal.
135. 'Decline and Disintegration of the Gupta Empire', Chapter for *The Wonder that was Gupta India*, eds. S.R. Goyal and Shankar Goyal.
136. 'Rise of the Pushyabhutis' Chapter for *A History of Ancient India (c. 300 to 750)*, eds. S.R. Goyal and Shankar Goyal.
137. 'Harshavardhana', Chapter for *A History of Ancient India (c. 300 to 750)*, eds. S.R. Goyal and Shankar Goyal.
138. 'The Numismatic Art of the Gupta Age', Ch. in *The Art of the Gupta-Vakataka Age*, eds. S.R. Goyal and Shankar Goyal and Shankar Goyal.
139. 'Classical Nature of the Gupta Art : An Appraisal', *The Art of the Gupta- Vakataka Age*, eds. S.R. Goyal and Shankar Goyal.
140. 'Social Philosophy of Buddhism', *Professor G.C. Pande Felicitation Volume.*
141. 'Role of Marginal Man in the Vedic Age', *Professor Lallanji Gopal Felicitation Volume.*
142. 'Reliability of the Harshacharita of Bana', *Dr. Shyam Kumar*

Felicitation Volume.

143. 'Nalanda Mahavihara in the Seventh Century', *Prof. Upendra Thakur Commemoration Volume.*
144. 'Royal Succession in the Ramayana of Valmiki', *Prof. B.B.Lal Felicitation Volume.*
145. 'Rise and Growth of Bhakti', *Prof. V.S. Pathak Felicitation Volume.*
146. 'Reliability of Yuan Chwang, as a Source of Indian History', *Prof. K.D. Bajpai Commemoration Volume,*
147. 'Mahapadmananda : A Sudra Emperor of India', *in Individuals and Ideas*, ed. J.P. Sharma.

(ई) किसी विद्वान् की शोधों का स्तर उसके ग्रन्थों की स्वदेशी एवं विदेशी स्तरीय शोध-पत्रिकाओं में होने वाली समीक्षाओं एवं शोध-ग्रन्थों तथा मानक ग्रन्थों में उसके ऊपर होने वाली चर्चा से ज्ञात होता है। वस्तुतः किसी विद्वान् की शोधों का सही मूल्यांकन करने का एकमात्र उपाय यही है कि यह देखा जाए कि उनको अन्य विद्वानों के ग्रन्थों और शोध-निबन्धों में तथा स्तरीय शोध-पत्रिकाओं में कितनी मान्यता मिली है। इस दृष्टि से प्रोफेसर गोयल का कृतित्व उच्चतम स्तर का है क्योंकि उनके ग्रन्थों की भारतीय शोध-पत्रिकाओं (यथा, *The Journal of the Epigraphical Society, Journal of the Numismatic Society, Indica, Bombay, The Indian Historical Review, Journal of Ancient Indian History, Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, Poona, आदि) में ही नहीं वरन् विदेशी शोध-पत्रिकाओं (यथा *East and West*, Italy, *Journal of the Royal Asiatic Society*, London, *The Journal of American Oriental Society, The American Historical Review* आदि) में प्रायः भूरि-भूरि प्रशंसा हुई है। दूसरे, भारत और अन्य देशों के विद्वानों (यथा ए. एल. बैशम, आस्ट्रेलिया ; एलिनोर ज़ेलिओट तथा जोआना विलियम्स, अमेरिका ; डेविड लोरिझेन, मेक्सिको ; जे. खोन्दा, हालैण्ड ; टी. आर. वैद्य, नेपाल ; पी. के. मिश्र, बांग्लादेश, आदि) ने व्यक्तिगत रूप से उनके ग्रन्थों की मुक्तभाव से सराहना की है। अनेक विद्वानों ने प्रोफेसर गोयल के वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मूल स्रोतों पर उनके अधिकार एवं किसी समस्या के विश्लेषण की उनकी विधि को अनुकरणीय बताया है। अभिलेख-शास्त्र पर लिखित उनके ग्रन्थ अब मानक ग्रन्थों के रूप में उद्धृत किए जाते हैं। *A Comprehensive History of India*, Vol. III, Pt.i (ed. R.C. Majumdar) तथा *A Comprehensive History of Bihar* (ed. B.P. Sinha) जैसे मानक ग्रन्थों तक में प्रोफेसर गोयल के विचारों को सैकड़ों स्थान पर उद्धृत और विवेचित किया गया है। यह प्रायः स्वीकृत किया जाता है कि प्रोफेसर गोयल की शोधों के बाद साम्राज्यिक गुप्त वंश के इतिहास का रूप ही बदल गया है।

(उ) अन्य इतिहासकारों के ऐसे शोध-निबन्ध, मानक ग्रन्थों में लिखित अध्याय और परिशिष्ट आदि जो प्रोफेसर गोयल के सुझावों पर प्रतिक्रिया प्रकट करने के लिए लिखे गये अथवा जिनमें प्रोफेसर गोयल के सुझावों पर विशेष रूप से चर्चा है :

1. Rana, S.S., 'Chandra of Meharauli Pillar Inscription, *Journal of Vishveshvarananda Research Institute*, VI, 1968, pp. 106 ff.
2. Sharma, T.R., Appendix I in *Geographical and Personal Names in the Gupta Inscriptions* on the Suggestion of Professor Goyal regarding the identification of king Chandra of the Meharauli Pillar with Samudragupta, pp. 309–13.
3. N.P. Joshi, 'Kya Meharauli Lekha Ka 'Chandra' Samudragupta Hai?', '*Journal of Ganganatha Kendriya Samskrit Vidyapitha*, XXXII, 1976, pp. 223–38.
4. Pande, D.B., 'Meharauli Abhilekha ka Chandra', *Nagari Pracharini Patrika*, III, pp. 61 ff.
5. Trautmann, T., 'Lichchhavidauhitra', *JRAS*, 1972, I, pp. 2–15.
6. Joshi, N.P., 'Was Rajasthan the Original Home of the Later Guptas', *Proceedings of the Rajasthan History Congress*, X, 1977, pp. 18–28.
7. Sinha, B.P., 'Were There Two Narasimha Gupta Baladityas ?' *Readings in History and Culture*, Ch. XVIII, Delhi, 1978, pp. 155–63.
8. Sinha, B.P., 'Vikramaditya of Vasubandhu', *ibid.*, Ch. XVII, pp. 126–54.
9. Rastogi, N.P., Appendix II, *Origin of Brahmi Script*, Varanasi, 1980, pp. 129–40.
10. Sethna, K.D., 'Postscript : S.R. Goyal on Kautilya', in *Ancient India in a New Light*, New Delhi, pp. 558–89.
11. Joshi, M.C. 'Appendix II on 'Dauhitra as Successor : Cases of Bhavanaga Dauhitra Rudrasena I Vakataka and Lichchhavi Dauhitra Samudragupta', in *Princes and Polity in Ancient India*, Meerut, 1986, pp. 170–75.
12. Joshi, N.P., 'On Early Gupta Chronology', *Vishveshwaranand Indological Journal*, XIV, Pt. ii, 1976, p. 12 ff.
13. Rai, U.N., 'A Fresh Investigation of the Imperial Gupta Capital', *K.P. Jayaswal Commemoration Volume*, Patna, 1981, pp. 361-72.
14. Narayanan, M.G.S., 'A Reappraisal of Samudra Gupta's Digvijaya', *Sri Dinesacandrika : Shir D.C. Sircar Festschrift*, Delhi, 1983, pp. 283–94.
15. Ahmad, Nisar, Text Restoration of Genealogical Gupta Seals', *JNSI*, XXXIII, Pt. II, pp. 41–61.
16. Thakur, V.K., 'The Place of Kacha in Gupta Chronology', *JNSI* XXXIX, Pts. i–ii, pp. 108–113.
17. Thaplayal, K.K., 'The Nalanda Seal of Vishnugupta : Some Problems', *JNSI*, XXXV, 1973, pp. 166–70.
18. Gopal, L., 'Megasthenes on Writing and Smriti Studies in Ancient Indian History, *D.C. Sircar Commemoration Volume*, Delhi, 1988, pp. 117–29.

19 Verma , T.P ' Samudragupta An Examination of Epigraphic and Numismatic Sources', *JNSI*, LIII, 1991, Pts 1–2, pp 114–138

20 Agrawal, Aashi, 'A Cultural Study of the Kshatrapa Inscriptions', *JIH*, LXIV, April–Dec. 1986 Pts 1–3, pp 53–67

प्रोफेसर गोयल के इस सुझाव पर कि समुद्रगुप्त तथा महरौली-प्रशस्ति का 'चन्द्र' अभिन्न थे, *King Chandra and the Meharauli Pillar* में प्रकाशित प्रतिक्रियात्मक लेख.

21 A M Shastri, (Nagpur), p 85

22 B Ch Chhabra (New Delhi), p 92

23 B P Sinha, (Patna), p 93

24 Jagannath Agrawala (Chandigarh), p 95

25 K.D Bajpai (Sagar), p 105

26 K.G Krishnan (Mysore), p 112

27 K K. Sharma (Meerut), p 115

28 K.K Thaplyal (Lucknow), p 117.

29 K.V Raman (Madras), p 122

30 Lallanji Gopal and Krishna Kanti Gopal (Varanasi), p 124

31 M C. Joshi (New Delhi), 135

32 R Nagaswamy (Madras), p 143

33 R S Mishra (Jaipur), p 143

34 S B Deo (Pune), p 149

35 Shankar Goyal (Meerut), p 150

36 Shri Arun (Meerut), p 157

37 S K. Gupta (Jaipur), p 159

38 S K. Purohit (Jodhpur), p 165

39 S N Kapoor (Lucknow), p 166

40 Susmita Pande (Bhopal), p 167

41 S Sankaranarayanan (Madras), p 171

42. T P Verma (Varanasi), p 180

43 Upendra Thakur (Bodh Gaya), p 187

44 V S Pathak and V B Rao (Gorakhpur), p 190

*KCMP* में प्रोफेसर गोयल के उपर्युक्त सुझाव पर निम्नलिखित विद्वानों की पूर्व-प्रकाशित टिप्पणियाँ भी उद्धृत हैं :

45 A.L. Basham, Canberra, Australia, pp 199

46 Joanna Gottfried Williams, Berkley, U.S A . p 200

47 R.C. Majumdar, Calcutta, p 201

प्रोफेसर गोयल के शोध-निबन्ध 'Need of a New Approach to the

Political History of Ancient India' पर *Political History in a Changing World* में प्रकाशित प्रतिक्रियात्मक लेख :

48. A.K. Narain, 'Political History of Ancient India : The Old and the New', pp. 21 ff.
49. A.K. Warder, 'The End of History in India ?', pp. 32 ff.
50. Alois Wurm, 'A Methodological Comment on S.R. Goyal's Suggestion', pp. 34 ff.
51. Ajay Mitra Shastri, 'Dimensions in Political History Writing', pp. 36 ff.
52. David N. Lorenzen, 'Professor Goyal's Suggestion on Political History Writing in the Light of Historians and Political History of the Gupta Empire', pp. 44 ff.
53. G.C. Pande, 'Changing Character of Political History', pp. 57 ff.
54. Vivekanand Jha, 'Rewriting Ancient Indian Political History : Possibilities and Pitfalls (Reprinted in *The Indian Historical a Review*, XIV, Nos. 1–2, July 1987 and Jan. 1988, pp. 90–110).
55. V.S. Pathak, 'Search for Identity', pp. 81 ff.
56. J.P. Sharma, 'Political History in the Historiography of Ancient India', pp. 89 ff.
57. Priti Kumar Mitra, 'Rewriting Political History of Ancient India : A Critique of S.R. Goyal's Thesis', pp. 100 ff.
58. Sibesh Bhattacharya, 'Political History of Ancient India and its Scoial Context', pp. 116 ff.
59. B.N. Mukherjee, 'A Plea for Writing of Political History of Ancient India', pp. 135–41.
60. S.P. Gupta, 'Rewriting Political History of Ancient India', pp. 142–50.
61. K.K. Thaplyal, 'Political History Writing : Some Observations on the Laments of S.R. Goyal', pp. 151–54.
62. Sheo Kumar Lal, 'Need of a Proper Appraisal of Approaches to Political History Writing', pp. 155–62.
63. T.R. Vaidya, 'Some Facts of Ancient Indian Historiography', pp. 163–65.
64. Jagannath Agrawal, 'The Writing of Political History of Ancient India', pp. 166–70.
65. B.P. Sinha, 'Some Observations on Professor S.R. Goyal's concept of 'New Political History', pp. 171–76.
66. Parameshwari Lal Gupta, 'Political History of Ancient India : As I See', pp. 177–92.
67. K.D. Bajpai, 'New Political History : Some Comments on S.R. Goyal's Suggestions', pp. 193–95.

68 A V Narasimha Murthy, 'Changing Situations in Writing of Political History', pp 196–201
69 Lallanji Gopal, 'Political History New Orientation', pp 202–209
70 K V Raman, 'Relevance of 'New Political History', pp 210–13
71 Upendra Thakur, 'New Political History Need of a New Approach to Sources', pp 214–18
72 L S Rathore, 'Politics, History and Philosophy', pp 219–27
73 Sarva Daman Singh 'Ancient Indian History Political and Social', pp 228–32
74 N N Bhattacharya, 'On Writing of Political Hisotry of Ancinet India', pp 233–37
75 V C Pandey, 'Ancient Indian Political History Some Observations', pp 238–43
76 Mohan Chandra Joshi, 'Psychological Awareness in the Study of History', pp 244–47
77 T P Verma, 'On Writing Political History of Ancient India', pp 248–51
78 K Paddayya, 'Comments on S R Goyal's Lead Paper 'Need of a New Approach to the Writing of Political History of Ancient India', pp 252–53
79 S K. Gupta, 'Texts on Architecture as a Source for New Political History', pp 254–56
80 Mahesh Vikram Singh, 'Writing New Political History of Early India', pp 257–65
81 A.C. Angrish 'Economic Factor in Political History of Ancient India', pp 266–70
82 K.K Sharma, 'Revamping the Writing of Political History', pp 271–74
83 Kamini Dinesh, 'Political History and the Creative Imagination', pp 275–79
84 B N Puri, 'An Integral Approach to Political History', pp 280–82
85 Sobhag Mathur, 'Determinism in History', pp 283–89
86 Shankar Goyal, 'Political History The Loss of Innocence', pp 290–99
87 S V Sohoni, 'Political History Writing and Interpretation of Source Materials', pp 300–304
88 Mahesh Chandra Joshi, 'Reflections on the Writing of Political History of Ancient India', pp 305–08
89 R Nagaswamy, 'Ancient Indian Political History Reconsideration', pp 309–12
90 Susmita Pande, 'Political History as an Interaction of

Factors', pp. 313–15.

91. Mubarak Ali, 'On the Use and Misuse of Political History', pp. 316–17.
92. Nirmala M. Upadhyaya, 'Political History as the History of Political Culture', pp. 318–21.
93. Anupa Pande, 'Ancient Indian Political History : Patterns and the Historiographic Context', pp. 322–28.
94. Jaswant Kumar Sharma, 'Political History as the Study of Factors and Foreces Operating in Society', pp. 329–33.
95. Anil Kumar Tewari, 'Political History, Geopolitics and Historical Geography', pp. 334–39.
96. Alka Goyal, 'In Defence of Biographical Approach to History', pp. 340–42.
97. Arun, 'Political History Writing : A Continuous Process', pp. 343–49.
98. G.M. Bongard–Levin, 'Political System of Republics in Ancient India', pp. 350–57.
99. Vijayashree Goyal, 'Spiritual Determinism in Political History', pp. 358–61.
100. D. Balasubramanian, 'Multi-disciplinary Approach in Writing Political History of Ancient India', pp. 362–69.
101. J. Gonda, 'An Observation on S.R. Goyal's Suggestion', p. 370.

प्रोफेसर गोयल के शोध लेख 'Brahmi : An Invention of the Early Maurya Period' पर *The Origin of Brahmi Script* (ed. S.P. Gupta and K.S. Ramachandran) में प्रतिक्रियात्मक लेख लिखने वाले विद्वान्) :

102. K.G. Krishnan, Mysore.
103. Lallanji Gopal, Varanasi.
104. R. Nagaswamy, Madras.
105. S. Sankaranarayanan, Triputi.
106. Ajay Mitra Shastri, Nagpur.
107. T.P. Verma, Varanasi.
108. S.P. Gupta, New Delhi.
109. M.C. Joshi, New Delhi.
110 K.S. Ramachandran, New Delhi.

प्रोफेसर गोयल के इतिहास-लेखन के विविध पक्षों की समीक्षा करने वाले लेख (उन लेखों को छोड़कर जो प्रस्तुत ग्रन्थ में छपे हैं अथवा उनपर तैयार हो रहे अभिनन्दन ग्रन्थ 'श्रीरामाभिनन्दनम्' में शीघ्र प्रकाश्य हैं :

111. Ajay Mitra Shastri, 'S.R. Goyal's Contribution to Historical Studies', in *SRG : MDH*, pp. 1–22.

112 Shankar Goyal, 'S R Goyal's Approach to History', in *SRG MDH*, pp 23-34
113 Mahesh Vikram Singh, 'S R Goyal's Writings on Pre Gupta History', in *SRG MDH*, pp 35–44
114 R Nagaswamy, 'S R Goyal's Theory on the Origin of Brahmi Script in the Early Maurya Period', in *SRG MDH*, pp 45–55
115 K.D Sethna, 'S R Goyal on Kautilya and His Arthasastra', in *SRG MDH*, pp 56–74
116 Nirmala M Upadhyaya, 'S R Goyal on the Indica of Megasthenes', in *SRG MDH*, pp 75–82
117 Priti Kumar Mitra, 'S R Goyal and Modern Historiography of the Gupta Age', in *SRG MDH*, pp 83–106
118 T P Verma, 'Goyal's Contribution to Gupta History', in *SRG MDH*, pp 107–122
119 Shankar Goyal, 'S R Goyal and the Historiography of the Post-Gupta period (c 550–c 750 A D )', in *SRG MDH*, pp 123–145
120 N N Bhattacharya, 'Goyal's Contribution to the Study of Religious History of India', in *SRG MDH*, pp 146–152
121 N H Samtani, 'S R Goyal's Contribution to Buddhist Studies in *SRG MDH*, pp 153 60
122 G N Sharma , 'S R Goyal and Rajasthan Studies', in *SRG MDH*, pp 161–64
123 B L Upamanyu, 'Dr S R Goyal's, Contribution to the Study of Ancient World Civilizations', in *SRG MDH* pp 165–69
124 K.D Bajpai, 'Contribution of Goyal to Palaeography, Epigraphy and Numismatics', in *SRG MDH*, pp 170–78
125 Dayanand Bhargava, 'S R Goyal's Studies in Literary History and Chronology', in *SRG MDH*, pp 179–85
126 Alka Goyal, 'S R Goyal's Contribution to the study of Dynastic Chronology, Political Ideas and Administration' in *SRG MDH*, pp 186-93
127 D R Bhandari, 'S R Goyal's Contribution to the Study of Indian Social Philosophy', in *SRG MDH*, pp 194–207
128 Sobhag Mathur, 'S R Goyal's Studies in Medieval and Modern Indian History', in *SRG MDH* , pp 208
129 Ajay Mitra Shastri, 'S R Goyal's Contributn to Gupta Historigogrpahy', in *RGH*, pp 1–14
130 Priti Kumar Mitra, 'S R Goyal and Modern Historiography of the Gupta Age', in *RGH*, pp 15–37
131 Alka Goyal, 'S R Goyal on the Chronology of the Gupta Dynastry', in *RGH*, pp 38–46

132. David N. Lorenzen, 'Historians and the Gupta Empire', in *RGH*,pp. 47–60.

133. Shankar Goyal, 'A Critique of Professor D.N. Jha's Evaluation of the Classicism of the Gupta Age', in *RGH*, pp. 61–76.

(ऊ) प्रोफेसर गोयल के सम्मान में दो भाग में प्रकाशित प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ के अतिरिक्त निम्नलिखित अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं :

1. *Reappraising Gupta History for S.R. Goyal (Essays on Gupta Hisotry Published in Honour of Professor S.R. Goyal)*, ed. by Professor B.Ch. Chhabra, Dr. P.K. Agrawal, Dr. Ashvini Agrawal and Shankar Goyal, New Delhi, 1992.
2. S.R. Goyal : His Multidimensional Historiography, ed. by Professor Jagannath Agarwal and Dr. Shankar Goyal, New Delhi, 1992

तथा निम्नलिखित अभिनन्दन-ग्रन्थ शीघ्र प्रकाश्य है :

3. *Sriramabhinandanam (Professor S.R. Goyal Festschrift)*, eds. Professors A.M. Shastri, B.N. Mukherjee and Dr. Shankar Goyal.

2

# प्रोफेसर एस. आर. गोयल की इतिहास-दृष्टि

शंकर गोयल

प्रोफेसर एस. आर. गोयल उन भारतीय इतिहासकारो में अग्रणी है जिनके इतिहास-लेखन मे उनकी तर्कसगत एव विशिष्ट इतिहास-दृष्टि स्पष्ट झलकती है और जिन्होने उस इतिहास-दृष्टि मे अपने समकालीन इतिहासकारो को साझीदार बनाया है। वस्तुत. आज के भारतीय इतिहास जगत् मे गोयल का जो स्थान है वह मुख्य रूप से इतिहास और विशेषकर राजनीतिक इतिहास के प्रति उनकी इस दृष्टि के कारण है जिसे वे पिछले दो दशको से भी अधिक समय से प्रचारित कर रहे हैं। उनके इतिहास-लेखन के माध्यम से उनकी दृष्टि की व्याख्या करने वाला कोई भी व्यक्ति उनके साहस और विश्वास की प्रशसा किये बिना नहीं रह सकता। साहस इसलिये कि उन्होने एक ऐसी दृष्टि का प्रचार करने का प्रयास किया है जो न केवल देश के सुस्थापित इतिहासकारो बल्कि पिछले कुछ दशको से एक प्रभावशाली वर्ग के रूप में उभरने वाले मार्क्सवादी इतिहासकारो के दृष्टिकोण से भिन्न है और विश्वास इस कारण कि यह उनकी अकादमिक ~त्रा मे धीरे-धीरे विकसित हुई और सशक्त तार्किक्ता तथा विविध रुचियो से युक्त एक इतिहासकार के रूप मे उनके व्यक्तिगत अनुभवो पर आधारित है। भारतीय इतिहास की कई समस्याओं पर उनके अपने निष्कर्ष सामान्य रूप से स्वीकृत मान्यताओ से बिल्कुल भिन्न है।[1] उन्होने इतिहस जगत् के सम्मुख अपने सुझावो को विनम्रता परन्तु प्रबल तर्कशक्ति के साथ इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि उनसे असहमत होने वाले इतिहासकारो को भी यह प्राय: स्वीकार करना पड़ता है कि उनके सुझावो के सदर्भ में सम्बधित समस्याओं पर नए रूप से गम्भीर विचार होना चाहिए।

## 1

सर्वप्रथम राजनीतिक इतिहास के प्रति गोयल की दृष्टि पर विचार किया जाय जिसके लिये वह भारतीय-विद्या जगत् में सुविख्यात हुए हैं। गोयल प्रमुख रूप से प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास से सम्बद्ध रहे हैं। उन्होने इसके अध्ययन की वर्तमान स्थिति पर अपना गहन असन्तोष बार-बार व्यक्त किया है। इस प्रश्न पर उनके विचारों की अभिव्यक्ति उनके प्रसिद्ध शोध-ग्रन्थ 'ए हिस्टरी ऑफ द इम्पीरियल गुप्तज' (इलाहबाद, 1967, अध्याय एक), 'जिज्ञासा' (खण्ड 2, अक 2, जयपुर 1975, पृ. 9-26), 'इण्डिका' (खण्ड 14, अंक 2, बम्बई, 1977, पृ.85-98), डी. देवहूति के द्वारा सम्पादित 'हिस्टॉरिकल एण्ड पॉलिटिकल पर्सपेक्टिव्ज' (नई दिल्ली, 1982, पृ. 93-101) में प्रकाशित उनके शोध-पत्रों, एस. के. पुरोहित द्वारा लिखित 'उत्तर भारत का प्राचीन राजनीतिक इतिहास' (जयपुर, 1980, पृ. ix-xx) की भूमिका, उनके अपने ग्रन्थ 'मागध - सातवाहन-कुषाण साम्राज्यों का युग' (मेरठ, 1988) के अध्याय एक तथा 'पॉलिटिकल हिस्टरी इन ए चेंजिंग वर्ल्ड' (सम्पादक, जी. सी. पाडे, एस. के. गुप्त एव शकर गोयल, जोधपुर, 1991, पृ. 1-17) में प्रकाशित अग्रणी शोध—पत्र 'नीड ऑफ ए न्यु

पॉलिटिकल हिस्टरी ऑफ एन्शियेंट इंडिया' में हुई है। प्रोफेसर गोयल के एतद्विषयक विचार प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास पर लिखित उनके अन्य ग्रन्थों में भी प्रतिबिम्बित हैं।

प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के सम्बंध में अपने लेखन में प्रो. गोयल ने हमारा ध्यान इस ओर दिलाया है कि पिछले सौ वर्षों से भी अधिक समय से इतिहासकारों ने मुख्यत: राजाओं की वंशावली, उनके कालक्रम तथा सैनिक-अभियानों पर उन राजाओं द्वारा जारीकृत मुद्राओं व अभिलेखों तथा साहित्यिक ग्रन्थों के आधार पर विचार किया है। गोयल यह अनुभव करते हैं कि इस प्रकार का राजनीतिक इतिहास सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक इतिहास के सम्मुख अपना महत्व खोता जा रहा है। उन्होंने इस आवश्यकता पर बल दिया है कि प्रसिद्ध व अग्रणी इतिहासकारों के इस पुरातन ढाँचे से, जो अब संकीर्ण हो गया लगता है, हमें अब आगे बढ़ना चाहिए। उन इतिहासकारों के पास मूल स्रोतों की कमी थी और उनके समय में इतिहास-लेखन की पद्धतियाँ व व्याख्या की तकनीक भी विकसित नहीं थी। गोयल यह अनुभव करते हैं कि प्राचीन भारत के आधुनिक इतिहासकारों ने शोध के विषयों तथा शोध-पद्धतियों के सम्बन्ध में अपने आपको आधुनिक भारत या यूरोप व मध्यपूर्व के वर्तमान इतिहासकारों के समान अद्यतन नहीं रखा। दो पूर्वापर राजाओं पर लिखे गये ऐसे ग्रन्थों को वे बोझल तथा निरर्थक मानते हैं जिनमें एक ही जैसा राजनीतिक व प्रशासनिक संगठन वर्णित होता है। साहित्यिक एवं अभिलेखिक स्रोतों से प्राप्त सामग्री का मात्र भावानुवाद प्रस्तुत करने को गोयल 'नकली इतिहास' मानते हैं। राजनीतक इतिहास के लेखन को जीवन के अन्य पक्षों के इतिहास से असम्बद्ध रखना अब पुराना दृष्टिकोण हो गया है। उदाहरणार्थ, पाँचवीं शती ईसवी के बाद गुप्त साम्राज्य के पतन से सम्बन्धित कोई भी लेखन तब तक अपूर्ण है जब तक उसमें सामन्तवाद अथवा सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक जीवन से सम्बंधित प्रवृत्तियों पर उपयुक्त बल नहीं दिया जाता। सामन्तवाद को प्रारम्भिक मध्यकालीन राजस्थान के शासनतन्त्र के मूल तत्व के रूप में प्रस्तुत न करना एक ऐसी कमी है जिसे अब दूर किया जाना चाहिए। वह चाहते हैं कि राजनीतिक इतिहास को यथाशीघ्र अपनी पुरानी प्रतिष्ठा प्राप्त हो। पाश्चात्य जगत् की इस क्षेत्र में प्रगति के प्रति वह सचेत हैं और भारतीय इतिहासकारों से अधिक पीछे न रहने का आग्रह करते हैं। इसके लिये वह राजनीतिक इतिहास की विषय-सामग्री तथा प्रकृति में वास्तविक परिवर्तन का सुझाव देते हैं। वह प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के लेखन में नवीन शैली का आह्वान करते हैं जिसमें न केवल राजनीतिक घटनाओं बल्कि राजनीतिक ढांचे, संस्थाओं, वातावरण एवं सत्ता का भी अध्ययन हो। उनके मतानुसार अब राजनीतिक इतिहास का अर्थ सम्पूर्ण पारिस्थितिक परिप्रेक्ष्य में राजनीतिक गतिविधियों का अध्ययन होना चाहिए। वे घटक एवं शक्तियां, जो समाज में जीवन को प्रबल रूप से प्रभावित करती हैं और घटनाओं को नियन्त्रित करती हैं, ध्यान में रखी जानी चाहिएं। इतिहास के गम्भीर एवं सार्थक लेखन में 'क्या' और 'कब' से 'क्यों' और 'कैसे' को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिए। इतिहास-लेखन की वर्तमान दूषित पद्धति में सुधार के लिये उनका यह परामर्श है कि इतिहास के विभिन्न पक्षों — राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक — का अध्ययन एक समेकित यथार्थ के पहलुओं के रूप में किया जाना चाहिये न कि, एक दूसरे से असम्पृक्त और असंबद्ध पक्षों के रूप में हमारे अध्ययन का केन्द्र बिन्दु व्यक्तियों के स्थान पर संस्थाएं, राजनीतिक ढांचे, सत्ता तथा राजनीतिक वातावरण होना चाहिए और राजनीतिक इतिहास के परिप्रेक्ष्यों को समृद्ध करने और अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने के लिये अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, नृवंशविज्ञान, जनसांख्यिकी आदि अन्य शास्त्रों का उपयोग किया जाना चाहिए।[2]

## 2

आधुनिक भारत में इतिहास-लेखन आज मार्क्सवादी या 'प्रगतिशील' इतिहास-लेखन के दौर से गुज़र रहा है। भारत के मार्क्सवादी इतिहासकार एस. ए. डांगे तथा डी. डी. कोसाम्बी की धारणाओं का अनुकरण व विस्तार कर रहे हैं। कोसाम्बी की कृतियों में इतिहास को 'उत्पादन के साधनों व सम्बंधों में पूर्वापर परिवर्तनों को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करने के रूप में परिभाषित किया गया है और संस्कृति को 'समग्रजन के जीवन के आवश्यक तरीकों ' के रूप मे। कोसाम्बी ने इस पर बल दिया है कि संस्कृति मात्र आध्यात्मिक या बौद्धिक मूल्यों का विषय नहीं है। वह 'गीता' मे भारतीय मानस की प्रकृति की अभिव्यक्ति खोजते हैं और उसकी सफलता का श्रेय भक्ति को देते हैं जो 'सामन्तवादी विचारधारा के पूर्णतः अनुकूल है'। इतिहास के प्रति समेकित दृष्टिकोण के पक्षधर होने के कारण गोयल स्वाभाविक रूप से इन प्रतिपादनों के विरुद्ध हैं। उनका विचार है कि, "जाने या अनजाने मे अधिकांश इतिहासकार मार्क्सवाद के प्रभावान्तर्गत आ गये हैं। मार्क्स ने राजनीति को समाज की एक अधिरचना के रूप मे देखा और राजनीतिक इतिहास को उत्पादन सम्बंधो के इतिहास का उपोत्पादन माना। यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मार्क्स के शनै: शनै: 'गायब होते राज्य' के सिद्धान्त की ओर उन्मुख संकल्पना राजनीतिक इतिहास सहित राज्य एवं राजनीति से सम्बधित लेखन की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि नहीं कर सकती।"

गोयल विशेष रूप से भारतीय सामन्तवाद की मार्क्सवादी धारणा के विरुद्ध हैं। उनकी मान्यता है कि प्रारम्भिक मध्यकालीन भारत मे एक विशेष प्रकार का सामन्तवाद अवस्थित था परन्तु न तो वह सामन्तवाद यूरोप के सामन्तवाद से पूर्ण सादृश्य रखता था और न ही भारत में यूरोपीय अर्थ में कोई सामन्तवादी युग आया। भारत की अपनी सामन्तवादी प्रणाली थी और राज्य तथा समाज पर, विशेष रूप से प्रारम्भिक मध्यकालीन राज्य तथा समाज पर, प्रभाव का अध्ययन होना भी चाहिये। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भारतीय सामन्तवाद यूरोपीय सामन्तवाद से उसी प्रकार से भिन्न था जिस प्रकार भारतीय जाति प्रथा किसी भी देश के पदानुक्रम सामाजिक सगठन से भिन्न है। फिर भी गोयल मार्क्सवादियों एवं उनका अनुसरण करने वाले नृवंशशास्त्रियों व समाजशास्त्रियो द्वारा दिये गये 'मॉडलों ' के उपयोग के विरुद्ध नहीं हैं। परन्तु वह यह सुनिश्चित करना चाहते हैं कि वह मॉडल हमारे स्रोतों से प्राप्त तथ्यों के अनुरूप है या नहीं। हमें यह प्रयास नहीं करना चाहिए कि मॉडल के अनुरूप तथ्यों को खोजें। गोयल मार्क्सवादी इतिहासकारों के इस प्रकार के प्रयास से सहमत नहीं हैं जिसमे पहले वे यह मान लेते हैं कि भारतीय सामन्तवाद की प्रकृति न्यूनाधिक रूप से यूरोपीय थी और फिर भारतीय सामन्तवाद के सामान्य ढाँचे में अपने सभी साक्ष्यों और तथ्यों को, यहाँ तक कि 'गीता', को भी सामन्तवादी दस्तावेज के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[3]

## 3

गोयल मूल स्रोतों के उपयोग तथा व्याख्या की नई तकनीकों के प्रयोग पर बल देते हैं। वह यह विश्वास करते हैं कि अब पुरातत्व विज्ञान, मुद्राशास्त्र, एवं पुरालेखशास्त्र स्वतंत्र विषयों के रूप में उभर चुके हैं और एक इतिहासकार के लिये उक्त विषयों में और उक्त विषयों के विद्वानों को इतिहास में आधिकारिक स्थिति प्राप्त करना कठिन हो गया है (यद्यपि अपवाद रूप में एक
वर विद्वान् भी हो सकता है) इस कारण उनका सुझाव है कि जहाँ एक

अपने विषय से सम्बद्ध रहना चाहिए और पुरातत्त्वशास्त्रियों, मुद्राशास्त्रियों, व पुरालेखशास्त्रियों की विशेषज्ञ मान्यताओं का अनुसरण करना चाहिये वहाँ एक प्रथम श्रेणी का इतिहासकार उन सभी मूल स्रोतों का व्यक्तिगत रूप से अवलोकन कर सकता है जिनका ज्ञान उसके शोध-कार्य के लिये आवश्यक होता है। उनकी इस मान्यता के संदर्भ में यह समझना सुगम हो जाता है कि स्वयं गोयल ने प्राचीन भारतीय साहित्य, मुद्राओं और अभिलेखों पर इतना क्योंकर लिखा है। यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने प्राचीन भारतीय राजनीतिक इतिहास पर तीन ग्रन्थ-'मागध-सातवाहन-कुषाण-साम्राज्यों का युग', 'गुप्त और वाकाटक साम्राज्यों का युग' एवं 'मौखरि-पुष्यभूति-चालुक्य युग' लिखे और प्रत्येक ग्रन्थ से सम्बंधित युग के अभिलेखों पर एक—एक ग्रन्थ लिखा—'प्राचीन भारतीय अभिलेख संग्रह (प्राक्गुप्तयुगीन)', 'गुप्तकालीन अभिलेख', और 'मौखरि-पुषयभूति-चालुक्ययुगीन अभिलेख'।

इसी भाँति स्वयं एक प्रशिक्षित मुद्राशास्त्री नहीं होते हुए भी गोयल ने विशुद्ध रूप से मुद्राशास्त्र की समस्याओं पर समय समय पर शोष-पत्र ही नहीं लिखे बल्कि हाल ही में उन्होंने प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र पर 'इण्डिजेनस क्वायन्स् ऑव इण्डिया', 'डायनेस्टिक क्वायन्स ऑव एन्श्येण्ट इण्डिया' तथा 'एन इण्ट्रोडक्शन टु गुप्त न्युमिसमेटिक्स' नामक उल्लेखनीय ग्रन्थों की रचना भी की है। इस ग्रन्थ में प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र की मूलभूत समस्याओं का मौलिक सांगोपांग एवं विस्तृत विवेचन है।

प्राचीन भारत के इतिहास की पुनर्रचना के लिये साहित्यिक स्रोतों का उपयोग प्राचीन ग्रन्थों के सही तिथ्यंकन पर निर्भर करता है। इस कारण गोयल प्राचीन साहित्य के तिथिक्रमिक अध्ययन पर सर्वाधिक बल देते हैं। उनका तर्क है कि 'महाभारत' जैसे ग्रन्थों का उपयुक्त स्तरीकरण और उनकी तिथियों का सापेक्ष पुनर्परीक्षण हमारे विगत का एकदम अलग रूप प्रस्तुत कर सकता है। वे प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के कालक्रम-निर्धारण के लिये नई पद्धतियों का भी सुझाव देते हैं। हाल ही के अपने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शोध-पत्र में उन्होंने यह दर्शाया है कि किस प्रकार 'महामात्र' शब्द के अर्थ में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को काल संकेत-सूचक माना जा सकता है और तदनुसार इस शब्द का प्रयोग करने वाले ग्रन्थों की मोटे रूप से तिथि निर्धारित की जा सकती है। यही नहीं, साहित्यिक ग्रन्थों की प्रकृति एवं उनकी विश्वसनीयता का परीक्षण किये बिना ही उन ग्रन्थों से प्राप्त होने वाली सामग्री का अन्धाधुन्ध प्रयोग करने का गोयल ने विरोध किया है। उदाहरणार्थ, उनका तर्क है कि कौटिल्यकृत 'अर्थशास्त्र' एक नियामक ग्रन्थ है और इसका प्रणयन मौर्यकाल में हुआ मान भी लें, (हालांकि यह एक विवादास्पद बिन्दु है) तब भी यह नहीं माना जा सकता और न ही माना जाना चाहिए कि इस ग्रन्थ में जो सुझाव दिये गये हैं वे उस युग में वास्तव में व्यवहार में लाये गये थे।

गोयल ने हमारे स्रोतों के विशेष अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया है और उन स्रोतों से नई सूचनायें प्राप्त करने के लिये नई तकनीकों की व्याख्या भी की है। उनका तर्क है कि इतिहास और विशेष रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास कई विषयों के विशेषज्ञों के परिश्रम का अन्तिम परिणाम है। इस कारण एक इतिहासकार को सक्षम पुरातत्वशास्त्री, मुद्राशास्त्री या पुरालेखशास्त्री से प्राप्त ज्ञान का उपयोग करना चाहिये बजाय इसके कि वह स्वयं उनके क्षेत्रों में प्रवेश कर विषय-सामग्री का गलत ढंग से प्रयोग कर अपने ग्रन्थ के स्तर को ही हानि पहुँचाये। नई अध्ययन पद्धति के सम्बंध में वे चरितग्रन्थों के अध्ययन के लिये वी. एस. पाठक द्वारा सुझायी गई तकनीक को उपयोगी मानते हैं।[4] वाल्मीकिकृत 'रामायण' तथा विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम' जैसे ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन में उन्होंने उस तकनीक को सफलतापूर्वक प्रयुक्त भी किया है। उनका विश्वास है कि प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के और अधिक सार्थक लेखन के लिये पी. ई. श्राम का प्रतीकात्मक सामग्री के अध्ययन का सिद्धान्त अत्यन्त उपयोगी है। नये

राजनीतिक इतिहास के लेखन के लिये वे चाहते हैं कि हमें इस धारणा का परित्याग कर देना चाहिये कि, 'केवल लिखित सामग्री के अभाव मे ही अलिखित सामग्री की ओर उन्मुख होना चाहिए।' अनुष्ठानो, प्रतीकों और अभिप्रायो का उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन से प्राचीन काल की राजनीतिक संस्थाओ और विचारधाराओं पर और अधिक प्रकाश पड़ेगा। किसी समाज के सत्ताधारी विशिष्ट वर्ग की रचना के अध्ययन के लिये वह 'प्रोसोपोग्रेफी' की अनुशंसा करते हैं। उनका सुझाव है कि शिक्षा का सत्ता से सम्बन्ध, सामाजिक और धार्मिक वर्गों का राज्य के ढाचे से सम्बन्ध, भौगोलिक पृष्ठभूमि, भू-सम्पदा व आर्थिक स्रोतों का विस्तृत राजनीतिक प्रगति से सम्बन्ध का गहन अध्ययन राजनीतिक इतिहास को समृद्ध बना सकता है। उक्त उदाहरण केवल नमूने के तौर पर दिये गये हैं। ऐसी तकनीकों की सम्भावनाये बहुत विस्तृत हैं। राजनीतिक इतिहास मे शोध के और अधिक क्षेत्रो और विषयों की खोज विद्वान् अपनी दक्षता व विद्वता, दृष्टि, मूल स्रोतो पर पकड़, सयमित कल्पना की गहराई एव व्यापकता के आधार पर व्यक्तिगत रूप से कर सकते हैं। अपने ग्रन्थो व अन्य इतिहासकारो के ग्रन्थो से लिये गये उदाहरणों की सहायता से प्रो गोयल ने यह दर्शाया है कि किस प्रकार से उपयुक्त एव सही अध्ययन द्वारा वर्तमान स्रोतो से अधिक तथ्य प्राप्त किए सकते हैं और राजनीतिक इतिहास को एक नया अर्थ दिया जा सकता है। गोयल की मान्यता है कि "अगर हम प्राचीन भारत के राजनीतक इतिहास की वर्तमान परम्परागत शोध प्रणाली का ही अवलम्बन करते रहे तो अब और प्रगति नहीं की जा सकती क्योंकि प्राचीन भारतीय इतिहास की राजनीतिक घटनाओ के लेखन सम्बधी अधिकाश सामग्री अब हमारे पास है। ऐसा नही है कि वर्तमान शोध प्रणाली मे परिवर्तन लाने के प्रयास नही किये गये हैं या नहीं किये जा रहे हैं। परन्तु ये प्रयास इतने निर्बल और सीमित हैं कि उनके परिणाम पुरातन प्रणाली को आगे बढ़ाने के लिये अपर्याप्त हैं। हर इतिहासकार इस स्थिति को स्वीकार करता है परन्तु इस स्थिति मे परिवर्तन लाने के लिये अग्रसर होने के इच्छुक बहुत कम हैं। विद्या के क्षेत्र में पुरातन व नूतन का सघर्ष कोई नई बात नहीं है, बल्कि यह एक पुराना स्वीकृत तथ्य है। परन्तु एक समय ऐसा आता है जब यह स्थिति इतनी विकट हो जाती है कि, निर्णय को स्थगित नही किया जा सकता।" गोयल सोचते है कि ऐसा निर्णायक समय आ गया है।[5]

## 4

यद्यपि गोयल ने राजाओं के कार्यों एव तिथियो के दस्तावेज के रूप में परम्परागत राजनीतिक इतिहास की आलोचना की है परन्तु वह इतिहास मे व्यक्तियो की भूमिका की पूर्ण अवहेलना नहीं करते। उनका यह विश्वास है कि इस पुरानी कहावत मे कुछ सत्य है कि 'राजाकालस्यकारणम्' अर्थात् राजा युग-चेतना का निर्धारक होता है। परन्तु वह इस पर बल देते हैं कि अपने समय के इतिहास-क्रम का निर्धारण करने वाले अनेक तत्वों में राजा एक तत्व है न कि एकमात्र तत्व। गोयल ने चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त और हर्ष पर अलग-अलग चार ग्रन्थ लिखे हैं और उन सभी ग्रन्थों में उन्होंने यह दर्शाया है कि यद्यपि ये सभी शासक अपने युग की देन थे परन्तु कुछ सीमा तक उन के व्यक्तित्व, सोच एवं प्रयासों का उनके अपने-अपने युगों पर कुछ प्रभाव भी पड़ा।

गोयल ने राजाओं की उपलब्धियो के मूल्याकन का एक विशिष्ट मानदण्ड विकसित किया है। उन्होंने इस मानदण्ड का प्रयोग सभी प्रमुख शासकों के अध्ययन मे किया है। उनके मतानुसार एक शासक का मुख्य कार्य शासन करना है अत उसका मूल्याकन मुख्य रूप से एक शासक के रूप में होना चाहिए न कि महात्मा, संत, सगीतकार, साहित्यकार आदि के रूप में (अगर वह इन रूपों में कोई भूमिका

निभाता है तो)। जिस प्रकार किसी आधुनिक राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री का मूल्यांकन एक व्यापारी, पाइलेट या अभिनेता (अगर वह व्यक्तिगत रूप से ऐसा है) के रूप में नहीं किया जाता बल्कि उसकी नीतियों व नीतियों के कार्यान्वयन के आधार पर किया जाता है, उसी प्रकार एक राजा का मूल्यांकन एक शासक के रूप में ही किया जाना चाहिए, अन्य रूपों में नहीं। प्राचीन एवं मध्यकाल के राजाओं पर चार बिन्दुओं से विचार किया जा सकता है। एक विजेता के रूप में, एक प्रशासक के रूप में, लोककल्याण के लिये उसकी गतिविधियों के संदर्भ में और एक व्यक्ति के रूप में। 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य लिखते हैं कि एक राजा का प्रमुख कार्य एकछत्र सत्ता--एकैश्वर्यम्--स्थापित करना है। इस कारण सर्वप्रथम किसी राजा का मूल्यांकन हमें उस राजा को उसके पूर्वगामी से उत्तराधिकार में प्राप्त राज्य के विस्तार की तुलना उसके द्वारा उसके उत्तराधिकारी के लिये छोड़े गये राज्य के विस्तार से करके करना चाहिये। दोनों में जो अन्तर होगा उससे एक विजेता के रूप में उसकी उपलब्धि का ज्ञान होगा। हाँ, इस संदर्भ में हमें उसके शासनकाल की दीर्घता, उसके पास उपलब्ध साधनों, उसकी कठिनाइयों एवं अन्य सम्बन्धित तत्त्वों का भी ध्यान रखना होगा। दूसरे हमें इसका परीक्षण करना चाहिये कि उसने अपने राज्य की सुरक्षा एवं स्थायित्व के लिये क्या किया अर्थात् राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिये वह एक सक्षम प्रशासनिक ढाँचे की स्थापना या पहले से चले आए ढाँचे को सशक्त करने में सफल हुआ या नहीं। तृतीयत:, हमें यह देखना चाहिये कि उस राजा ने अपनी प्रजा के कल्याण के लिये क्या किया। कौटिल्य भी कहता है कि प्रजा के कल्याण व सुख में ही राजा का कल्याण तथा सुख निहित है। इन तीन आधारों पर राजा का मूल्यांकन करने के बाद हम उसका एक व्यक्ति के रूप में --उसके गुणों, चरित्र एवं व्यक्तिगत उपलब्धियों का -- मूल्यांकन कर सकते हैं और देख सकते हैं कि वह एक धर्मज्ञ, संगीतज्ञ अथवा साहित्यकार आदि था या नहीं। परन्तु उस राजा के व्यक्तिगत गुणों से प्रभावित होकर हमें पहले तीन मानदण्डों के अधिक महत्व को नहीं भूलना चाहिये। उदाहरणार्थ, अकबर स्वयं अशिक्षित था फिर भी उसने उन परिस्थितियों को उत्पन्न किया जिसमें साहित्य व कलाओं की प्रगति हुई तथा मुगलकाल भारत का दूसरा स्वर्णकाल बना जबकि परमार राजा भोज स्वयं एक महान् साहित्यकार था परन्तु एक शासक के रूप में वह बुरी तरह से असफल हुआ क्योंकि उसकी नीतियों के परिणामस्वरूप परमार साम्राज्य धराशायी सा हो गया।

इस प्रकार गोयल ने इतिहास में राजाओं के मूल्यांकन की एक वैज्ञानिक विधि विकसित की है। यह महत्त्वपूर्ण है कि यह विधि किसी राजा की उपलब्धियों को उसके काल की समग्र परिस्थितियों से सम्बन्धित करती है।

## 5

राजनीतिक इतिहास का अध्ययन इसकी समग्र परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में किया जाना चाहिये, इस दृष्टि से यह निष्कर्ष स्वत: फलीभूत होता है कि संस्कृति के अन्य पक्षों के इतिहास का अध्ययन भी समाज में राजनीतिक तत्त्वों सहित सभी सक्रिय तत्त्वों की पृष्ठभूमि में किया जाना चाहिये। दूसरे शब्दों में, जब हम समाज के किसी एक पक्ष के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो वह पक्ष हमारे अध्ययन का केन्द्रबिन्दु हो जाता है और दूसरे पक्ष उस बिन्दु पर प्रकाश डालते हैं और जब हम किसी दूसरे पक्ष के इतिहास का अध्ययन करते हैं तब वह विशिष्ट पक्ष हमारे ध्यान का केन्द्रबिन्दु हो जाता है और अन्य पक्ष उस पर प्रकाश डालते हैं। यह दृष्टि इतिहास ग्रन्थों में आजकल उपलब्ध दृष्टि से बिल्कुल भिन्न है जिसमें एक

काल विशेष या शासक विशेष की कहानी के विभिन्न अध्याय जीवन के विभिन्न पक्षों का विवरण करते हैं और वे सभी एक दूसरे से नदी के द्वीपों की भाँति असम्बद्ध होते हैं। गोयल की इतिहास की अवधारणा के अनुसार ये सभी एक जैविक वास्तविकता के भाग हैं और प्रत्येक का अध्ययन अन्य सभी पक्षों के परिप्रेक्ष्य में होना चाहिये ।

प्राचीन भारत के धार्मिक इतिहास पर लिखे गये गोयल के ग्रन्थो मे उनकी यह इतिहास-दृष्टि प्रभावशाली रूप से उभरी है । जैसा कि प्रो. जी.सी. पाण्डे ने डॉ. गोयल की 'ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म' (मेरठ, 1987) की भूमिका में ध्यान दिलाया है—गोयल के इस ग्रन्थ का महान् गुण इस तथ्य में निहित है कि ''इसका दृष्टिकोण एक सामान्य इतिहासकार का आलोचनात्मक दृष्टिकोण है जो भारतीय बौद्ध धर्म के इतिहास द्वारा उत्पन्न की गई समस्याओ तथा भारतीय संस्कृति में उसकी भूमिका की विवेचना करता है ।'' ''और वह भारतीय इतिहास की एक प्रमुख विचारधारा के विकास को इसके सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक पक्षों के सन्दर्भ मे प्रस्तुत करने एव उसका आलोचनात्मक विवेचन करने मे रुचि रखता है ।'' गोयल वैदिक युग मे प्रचलित विचारधाराओ में ही नहीं बल्कि भौतिक सस्कृति मे परिवर्तन के तत्वो और बुद्धकाल के विचार जगत् में भी बौद्ध विचारो के प्राक्-बुद्धकालीन तत्व ढूँढते हैं । उन्होने बौद्ध धर्म की विभिन्न अवस्थाओ के अभ्युदय एवं विकास, इसके पतन तथा आधुनिक काल में इसके पुनरुत्थान को भारत मे सास्कृतिक परिवर्तनों से सम्बद्ध किया है । गोयल ने इसी समेकित इतिहास-दृष्टि का प्रदर्शन अपने ग्रन्थ 'ए रिलीजियस हिस्टॅरी ऑफ एन्शियेण्ट इण्डिया' खण्ड एक व दो (मेरठ, 1984 एव 1986) में किया है। यहाँ उन्होने धर्म का अध्ययन सामाजिक इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे किया है । उन्होने समाज मे आये परिवर्तनो की पृष्ठभूमि मे भारतीय धर्मों की कहानी को चित्रित किया है और सामाजिक तथा राजनीतिक विचारो तथा सस्थाओ मे आये परिवर्तनो से विभिन्न धर्मों मे हुए परिवर्तनो को सम्बद्ध किया है । ''उन्होने इस विषय को समग्र दृष्टि से देखा है जिससे यह ग्रन्थ कालक्रम या तकनीकी शब्दो के सूचीपत्र की एकरसता से ऊपर उठ गया है । भारतीय धार्मिक इतिहास पर लिखित अधिकाश ग्रन्थ निराकार एवं खोखले दृष्टिकोण से ग्रस्त रहे हैं । गोयल अपने साहसिक प्रयास के लिये प्रशसा के पात्र हैं, साथ ही उनकी यह सतर्कता भी प्रशसनीय है जिसने उनके धार्मिक इतिहास को मात्र सामान्य अथवा पूर्वसकल्पित सामाजिक इतिहास होने से बचाया है ।''[6]

गोयल भारत के धार्मिक इतिहास को अधिरचना के एक भाग मात्र के रूप मे नहीं देखते । उनका विश्वास है कि साधना अर्थात् आध्यात्मिक मूल्यों का अनुसरण धर्म के रूप मे मूर्तिमान होकर युग-युगों से भारतीय संस्कृति का मूल तत्त्व रहा है और भारतीय मानस की अभिव्यक्ति अलग-अलग युगो में साधना के विभिन्न प्रकारों—कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि— के माध्यम से हुई है । इसी कारण भारतीय परिप्रेक्ष्य में उन्होने विचारों की भूमिका को अधिक महत्वपूर्ण माना है । यह सही है कि उन्होने यह स्वीकार किया है कि भारतीय संस्कृति के प्रारूप के निर्धारण मे भौतिक परिस्थितियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाही है और वे भारतीय अनुभव का मूल्यांकन एवं अध्ययन इसके विभिन्न पहलुओं के समग्र रूप मे करते हैं, परन्तु उनका आग्रह यह है कि भारत में भौतिक परिस्थितियों से अधिक महत्वपूर्ण भूमिका विचारों की रही है ।

## 6

गोयल इतिहास की धारा पर विचार समाज में सक्रिय तथ्यों एवं शक्तियों की पृष्ठभूमि में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व के परिप्रेक्ष्य में करते हैं । इसी कारण उन्होने न केवल प्राचीन विश्व के इतिहास पर

स्तरीय ग्रन्थों का प्रणयन किया बल्कि प्राचीन भारत के राजनीतिक एवं धार्मिक इतिहास का अध्ययन मध्य एशिया, ईरान, पश्चिमी एशिया तथा चीन आदि देशों में होने वाले घटनाक्रम के प्रकाश में भी किया है। यह सही है कि राजनीतिक इतिहास, धार्मिक इतिहास एवं पुरालेखशास्त्र में बढ़ती हुई उनकी अभिरुचि ने विश्व इतिहास के प्रति उनके उत्साह को बहुत कम कर दिया है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं लगाया जाना चाहिये कि विश्व इतिहास के प्रति उनकी रुचि पूर्णत: समाप्त हो गई है । उनके लेखन की विषय-वस्तु प्राय: भारतीय इतिहास को समग्र विश्व के परिप्रेक्ष्य में देखने की अनुमति नहीं देती, फिर भी उनके द्वारा प्राचीन भारत के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास के विवेचन में काल और क्षेत्र की गहराइयों में विस्तृत उनकी सर्वव्यापिनी दृष्टि का परिचय हमें मिलता है । वह अशोक की तुलना अख्नाटन से, समुद्रगुप्त के दक्षिणी अभियान की अलाउद्दीन के दक्षिणी अभियान से, गुप्त इतिहास में द्वितीय चन्द्रगुप्त के स्थान की मुगल इतिहास में जहाँगीर के स्थान से एवं समुद्रगुप्त के साम्राज्य के संगठन की तुलना नेपोलियन के साम्राज्य के संगठन से करते हैं । भारतीय इतिहास में ईसाई और इस्लाम धर्म के विवेचन के लिये वे भारत में इन धर्मों के आगमन के पूर्व के उनके इतिहास का गहन अनुशीलन करते हैं । इसी प्रकार आधुनिक भारतीय इतिहास में राष्ट्रीय आदर्श की भूमिका की व्याख्या करते समय वह यूरोपीय इतिहास पर राष्ट्रीय अवधारणा के प्रभाव का विवेचन करते हैं । उनके विस्तृत बौद्धिक क्षितिज ने उन्हें यह सामर्थ्य प्रदान किया है कि वह विभिन्न युगों के भारतीय इतिहास में विभिन्न भाषाओं की भूमिका का विवेचन कर सके । यह सिद्ध करते हुए कि वैदिक युग की संस्कृति की महानता तथा वैदिकोत्तर युग में नगरीय जीवन के प्रादुर्भाव व विकास के बावजूद प्राक्-अशोक युग का भारतीय समाज साक्षर नहीं था, वह यह तर्क देते हैं कि यद्यपि लेखनकला सामान्यत: नगरीय जीवन से सम्बद्ध होती है परन्तु दोनों का अस्तित्व साथ-साथ होना सदैव आवश्यक नहीं है । अपने इस विन्दु को सिद्ध करने के लिये वह सभ्य जीवन के आधारभूत तत्त्व पहिये का उदाहरण देते हैं जो अमेरिका की कुछ अत्यन्त विकसित सभ्यताओं में ज्ञात नहीं था । ब्राह्मी लिपि का आविष्कार अशोक के युग में हुआ, अपनी इस मान्यता के पक्ष में वे तिब्बत का उदाहरण देते हैं जहाँ के शासक स्रोंग-त्सन-गाम-पो ने तिब्बती भाषा के लिये लिपि का उसी प्रकार आविष्कार कराया और उसी प्रकार प्रयोग किया जिस प्रकार अशोक ने अपने अभिलेखों के लिये ब्राह्मी लिपि का आविष्कार करवाया व उसका प्रयोग किया । इस प्रकार अपने इतिहास लेखन में गोयल उन्मुक्त रूप से समय एवं क्षेत्र की सीमाओं को पार करते हुए विश्व में भ्रमण करते हैं और विश्व के परिप्रेक्ष्य में अपने विचार प्रस्तुत करते हैं और उपयुक्त दृष्टान्तों तथा तथ्यों से अपने मत का प्रभावशाली रूप से मण्डन करते हैं । इस रूप में वह नेहरू का अनुकरण करने लगते हैं ।

## 7

गोयल का यह दावा सम्भवत: सही है कि उनकी इतिहास-दृष्टि प्राचीन भारतीयों की इतिहास की परिभाषा के काफी निकट है । 'इतिहास' का शाब्दिक अर्थ है 'वास्तव में ऐसा ही हुआ' । 'निरुक्त' तथा 'बृहद्देवता' जैसे प्रारम्भिक स्रोत इतिहास को संकुचित रूप में लेते हुए इसका अर्थ 'पूर्ववृत्त' अर्थात् 'प्राचीन घटनायें' करते हैं ' । परन्तु परिपक्व अर्थ में 'इतिहास' में न केवल वे रचनायें सम्मिलित होती हैं जिन्हें राजनीतिक इतिहास कहा जा सकता है बल्कि इसमें नैतिक व धार्मिक कानून, सामाजिक संस्थायें, अर्थशास्त्र एवं राजनीति शास्त्र भी सम्मलित होते हैं । अपने 'अर्थशास्त्र' में कौटिल्य लिखते हैं, ''पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणम् धर्मशास्त्रंचेतीतिहास: '। यही विचार आप्टे के 'संस्कृत शब्दकोश' में उद्धृत एक प्राचीन श्लोक में भी अभिव्यक्त हैं —धर्मार्थ-काम-मोक्षाणामुपदेश समन्वितम् । पूर्ववृत्तं

ख्यायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥' उक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि इतिहास विगत का ऐसा विवरण है जो जीवन के चार आदर्शों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष — की परिपूर्ति के लिये दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। विस्तृत दृष्टि से देखने पर धर्म का अर्थ है व्यवहार, कर्तव्यो , उत्तरदायित्वो तथा कानूनो की सहिता ; अर्थ का तात्पर्य है आर्थिक कल्याण ; काम से आशय है शारीरिक परितुष्टि एवं सास्कृतिक प्रगति और मोक्ष का अर्थ है पुनर्जन्म से मुक्ति। इस प्रकार मानव जीवन के आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक पहलुओं के साथ साथ नैतिक मूल्य इतिहास मे सम्मिलित माने जा सकते हैं। उक्त दृष्टि मे स्वाभाविक है कि इतिहास की घटनाये समाज के सामान्य विकास के दृष्टान्तो के रूप मे उपयोग मे लाई जाये। इसी दृष्टि से 'महाभारत' इतिहास का एक आदर्श ग्रन्थ माना जाता है क्योकि मानव के अनुभवो की प्रकृति और विविधता को यह ग्रन्थ दृष्टान्तों के द्वारा प्रस्तुत करता है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जिस प्रकार इतिहास की समग्र दृष्टि मे भी व्यक्ति को व्यक्ति को विशेष महत्व नहीं दिया जाता उसी प्रकार प्राचीन भारत की इतिहास-दृष्टि मे भी 'राजाकालस्यकारणम्' नामक उक्ति विशेष महत्व नहीं दिया गया था। इसीलिए गोयल के विचार मे 'राजाकालस्यकारणम्' नामक उक्ति व्यक्तिगत रूप मे राजा की प्रमुखता इतनी नही बताती जितनी कि राज्य की प्रमुखता।

## पाद-टिप्पणियां

जैसे कि, 'सैन्धव धर्म में सर्वोच्च देवता मातृदेवी का भाई एव पति दोनों ही माना जाता था', 'भारत युद्ध की पौराणिक तिथि में इसलिए भ्रम पैदा हो गया है क्योंकि दाशराज्ञ के बाद आने वाले जनमेज पारिक्षित का तादात्म्य गलती से भारत-युद्ध के बाद शासन करने वाले जनमेजय पारिक्षित के साथ कर दिया गया', 'राम का अपने पैतृक सिंहासन पर कोई वैध अधिकार नहीं था', 'ब्राह्मी लिपि का आविष्कार प्रारम्भिक मौर्य काल मे हुआ', 'पश्चिमोत्तर प्रदेशों को छोड़कर शेष भारतीय समाज प्राक्-अशोक काल मे निरक्षर था', 'चाणक्य एव कौटिल्य दो भिन्न व्यक्ति थे, चाणक्य एक जैन था और चन्द्रगुप्त का गुरु व प्रधानमंत्री था जबकि कौटिल्य तृतीय शती ई. का एक ब्राह्मण और 'अर्थशास्त्र' का प्रणेता था', 'मथुरा के सदर्भ मे मेगास्थनीज द्वारा वर्णित हेराक्लिज के व्यक्तित्व में मुख्य रूप से भारतीय अनुश्रुति के वैवस्वत मनु से सम्बधित आख्यान समाविष्ट हैं', 'जब मेगास्थनीज भारत आया था, भारतीय राजाओं की पौराणिक सूची न्यूनाधिक रूप से उसी रूप में विद्यमान थी जिस प्रकार से वर्तमान पुराणों में मिलती है'; 'साम्राज्यिक गुप्त ब्राह्मण थे', 'गुप्तों का मूल प्रदेश पूर्वी उत्तर प्रदेश में था और प्रारम्भ में उनकी राजधानी प्रयाग थी'; 'मेहरौली-अभिलेख का राजा 'चन्द्र' समुद्रगुप्त से अभिन्न थी', 'नरसिंहगुप्त बालादित्य और कुमारगुप्त क्रमादित्य नामक राजा दो बार हुए हैं — पहली बार स्कन्दगुप्त के शीघ्र पश्चात् व दूसरी बार भानुगुप्त के बाद में'; 'परवर्ती गुप्तकाल का मालव जनपद राजस्थान मे स्थित था', 'मौखरि मालवो की शाखा थे और चन्द्रवशी थे', 'हर्ष की बौद्ध धर्म में आस्था के सदर्भ में युआन-च्वाग का साक्ष्य विश्वनीय नहीं है क्योंकि हर्ष जीवनपर्यन्त शैव बना रहा'; 'जैन अनुश्रुति में नागावलोक नामक उपनाम धारण करने वाले प्रतीहार शासक द्वितीय नागभट के व्यक्तित्व के कई तत्व यशोवर्मा के उत्तराधिकारी अम-नागावलोक पर गलती से आरोपित किये गये हैं', 'अकबर द्वारा प्रतिपादित 'दीन-ए-इलाही' एक नवीन धर्म था और इस कारण इस धर्म के प्रवर्तन के बाद वह मुसलमान नहीं रह गया था', 'भारतीय समाज की विविधता में एकता हमारी सास्कृतिक विभिन्नता में उपलब्ध समान तत्वों से उद्भूत एकता नहीं है बल्कि हमारे सामाजिक पिरामिड के शीर्ष की एकता है जिसे बनाये रखने में हमारी धार्मिक परम्परा तथा भाषा की एकता — अलग अलग युगों में सस्कृत, फारसी और अंग्रेजी —का योगदान रहा है', 'हमारे गणतत्रात्मक सविधान में वयस्क मताधिकार को अंगीकार करने से हमारा सामाजिक पिरामिड उल्टा हो गया है जिससे धार्मिक परम्पराओं तथा समान भाषा से बंधा सुसंस्कृत वर्ग नीचे आ गया है और जनसाधारण ऊपर, जिससे कम से कम अस्थायी रूप से विसंस्कृतिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है' ; आदि।

प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास के लेखन में नवीन बोध के लिये देखें, मेरा प्रतिक्रियात्मक पत्र- 'पॉलिटिकल हिस्टरी : दि लोस ऑफ इन्नोसेन्स' ('नीड ऑफ ए न्यू एप्रोच टू द राइटिंग ऑफ पॉलिटिकल हिस्टरी ऑफ एन्शियण्ट इण्डिया') 'पोलिटिकल हिस्टरी इन ए चेञ्जिग वर्ल्ड', सम्पादक- जी. सी पाण्डे, एस. के गुप्त,

इतिहास के पुनरालेखन की आवश्यकता का अनुभव इतिहासकारों तक को हो रहा है। मालवों पर अपने शोध-पत्र "दि मालवज़ ऑफ राजस्थान इन दि थर्ड-फोर्थ सेंचुरी" [प्रोसिडिंग्स ऑफ राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस, 1973, वाल्यूम 6, पृष्ठ 15-20] में डॉ. गोयल ने यह दर्शाया है कि प्राचीनकाल में पंजाब में रहने वाले मालव शुंगकाल में राजस्थान के अजमेर-टोंक-मेवाड़ प्रदेश में बस गये थे और मालवनगर [जयपुर के निकट नगर या करकोटनगर] को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया था। सामान्यतः यह माना जाता रहा है कि इस प्रदेश में मालवों को कुषाणों तथा शकों के प्रभुत्व से नन्दि सोम ने स्वतन्त्रता दिलायी थी और वे समुद्रगुप्त के अधीन होने तक स्वतन्त्र रहे थे। परन्तु डॉ. गोयल का यह मानना है कि तृतीय शताब्दी में मालवों को पद्मावती के भारशिव-नागों का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा था। तीसरी-चौथी शताब्दी में मालवों का राजस्थान के अनेक भागों में विस्तार होने के साथ-साथ कई शाखाओं में विभाजन भी हुआ। मालवों की एक शाखा भरतपुर राज्य में थी जिसका प्रमाण बयाना के निकट विजयगढ़ से प्राप्त विष्णुवर्द्धन का 428 मालव संवत् तिथ्यंकित यूप-अभिलेख है। मालव संवत् के प्रयोग तथा वर्द्धनान्त नामों [विष्णुवर्द्धन तथा यशोवर्द्धन] के आधार पर डॉ. गोयल ने विष्णुवर्द्धन के वरिक वंश को मालवों की शाखा माना है। कृत संवत् का प्रयोग करने वाले मन्दसौर के औलिकर परिवार को भी मालवों की एक अन्य शाखा माना गया है जो डॉ. गोयल के अनुसार दक्षिण की ओर बढ़कर मन्दसोर में बस गयी थी। नान्दसा-अभिलेख के नन्दिसोम की सोगी-मालव शाखा उदयपुर क्षेत्र में शासन करती थी। डॉ. गोयल ने बड़वा-अभिलेखों में उल्लिखित मौखरि तथा कन्नौज के मौखरि वंशों को भी मालवों की ही शाखा माना है [इसका विस्तृत विवेचन उन्होने अपने लेख 'वर दि मौखरिज़ एन ऑफशूट ऑफ दि मालवज़' में किया है]। डॉ. गोयल ने मालव गणराज्य के विभाजन तथा कई राजतन्त्रात्मक राज्यों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का अन्य गणराज्यों में इसी प्रकार घटित प्रक्रिया के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनके अनुसार, 'यह विभाजन विस्तार का प्रत्यक्ष परिणाम था। वस्तुतः एक गणतन्त्रात्मक जाति अपना विस्तार अपनी एकता को खोए बिना नहीं कर सकती थी। विस्तारवादी प्रवृत्ति से आन्तरिक संघर्ष का बढ़ना स्वाभाविक था जैसा कि, अन्य तत्कालीन गणजातियों के इतिहास से भी स्पष्ट है।' गणजातियों द्वारा राजतन्त्रात्मक तत्त्वों को आत्मसात करने के सम्बन्ध में प्रोफेसर गोयल का यह मानना है कि ये जातियाँ जाने-अनजाने में राजतन्त्रात्मक तत्त्वों को अपनाती गईं। कुमारदेवी के पिता का लिच्छवि गणराज्य का वंशपरम्परागत शासक होना, यौधेयों के निर्वाचित मुखिया द्वारा 'महासेनापति' के साथ-साथ 'महाराज' की उपाधि धारण करना, सनकानीकों के मुखिया का अभिलेखों में 'महाराज' के रूप में उल्लेख आदि इस प्रवृत्ति के प्रमाण हैं। तृतीय शताब्दी में मालव नेता नन्दिसोम ने भी नान्दसा-अभिलेख में अपने पिता, पितामह व प्रपितामह को 'राजर्षि' उपाधि से विभूषित किया है।

डॉ. गोयल ने अपने लेख 'वर दि मौखरिज एन ऑफशूट ऑफ दि मालवज ?' [प्रो. ऑ. रा. हि. कॉं, 1972, वॉ. 5, पृ. 16-21] में यह भी सिद्ध किया है कि मौखरि मालवों की शाखा थे और मालव पंजाब के मद्रों की। कुछ विद्वानों के अनुसार 'हर्षचरित' में मौखरि तथा पुष्यभूति वंशों को क्रमशः चन्द्र तथा सूर्यवंशी कहा गया है। इस मत को अस्वीकार करते हुए डॉ. गोयल ने यहाँ मौखरि तथा पुष्यभूति वंशों की चन्द्र तथा सूर्यवंशों से मात्र तुलना ही माना है। दूसरी ओर पुष्यभूति वंश का सूर्यवंशी नहीं बल्कि वैश्य होना लगभग सर्वस्वीकृत है। मौखरि नरेश ईशानवर्मा के हड़हा-अभिलेख में मौखरियों को उन सौ पुत्रों का वंशज कहा गया है जो उसने वैवस्वत के वरदान से प्राप्त किये थे। 'महाभारत' के सावित्र्युपाख्यान में उल्लेख आया है कि यम (वैवस्वत) से सावित्री को प्राप्त वरदान के अनुसार उसके

पिता मद्रशासक को अपनी रानी मालवी के गर्भ से मालव नामक सौ पुत्र प्राप्त हुए थे। डॉ गोयल ने हड़हा-अभिलेख तथा 'महाभारत' के उक्त विवरणो के साम्य को बहुत महत्वपूर्ण माना है। 'महाभारत' के अश्वपति के सूर्यवंशी होने, हड़हा लेख के मौखरियो को अश्वपति का वशज कहे जाने तथा मालवो का अपनी जाति को इक्ष्वाकुओ की भाँति सम्मानजनक मानने के आधार पर डॉ गोयल ने तीनो वशो को सूर्यवंशी माना है। मालवो [नान्दसा-अभिलेख] तथा मौखरियो [ बड़वा-अभिलेख] दोनो जातियो की वैदिक यज्ञो मे आस्था तथा मौखरियों द्वारा तीसरी शताब्दी से ही कृत-मालव सवत् के प्रयोग की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए डॉ. गोयल ने यह माना है कि ये सभी तथ्य अलग-अलग तो बहुत महत्वपूर्ण नहीं है परन्तु समवेत रूप से बहुत महत्वपूर्ण है और यह निष्कर्ष देते हैं कि, मौखरि मालवो की शाखा थे और मालव पंजाब के मद्रो की डॉ. गोयल ने तीनो जातियो के उक्त सम्बन्ध की एक अन्य पृष्ठभूमि मे भी व्याख्या की है। उनके अनुसार मौखरियो का अभ्युदय उस समय हुआ जब राजपूतो ने वैदिक क्षत्रियो से अपना सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। मौखरियो ने भी अपने को वैदिक क्षत्रियो का वंशज होने का दावा इसी समय किया जो उनके वैदिक मद्रो के साथ सम्बन्धो के कारण बहुत स्वाभाविक था।

डॉ. गोयल ने प्राक्-हर्षकाल मे मालव जनपद की भौगोलिक स्थिति को राजस्थान मे निश्चित करके यह सिद्ध किया है कि पाचवी शताब्दी के मध्य वाकाटको ने राजस्थान पर आक्रमण किया था और परवर्ती-गुप्तो का मूल स्थान राजस्थान था। अपने लेख 'डिड दि वाकाटकज इन्वेड राजस्थान इन दि मिडिल ऑफ फिफ्थ सेंचुरि' [प्रो. ऑफ रा हि. कॉ, 1972, वॉ. 5, पृ. 22-26] मे डॉ गोयल ने द्वितीय पृथ्वीषेण के बालाघाट-अभिलेख मे उसके पिता नरेन्द्रसेन की सत्ता मानने वाले मालव जनपद की पहिचान पश्चिमी मालवा[मजूमदार, मिराशी, सिन्हा आदि] या अवन्ति [रायचौधुरी] से न करके राजस्थान के अजमेर-टोंक-मेवाड़ क्षेत्र से की है। उनके अनुसार यद्यपि परमारों के समय मे अवन्ति को तथा बाण (कादम्बरी) के समय मे उज्जयिनी को 'मालव' कहे जाने के प्रमाण मिलते है, परन्तु इसके पूर्व के काल मे इन दोनो ही प्रदेशो के लिये 'मालव' शब्द का प्रयोग नही मिलता। गुप्तकालीन रचना 'कामसूत्र', अवन्ति निवासी वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' तथा परवर्ती-गुप्तकालीन ग्रन्थ 'भागवत-पुराण' मे मालव तथा अवन्ति का अलग-अलग जनपदो के रूप मे उल्लेख तथा 'भागवत-पुराण' मे मालव का सम्बन्ध अर्बुद [आबू] से उल्लिखित होने के आधार पर डॉ. गोयल का यह मानना है कि गुप्तकाल मे मालव देश को अवन्ति से भिन्न माना जाता था। डॉ. गोयल ने वाकाटको को भी इस भेद से परिचित पाया है क्योंकि बालाघाट-अभिलेख [480 ई.] तथा हरिषेण के अजन्ता-लेख [लगभग 500 ई.] मे, जो लगभग समकालीन हैं, वाकाटको ने क्रमशः मालव और अवन्ति पर अपने अधिकार होने का उल्लेख किया है। बालाघाट-अभिलेख मे मालव का उल्लेख कोसल व मेकला के साथ हुआ है। डॉ. गोयल के अनुसार, भौगोलिक दृष्टि से कोसल तथा मेकला से मालव [अजमेर-टोक-मेवाड़] क्षेत्र में स्कन्दगुप्त की कठिनाइयो के दिनो में आसानी से आया जा सकता था और अगर अपनी अधीनता का प्रस्ताव स्वय मालवराज द्वारा वाकाटक नरेन्द्रसेन को भेजा गया था तो यह और भी सरल था।'

परवर्ती-गुप्तों के मूलस्थान के सम्बन्ध मे प्रचलित मगध तथा मालव मतों मे से डॉ. गोयल ने मालव विषयक मत को सही मानते हुए यह नवीन सुझाव दिया है कि परवर्ती गुप्तो का मालव जनपद राजस्थान में था ['राजस्थान—दि ओरिजिनल होम ऑफ दि लेटर गुप्तज़', प्रो. ऑफ रा. हि.कॉ.,1975, वॉ 8, पृ 24-32]। आदित्यसेन तथा उसके उत्तराधिकारियो के मगध में प्राप्त अभिलेख उनको मगध क

इतिहास के पुनरालेखन की आवश्यकता का अनुभव इतिहासकारों तक को हो रहा है। मालवों पर अपने शोध-पत्र "दि मालवज़ ऑफ राजस्थान इन दि थर्ड-फोर्थ सेंचुरी" [प्रोसिडिंग्स ऑफ राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस, 1973, वाल्यूम 6, पृष्ठ 15-20] में डॉ. गोयल ने यह दर्शाया है कि प्राचीनकाल में पंजाब में रहने वाले मालव शुंगकाल में राजस्थान के अजमेर-टोंक-मेवाड़ प्रदेश में बस गये थे और मालवनगर [ज़यपुर के निकट नगर या करकोटनगर] को उन्होंने अपनी राजधानी बनाया था। सामान्यत: यह माना जाता रहा है कि इस प्रदेश में मालवों को कुषाणों तथा शकों के प्रभुत्व से नन्दि सोम ने स्वतन्त्रता दिलायी थी और वे समुद्रगुप्त के अधीन होने तक स्वतन्त्र रहे थे। परन्तु डॉ. गोयल का यह मानना है कि तृतीय शताब्दी में मालवों को पद्मावती के भारशिव-नागों का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा था। तीसरी-चौथी शताब्दी में मालवों का राजस्थान के अनेक भागों में विस्तार होने के साथ-साथ कई शाखाओं में विभाजन भी हुआ। मालवों की एक शाखा भरतपुर राज्य में थी जिसका प्रमाण बयाना के निकट विजयगढ़ से प्राप्त विष्णुवर्द्धन का 428 मालव संवत् तिथ्यंकित यूप-अभिलेख है। मालव संवत् के प्रयोग तथा वर्द्धनान्त नामों [विष्णुवर्द्धन तथा यशोवर्द्धन] के आधार पर डॉ. गोयल ने विष्णुवर्द्धन के वरिक वंश को मालवों की शाखा माना है। कृत संवत् का प्रयोग करने वाले मन्दसौर के औलिकर परिवार को भी मालवों की एक अन्य शाखा माना गया है जो डॉ. गोयल के अनुसार दक्षिण की ओर बढ़कर मन्दसोर में बस गयी थी। नान्दसा-अभिलेख के नन्दिसोम की सोगी-मालव शाखा उदयपुर क्षेत्र में शासन करती थी। डॉ. गोयल ने बड़वा-अभिलेखों में उल्लिखित मौखरि तथा कन्नौज के मौखरि वंशों को भी मालवों की ही शाखा माना है [इसका विस्तृत विवेचन उन्होंने अपने लेख 'वर दि मौखरिज़ एन ऑफशूट ऑफ दि मालवज़' में किया है]। डॉ. गोयल ने मालव गणराज्य के विभाजन तथा कई राजतन्त्रात्मक राज्यों में परिवर्तित होने की प्रक्रिया का अन्य गणराज्यों में इसी प्रकार घटित प्रक्रिया के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनके अनुसार, 'यह विभाजन विस्तार का प्रत्यक्ष परिणाम था। वस्तुत: एक गणतन्त्रात्मक जाति अपना विस्तार अपनी एकता को खोए बिना नहीं कर सकती थी। विस्तारवादी प्रवृत्ति से आन्तरिक संघर्ष का बढ़ना स्वाभाविक था जैसा कि, अन्य तत्कालीन गणजातियों के इतिहास से भी स्पष्ट है।' गणजातियों द्वारा राजतन्त्रात्मक तत्त्वों को आत्मसात करने के सम्बन्ध में प्रोफेसर गोयल का यह मानना है कि ये जातियाँ जाने-अनजाने में राजतन्त्रात्मक तत्त्वों को अपनाती गईं। कुमारदेवी के पिता का लिच्छवि गणराज्य का वंशपरम्परागत शासक होना, यौधेयों के निर्वाचित मुखिया द्वारा 'महासेनापति' के साथ-साथ 'महाराज' की उपाधि धारण करना, सनकानीकों के मुखिया का अभिलेखों में 'महाराज' के रूप में उल्लेख आदि इस प्रवृत्ति के प्रमाण हैं। तृतीय शताब्दी में मालव नेता नन्दिसोम ने भी नान्दसा-अभिलेख में अपने पिता, पितामह व प्रपितामह को 'राजर्षि' उपाधि से विभूषित किया है।

डॉ. गोयल ने अपने लेख 'वर दि मौखरिज एन ऑफशूट ऑफ दि मालवज ?' [प्रो. ऑ. रा. हि. कॉं, 1972, वॉ. 5, पृ. 16-21] में यह भी सिद्ध किया है कि मौखरि मालवों की शाखा थे और मालव पंजाब के मद्रों की। कुछ विद्वानों के अनुसार 'हर्षचरित' में मौखरि तथा पुष्यभूति वंशों को क्रमश: चन्द्र तथा सूर्यवंशी कहा गया है। इस मत को अस्वीकार करते हुए डॉ. गोयल ने यहाँ मौखरि तथा पुष्यभूति वंशों की चन्द्र तथा सूर्यवंशों से मात्र तुलना ही माना है। दूसरी ओर पुष्यभूति वंश का सूर्यवंशी नहीं बल्कि वैश्य होना लगभग सर्वस्वीकृत है। मौखरि नरेश ईशानवर्मा के हड़हा-अभिलेख में मौखरियों को उन सौ पुत्रों का वंशज कहा गया है जो उसने वैवस्वत के वरदान से प्राप्त किये थे। 'महाभारत' के सावित्र्युपाख्यान में उल्लेख आया है कि यम (वैवस्वत) से सावित्री को प्राप्त वरदान के अनुसार उसके

पिता मद्रशासक को अपनी रानी मालवी के गर्भ से मालव नामक सौ पुत्र प्राप्त हुए थे। डॉ. गोयल ने इड्हा-अभिलेख तथा 'महाभारत' के उक्त विवरणों के साम्य को बहुत महत्वपूर्ण माना है। 'महाभारत' के अश्वपति के सूर्यवशी होने, इड्हा लेख के मौखरियो को अश्वपति का वशज कहे जाने तथा मालवो का अपनी जाति को इक्ष्वाकुओ की भाँति सम्मानजनक मानने के आधार पर डॉ गोयल ने तीनो वशो को सूर्यवशी माना है। मालवो [नान्दसा-अभिलेख] तथा मौखरियो [ बड़वा-अभिलेख] दोनो जातियों की वैदिक यज्ञो मे आस्था तथा मौखरियों द्वारा तीसरी शताब्दी से ही कृत-मालव सवत् के प्रयोग की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हुए डॉ. गोयल ने यह माना है कि ये सभी तथ्य अलग-अलग तो बहुत महत्वपूर्ण नहीं हैं परन्तु समवेत रूप से बहुत महत्वपूर्ण हैं और यह निष्कर्ष देते हैं कि, मौखरि मालवो की शाखा थे और मालव पजाब के मद्रो की डॉ गोयल ने तीनो जातियो के उक्त सम्बन्ध की एक अन्ट पृष्ठभूमि मे भी व्याख्या की है। उनके अनुसार मौखरियो का अभ्युदय उस समय हुआ जब राजपूतो ने वैदिक क्षत्रियो से अपना सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। मौखरियो ने भी अपने को वैदिक क्षत्रियो का वशज होने का दावा इसी समय किया जो उनके वैदिक मद्रो के साथ सम्बन्धो के कारण बहुत स्वाभाविक था।

डॉ गोयल ने प्राक्-हर्षकाल मे मालव जनपद की भौगोलिक स्थिति को राजस्थान मे निश्चित करके यह सिद्ध किया है कि पाचवी शताब्दी के मध्य वाकाटको ने राजस्थान पर आक्रमण किया था और परवर्ती-गुप्तो का मूल स्थान राजस्थान था। अपने लेख 'डिड दि वाकाटकज इन्वेड राजस्थान इन दि मिडिल ऑफ फिफ्थ सेंचुरि' [प्रो ऑफ रा हि कॉ, 1972, वॉ 5, पृ 22 26] मे डॉ गोयल ने द्वितीय पृथ्वीषेण के बालाघाट-अभिलेख मे उसके पिता नरेन्द्रसेन की सत्ता मानने वाले मालव जनपद की पहिचान पश्चिमी मालवा[मजूमदार, मिराशी, सिन्हा आदि] या अवन्ति [रायचौधुरी] से न करके राजस्थान के अजमेर-टोंक-मेवाड़ क्षेत्र से की है। उनके अनुसार यद्यपि परमारों के समय में अवन्ति को तथा बाण (कादम्बरी) के समय मे उज्जयिनी को 'मालव' कहे जाने के प्रमाण मिलते हैं, परन्तु इसके पूर्व के काल मे इन दोनों ही प्रदेशों के लिये 'मालव' शब्द का प्रयोग नही मिलता। गुप्तकालीन रचना 'कामसूत्र', अवन्ति निवासी वराहमिहिर की 'बृहत्सहिता' तथा परवर्ती-गुप्तकालीन ग्रन्थ 'भागवत-पुराण' मे मालव तथा अवन्ति का अलग-अलग जनपदो के रूप मे उल्लेख तथा 'भागवत-पुराण' मे मालव का सम्बन्ध अर्बुद [आबू] से उल्लिखित होने के आधार पर डॉ. गोयल का यह मानना है कि गुप्तकाल में मालव देश को अवन्ति से भिन्न माना जाता था। डॉ गोयल ने वाकाटको को भी इस भेद से परिचित पाया है क्योंकि बालाघाट-अभिलेख [480 ई.] तथा हरिषेण के अजन्ता-लेख [लगभग 500 ई.] मे, जो लगभग समकालीन हैं, वाकाटकों ने क्रमश: मालव और अवन्ति पर अपने अधिकार होने का उल्लेख किया है। बालाघाट-अभिलेख मे मालव का उल्लेख कोसल व मेकला के साथ हुआ है। डॉ गोयल के अनुसार, 'भौगोलिक दृष्टि से कोसल तथा मेकला से मालव [अजमेर-टोंक-मेवाड़] क्षेत्र में स्कन्दगुप्त की कठिनाइयों के दिनो मे आसानी से आया जा सकता था और अगर अपनी अधीनता का प्रस्ताव स्वय मालवराज द्वारा वाकाटक नरेन्द्रसेन को भेजा गया था तो यह और भी सरल था।'

परवर्ती-गुप्तों के मूलस्थान के सम्बन्ध में प्रचलित मगध तथा मालव मतों में से डॉ. गोयल ने मालव विषयक मत को सही मानते हुए यह नवीन सुझाव दिया है कि परवर्ती गुप्तों का मालव राजस्थान में था ['राजस्थान—दि ओरिजिनल होम ऑफ दि लेटर गुप्तज़', प्रो. ऑफ वॉ8, पृ24-32]। आदित्यसेन तथा उसके उत्तराधिकारियो के मगध में प्राप्त

शासक सिद्ध करते हैं तो 'हर्षचरित' मे महासेनगुप्त के लिये 'मालवराज' सम्बोधन से महासेनगुप्त तक के परवर्ती-गुप्त शासक मालवा के शासक सिद्ध होते हैं। प्रथम जीवितगुप्त के समुद्र किनारे तथा हिमालय पर्वत में रहने वाले शत्रुओ के विरुद्ध अभियान के सम्बन्ध में डॉ. गोयल का मानना है कि आदित्यसेन तक के शासक स्वतन्त्र नहीं थे अत: प्रथम जीवितगुप्त ने ये युद्ध अपने समकालीन सम्राट् मन्दसौर के यशोधर्मा के अधीन लड़े थे। इसी प्रकार महासेनगुप्त का कामरूप-अभियान शशांक के अधीन हुआ था। अत: परवर्ती-गुप्तो का मूल स्थान मालवा मानने मे कोई बाधा नही है। परन्तु यह मालवा अवन्ति या मन्दसौर से अभिन्न न होकर राजस्थान का अजमेर-टोक-मेवाड़ क्षेत्र था। हर्षकाल के पूर्व मालवा के भौगोलिक निर्णय के लिये डॉ. गोयल ने वाकाटको के राजस्थान पर आक्रमण के सम्बन्ध मे जो तर्क दिये है उनकी पुनरावृत्ति करने के साथ-साथ कुछ नये तर्क भी दिये हैं। छठी शती के प्रथमार्द्ध मे अवन्ति यशोधर्मा की सत्ता का केन्द्र था अत: इसे परवर्ती-गुप्तो का मूल देश नही माना जा सकता। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' की टीका 'जयमंगला' मे उज्जयिनी-अवन्ति को पश्चिमी मालव कहा गया है और केवल मालव का अर्थ पूर्वी मालवा लिया गया है। डॉ. गोयल ने यहाँ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान दिलाया है कि 'कामसूत्र' का टीकाकार यशोधर तेरहवी शती का था अत: उसकी टीका के साक्ष्य को छठी शती के मालवा की भौगोलिक स्थिति के निर्णय के लिये प्रयुक्त नही किया जा सकता। मालवा को राजस्थान में सिद्ध करने के लिये डॉ. गोयल का यह तर्क भी महत्त्वपूर्ण है कि प्रयाग-प्रशस्ति मे मालव गणजाति का उल्लेख आर्जुनायन, यौधेय, आभीर आदि गणजातियो के साथ हुआ है जो उस समय राजस्थान मे निवास करती थी। उक्त विभिन्न तथ्यो के आधार पर डॉ. गोयल इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि नान्दसा-अभिलेख से लेकर अर्थात् तीसरी शती से लेकर वराहमिहिर के काल तक मालवा जनपद राजस्थान मे था और अवन्ति को तब तक मालवा नाम नही मिला था। ह्वेनसांग ने भी उज्जयिनी और मो-ला-पो का अलग-अलग उल्लेख किया है हालांकि उसके मो-ला-पो ( मालवा ) की स्थिति स्पष्ट नही है।

डॉ. गोयल ने हर्षकाल मे राजस्थान के विभिन्न राज्यो की स्थिति, हर्ष के साथ उन राज्यो के सम्बन्ध तथा उन राज्यो पर शासन करने वाले तत्कालीन शासको व उनके वंशो का विस्तृत विवेचन अपने शोध-पत्र 'हर्ष एण्ड राजस्थान' (प्रो. ऑफ रा. हि. कॉ., 1979/1980, वॉ. 12, पृ. 14-19) में किया है। ह्वेनसांग द्वारा उल्लिखित कु-चे-लो (गुर्जर) राज्य की राजधानी पी- लो - मो- लो को भिल्लमाल से अभिन्न मानते हुए डॉ. गोयल ने यहाँ 625 ई. मे बसन्तगढ़ — लेख के वर्मलात का शासन माना है। भिल्लकाचार्य ब्रह्मगुप्त द्वारा अपने ग्रन्थ 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' की रचना 628 ई. मे चापवंशी शासक व्याघ्रमुख (स्वयं वर्मलात या उसका कोई उत्तराधिकारी) के समय मे किए जाने के उल्लेख से स्पष्ट है कि यहाँ का हर्षकालीन शासक चापवंशी क्षत्रिय था। डॉ. गोयल ने ह्वेनसांग द्वारा इस राज्य के लिए प्रयुक्त शब्द कु-चे-लो (गुर्जर) को जातिवाचक मानकर चापो को गुर्जरो की शाखा माना है। नौसारी-दानपत्र में चापोत्कटो तथा गुर्जरो के एक साथ उल्लेख के सम्बन्ध मे उनका मानना है कि क्योंकि गुर्जरो के कई राज्य थे अत: यहाँ दो गुर्जर राज्यों में अन्तर करने के लिये एक को गुर्जर एवं दूसरे को चाप कहा गया है।

प्राचीन राजस्थान के इतिहास के प्रति प्रोफेसर गोयल का विशेष ध्यान उनके द्वारा तीन खण्डो में लिखित प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास [750 ई. तक] में भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इन खण्डों में विभिन्न स्थानों पर राजस्थान के इतिहास से सम्बंधित घटनाओं का विस्तृत विवेचन किया गया है। कुषाणोत्तर काल व गुप्तकाल मे राजस्थान में बसी मालव, आर्जुनायन, यौधेय, आभीर आदि गणजातियो प्रथम खण्ड 'मागध-सातवाहन-कुषाण साम्राज्यों का युग' [पृ. 747–749] तथा द्वितीय खण्ड 'गुप्त-वाकाटक साम्राज्यों का युग [पृ. 119-20] मे किया गया है। डॉ. गोयल ने जोहिया राजपूतों को यौधेयों का वंशज

माना है। वस्तुतः गुप्तोत्तर काल मे ही वर्तमान राजस्थान के व्यक्तित्व की रूपरेखा स्पष्ट होती है। अतः तृतीय खण्ड 'मौखरी-पुष्यभूति-चालुक्य युग' मे राजस्थान के विभिन्न राज्यो पर अलग से अध्याय दिये गये हैं यथा राजस्थान के मालव जनपद का परवर्ती- गुप्त वंश [पृ.63-82], मण्डोर के प्रतिहार [पृ. 89-93,394-396 ] , भीनमाल के चाप [पृ .93-95] , शाकम्भरी के चाहमान [पृ.95] , किष्किन्धा एवं मेवाड़ के गुहिल [पृ. 95-99,390-93], चाटसू के गुहिल [पृ.393], चित्तौड़ के मौर्य [पृ.393-94], आदि।

मडोर के प्रतिहारो, कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारो तथा लाट के गुर्जरो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे डॉ. गोयल का यह निष्कर्ष बहुत युक्तिसंगत है कि तीनो वशो मे कोई प्रजातीय या रक्त सम्बन्ध नहीं था। इन तीनो की उत्पत्ति का समाधान एक साथ ढूंढने के प्रयासो को डॉ. गोयल ने एक पूर्वाग्रह माना है जो कुछ नामों के साम्य, लक्ष्मण के प्रति आदर आदि पर आधृत है। उन सब का सूक्ष्मावलोकन करके डॉ. गोयल इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मंडोर के प्रतिहार अपने को स्पष्टतः हरिचन्द्र नामक ब्राह्मण का वंशज बताते है जबकि कन्नौज के प्रतिहार अपने को प्रारम्भ से ही रघुवंशी — सूर्यकुलोत्पन्न — क्षत्रिय कहते है। मडोर के प्रतिहारो को कही भी गुर्जर नही कहा गया है और लाट के गुर्जरो को कही भी प्रतिहार नही बताया गया है जबकि कन्नौज के प्रतिहार गुर्जर-प्रतिहार कहे जाते रहे। मंडोर के प्रतिहार लक्ष्मण को इसलिए उल्लिखित करते है क्योंकि उसने राम का प्रतिहार बनकर प्रतिहारो के पेशे को गौरवान्वित किया था जबकि कन्नौज के गुर्जर—प्रतिहार अपने को लक्ष्मण का वशज मानते है। परन्तु लाट के गुर्जर अपने को लक्ष्मण का वंशज न कहकर कर्णवशोत्पन्न (नौसारी-दानपत्र) मानते है। डॉ. गोयल ने हमारा ध्यान वी. एस. पाठक द्वारा विवेचित इस तथ्य की ओर आकर्षित किया है कि वैदिक काल मे 'प्रतिहर्तृ' (प्रतिहार) उस ब्राह्मण को कहा जाता था जो यज्ञ मे कुछ कार्य विशेष करता था। परन्तु कालान्तर मे ब्राह्मण इस अर्थ को भूल गये व इसका अर्थ 'द्वारपाल' ही लेने लगे।

डॉ. गोयल ने गुहिल शासक बप्पा रावल के तादात्म्य की समस्या से सम्बधित विभिन्न स्रोतो तथा मतों का जो आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त तर्कसम्मत एवं मौलिक है हालाँकि अन्त मे उन्होंने ज्ञान की वर्तमान स्थिति मे इस प्रश्न को सुलझाना कठिन मानते हुए भविष्य मे नये प्रमाणो की प्राप्ति की प्रतीक्षा करने का आग्रह किया है।

गुप्तकालीन राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध मे डॉ. गोयल ने अपने लेख 'डिड ध्रुवदेवी बिलोंग टु राजस्थान' [प्रो. ऑफ. रा. हि. कॉ., 1972, वॉ. 6 पृ. 132-33] मे यह सम्भावना व्यक्त की है कि हो सकता है गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त की महारानी ध्रुवस्वामिनी राजस्थान के कोटा प्रदेश की रहने वाली हो एवं इस क्षेत्र से प्राप्त भीमचौरी-अभिलेख मे उल्लिखित ध्रुवस्वामी की , जो हूणो के विरुद्ध युद्ध में मारा गया था, बहिन रही हो, क्योंकि इस अभिलेख मे ध्रुवस्वामी का नाम गुप्तकालीन लिपि मे उत्कीर्ण है और उस काल में भाई-बहिनो के समान नामो की परम्परा थी [जैसे महासेनगुप्त-महासेनगुप्ता, भानुगुप्त-भानुगुप्ता, हर्षगुप्त-हर्षगुप्ता, आदि ]।

त्रिकोणात्मक संघर्ष के अन्तर्गत गुर्जर-प्रतिहारो का कन्नौज के आयुध परिवार से संघर्ष सुस्थापित तथ्य है। डॉ. गोयल ने अपनी एक सक्षिप्त टिप्पणी ['कमलायुध, ए न्यू नेम इन दि आयुध फेमिली'— प्रो. ऑफ. रा. हि. कॉ., 1977, वॉ. 9, पृ. 38-39] मे विद्वानो का ध्यान आयुध परिवार के अब तक अज्ञात सदस्य कमलायुध की ओर आकर्षित किया है जिसका उल्लेख वाक्पति के 'गौडवहो' मे कन्नौज के ऐसे महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप मे हुआ है जिसने वाक्पति को अपनी मैत्री द्वारा आदर

'गौडवहो' के सम्पादक एस. पी. पंडित ने इस कमलायुध को वाक्पति का एक समकालीन कवि माना है परन्तु डॉ. गोयल ने कन्नौज पर शासन करने वाले आयुध परिवार के सदस्यों ( वज्रायुध, इन्द्रायुध, चक्रायुध) से उसके सम्बंधित होने की सम्भावना व्यक्त की है ।

इसी काल के कन्नौज के इतिहास की एक अन्य समस्या — यशोवर्मा के पुत्र आम-नागावलोक के शासन — का डॉ. गोयल ने बहुत ही युक्तिसंगत समाधान प्रस्तुत किया है । मेरे विचार से लम्बे समय तक इतिहासकारों को परेशान करने वाली आम-नागावलोक की समस्या का डॉ. गोयल द्वारा प्रस्तुत समाधान 'सर्वाधिक युक्तिसंगत' है । अपने लेख 'दि रिडल ऑफ आम-नागावलोक ऑफ दि जैन ट्रेडीशन' [प्रो. ऑफ रा. हि. कॉं., 1976, वॉ.9, पृ. 26-36] में डॉ. गोयल ने इस जैन-परम्परा में निहित कुछ अतिशयोक्तियो तथा त्रुटिपूर्ण उल्लेखों को स्वीकार करते हुए भी बप्पभट्टिसूरि की मूल कथा तथा इसके पात्रों की ऐतिहासिकता को असंदिग्ध माना है । उन्होने इस आम-नागावलोक का तादात्म्य न तो द्वितीय नागभट से किया है और न ही आम-नागावलोक के शासनकाल की सुदीर्घता (लगभग 750 ई. से 833ई.) व उसके पुत्र तथा पौत्र दुन्दुक व भोज के कन्नौज पर शासन को स्वीकार किया है । उनका यह मानना है कि बप्पभट्टिसूरि के जीवन का विवरण देने वाले लेखकों ने नागावलोक नामक दो राजाओं की, जो अलग-अलग समय मे हुए, उपलब्धियों को भ्रमवशात् मिला दिया है । एक नागावलोक तो यशोवर्मा का पुत्र आम-नागावलोक था जिसका तादात्म्य 'स्कन्दपुराण' के ब्रह्मखण्ड के धर्मारण्य उपखण्ड में उल्लिखित कन्नौज के शासक आम से किया जा सकता है। दूसरा नागावलोक प्रतिहार शासक द्वितीय नागभट था जिसे चाहमान विग्रहराज के हर्ष-अभिलेख में उसके पूर्वक प्रथम गूवक के स्वामी नागावलोक से अभिन्न माना गया है । इस प्रकार जैनाचार्य बप्पभट्टिसूरि के जीवनकाल [743 ई से 848 ई] में कन्नौज पर शासन करने वाले दो नागावलोक हुए। तेरहवी-चौदहवीं शती के जैन लेखकों ने दोनों को एक मानकर दोनों की उपलब्धियों को मिला दिया । इस सम्बन्ध में डॉ. गोयल ने आम-नागावलोक की उन उपलब्धियों का परिगणन किया है जो वस्तुत: ग्वालियर-प्रशस्ति के अनुसार द्वितीय नागभट पर लागू होती है जैसे आम-नागावलोक की गौड़ शासक धर्म से शत्रुता व उसकी राजगिरिदुर्ग पर विजय । डॉ. गोयल ने आम-नागावलोक के पुत्र दुन्दुक तथा पौत्र भोज का तादात्म्य नागभट के पुत्र रामभद्र तथा पौत्र भोज से किया है । दुन्दुक व रामभद्र दोनों ही का शासन अल्पकालीन था और दोनों कमजोर शासक थे । जैन-परम्परा के अनुसार दुन्दुक ने नर्तकी कान्तिका के प्रति अपने मोह की अति के कारण अपनी प्रजा व अपने सम्बंधियों के सम्मुख अपने को घृणित बना दिया था । दूसरी ओर ग्वालियर-प्रशस्ति में रामभद्र द्वारा कुचले गये सेनापतियों को दम्भी व क्रूर कहा गया है । डॉ. गोयल का प्रश्न है कि आखिर सेनापतियों ने ऐसा क्यों किया? रामभद्र का दुन्दुक से तादात्म्य इसका उत्तर प्रस्तुत कर देता है— नर्तकी के प्रति मोह के कारण उसका राजकार्य की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं गया और सेनापति दम्भी व क्रूर हो गये। इस तादात्म्य से रामभद्र के शासन पर नया प्रकाश पड़ता है । आम-नागावलोक की समस्या के उक्त समाधान से अब यशोवर्मा के पुत्र आम-नागावलोक के शासन [मृत्यु 833 की बजाय आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में कभी] के बाद कन्नौज में वज्रायुध, इन्द्रायुध, तथा चक्रायुध का शासन रखने में, जिन्होंने द्वितीय नागभट के कन्नौज पर अधिकार के पूर्व शासन किया, कोई कठिनाई नहीं रह जाती ।

डॉ. गोयल का योगदान प्राचीन राजस्थान के इतिहास के आभिलेखिक स्रोतों के अध्ययन में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । 750 ई. तक के प्राचीन भारतीय अभिलेखों के तीन संग्रहों—प्राक-गुप्तयुगीन (1982), गुप्तकालीन अभिलेख (1984) तथा मौखरि- पुष्यभूति- चालुक्य युगीन अभिलेख (1987) में उन्होंने राजस्थान के इतिहास से सम्बंधित तथा राजस्थान से प्राप्त अनेक महत्त्वपूर्ण अभिलेखों का सम्पादन

किया है । इनमे अशोक का भाब्रू (कलकत्ता-बैराठ) शिला फलक अभिलेख, सर्वतात का घोसुण्डी (हाथीबाड़ा) अभिलेख, कृत सवत् 282 का नान्दसा यूप-अभिलेख, कृ स. 284 का बर्नाला यूप-अभिलेख, मौखरि महासेनापति बल के बड़वा (कोटा) से प्राप्त तीन पाषाण यूप-लेख,जयपुर राज्य में नगर (बिचपुरिया) से प्राप्त तथा कृ स 321 तिथ्यकित यूप-लेख, बर्नाला से प्राप्त कृ स. 335 का यूप-लेख,धनुत्रात मौखरि का बड़वा यूप-लेख, भट्टिसोम सोगी का नान्दसा यूप-लेख, यौधेयों का विजयगढ (भरतपुर मे बयाना क्षेत्र) पाषाण-लेख, गुहिल शासकों के सामोली, उदयपुर, कल्याणपुर, डूगरपुर तथा धुलेव से प्राप्त अभिलेख आदि प्रमुख हैं । डॉ गोयल ने औलिकरो के मन्दसौर से प्राप्त अभिलेखो को भी सम्पादित किया है, जिनसे गुप्तकालीन राजस्थान के इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ता है । उक्त अभिलेखों के सम्पादन की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि, जैसा कि प्रथम खण्ड की भूमिका मे प्रो ए एल. बैशम ने लिखा है, डॉ गोयल ने उन अभिलेखो का "सम्यक् हिन्दी अनुवाद, परिचयात्मक टीका तथा विस्तृत समीक्षात्मक टिप्पणियो सहित सुलभ करके एक बहुत बड़ी आवश्यकता पूरी की है"। अभिलेखो मे प्रयुक्त कठिन शब्दो का अर्थ, महत्त्वपूर्ण पदो तथा वाक्याशो की व्याख्या, अभिलेखो के विवादास्पद अशो के विभिन्न प्रस्तावित पाठ तथा उनके सम्बन्ध मे विभिन्न विद्वानो के मतो का उल्लेख-- ये सभी विशेषताये स्वय डॉ गोयल के शब्दो मे "अभिलेखो पर प्रकाशित किसी भी भाषा के अन्य किसी भी ग्रन्थ मे अनुपलब्ध है " ।

इनके अतिरिक्त डॉ. गोयल ने राजस्थान के प्रारम्भिक मध्यकाल के राजपूत अभिलेखो पर विवेचनात्मक लेख भी लिखे हैं । इस दृष्टि से मिहिरभोज की ग्वालियर-प्रशस्ति पर राजस्थान इतिहास काग्रेस के पाली सम्मेलन [1974] मे प्रस्तुत किये गये दो लेख बहुत महत्वपूर्ण है। एक लेख ग्वालियर-प्रशस्ति के श्लोक सख्या आठ मे उल्लिखित 'कौमार धामनि पतगसमैरपति' पद के महत्व पर है [प्रो ऑफ रा हि कॉ, 1974, वॉ. 7 पृ, 28-30] । इस श्लोक में द्वितीय नागभट की आन्ध्र, सिन्धु, विदर्भ तथा कलिंग के राजाओ पर विजय के सम्बन्ध मे इस पद का प्रयोग हुआ है । मजूमदार प्रभृति विद्वानो का मानना है कि ये राजा स्वयमेव नागभट के पास आये तथा उन्होंने पालों व राष्ट्रकूटो के विरुद्ध सघ बनाया । डॉ दशरथ शर्मा का मत है कि अपने पिता की पराजय का बदला लेने के लिये नागभट ने स्वय इन राज्यो पर आक्रमण किया और अपने अधीन किया । साधूराम ने नागभट के आक्रमण के कारण चारो राज्यो के अस्तित्व की वैसे ही समाप्ति मानी है जैसे पतगों का अग्नि मे नाश हो जाता है । परन्तु डॉ. गोयल के अनुसार 'उक्त पद मे सिन्ध,आन्ध्र आदि के पतंगो के समान नागभट की शक्ति रूपी अग्नि में भस्म होने का उल्लेख है । अर्थात् ये राजा नागभट रूपी अग्नि की ओर पतगो की भाति दौड़े यानि उस पर आक्रमण किया परन्तु परास्त हुए । आन्ध्र की राजधानी वेगी के चालुक्य शासक प्रथम अम्म के ईडर-दानपत्र तथा तृतीय इन्द्र एव प्रथम अमोघवर्ष के धूमरा दानपत्रो में विजयादित्य के खम्भात तक सफल अभियानो का उल्लेख है । डॉ. गोयल मानते हैं कि हो सकता है कि उसने मालवा या गुजरात में प्रतिहार राज्य पर भी आक्रमण किया हो और नागभट ने उसे विफल कर दिया हो। डॉ गोयल का यह भी विचार है कि नागभट ने इन आक्रमणों को अलग-अलग समय में विफल किया होगा न कि एक ही समय में । सिन्धु तथा अन्य राज्यों की दूरी को देखते हुए तत्कालीन परिस्थितियों में उनका सघ बनना अस्वाभाविक माना जायेगा । डॉ. गोयल की उक्त व्याख्या से नागभट की उपलब्धियों पर नवीन प्रकाश पड़ा है ।

अपने एक अन्य लेख 'रिलेटिव क्रोनोलॉजी ऑफ दि कॉन्क्वेस्ट ऑफ नागभट सेकण्ड' [प्रो. ऑफ रा. हि. कॉ , 1974, वॉ.7 पृ31-36] में डॉ. गोयल ने ग्वालियर-प्रशस्ति के श्लोक सख्या आठ, नौ, दस तथा ग्यारह, मे वर्णित नागभट की विजयों के क्रम के सम्बन्ध में बिल्कुल नये ढग से विचार किया

उन्होंने आज्ञाकारी व सामान्य योग्यता वाले व्यक्तियों को सदैव प्राथमिकता व प्रोत्साहन दिया क्योंकि ये लोग ही उनके साम्राज्यिक स्वार्थों को पूरा कर सकते थे [ पृ vii-viii)। अंग्रेजों की यह नीति सफल रही। परन्तु डॉ. गोयल को आश्चर्य इस बात का है कि अंग्रेजों को देशी राजाओं से स्वैच्छिक आ.?भक्ति कैसे मिल गई ? यही नहीं वे भारतीय शासकों के मस्तिष्क में ब्रिटिश जनता व सरकार की ईमानदारी तथा निष्ठा में गहरी आस्था कैसे उत्पन्न कर सके जबकि यह ठोस तथ्य है कि देशी राजाओ के प्रति ब्रिटिश नीति लगातार धोखों, गैरकानूनी बहानों की आड़ में राज्यो के अपहरण, पारस्परिक सन्धियो व समझौतों की सरासर गलत एव पक्षपातपूर्ण व्याख्याओं, देशी राजाओं की शक्तियो व सुविधाओ को जानबूझकर कम करने जैसी विशेषताओं से युक्त थी। डॉ गोयल के आरोप को झुठलाना आसान नहीं है। डॉ गोयल ब्रिटिश सरकार व लोगो के प्रति देशी राजाओं की श्रद्धा की स्वयं ही व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'यह श्रद्धा भारत मे अग्रेजी पढ़े लिखे लोगो का अग्रेजो के प्रति दृष्टिकोण का प्रतिफल थी।' नीरद चौधरी जैसे शिक्षितों को डॉ गोयल ने इस प्रक्रिया का अग माना है जिन्होंने ब्रिटिश सस्कृति के अच्छे तत्वों की चकाचौंध को ही सब कुछ मान लिया तथा भारत का कल्याण गौराग महाप्रभुओ के मार्ग पर चलने में ही माना। वस्तुत सर टी माधवराव जैसे राजनीतिज्ञ व अन्य देशी नरेश उसी वातावरण की उपज थे जिसकी उपज नीरद चौधरी जैसे अग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय थे। उनकी दृष्टि में अग्रेज भारतीयों के शोषक नहीं थे , वे भारतीयों का भार ढो रहे थे।

डॉ गोयल ा राजस्थान के सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन मे भी योगदान वि.ज्ञापूर्ण रहा है। डॉ आर एस शुक्ल द्वारा रचित ग्रन्थ 'इण्डिया एज नोन टु हरिभद्रसूरि' (मेरठ, 1989), की भूमिका [ पृ ix-xiii] में उन्होंने राजस्थान के प्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरि के जीवन एव कृतत्व का जो सारगर्भित विवेचन दिया है वह इस क्षेत्र के शोधार्थियों के लिये कई महत्वपूर्ण निर्देश देता है। ज्ञातव्य है कि डॉ गोयल ने विभिन्न तथ्यों के आधार पर हरिभद्र सूरि के जीवनकाल का निर्णय करते हुए उन्हें 725 ई से 825 ई के बीच रखा है।

इसी प्रकार डॉ रमा भार्गव के ग्रन्थ 'भक्ति काव्य की परम्परा में मीरा' (जोधपुर, 1991) की भूमिका [ पृ viii xv ] में राजस्थान की महान् भक्त-कवयित्री के सम्बन्ध में डॉ गोयल ने उल्लेखनीय मौलिक चिन्तन का परिचय दिया है। मीरा की भक्ति की प्रकृति से उसकी भक्ति के स्रोतों को पृथक् करके जो विवेचन डॉ गोयल ने प्रस्तुत किया है वह उनकी मौलिक, तथ्यपरक इतिहास-दृष्टि का सशक्त दस्तावेज है। उन्होंने यह दर्शाया है कि किस प्रकार मीरा की भक्ति की प्रकृति किसी विशिष्ट विचारधारा के प्रभाव का परिणाम नहीं थी। वस्तुत मध्यकाल मे भारतीय परम्परा का निश्चित स्वरूप धारण कर चुकी मधुर भक्ति से मीरा की काफी भक्ति भिन्न दिखाई देती है।

4

# एक साहित्यकार की दृष्टि में गोयलजी

## योगेश्वरी शास्त्री

भूमिका लेखन सरल कार्य नही। किसी इतिहासकार द्वारा हिन्दी के साहित्यकारो पर भूमिका-लेखन का कार्य तो और भी दुष्कर है। किन्तु यदि इतिहासकार अपने क्षेत्र मे पहुँचा हुआ हो तो वह इस कार्य को सरल बना सकता है। प्रोफेसर श्रीराम गोयल एक प्रसिद्ध इतिहासकार हैं जो अपने क्षेत्र मे प्रसिद्धि के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके हैं। प्राचीन भारत से लेकर मुगलकाल तक तथा कुछ विशेष वशो एव नरेशो पर आपकी पुस्तके प्रसिद्ध हो चुकी है। आप निरन्तर कार्यरत है। आपको यदि इतिहास का जीता जागता स्तम्भ कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। जैसा कि स्वाभाविक है देश के जाने माने इतिहासकारो मे आपकी गणना की जाती है।

एक जाने माने इतिहासकार को अपने देश के सामाजिक, सास्कृतिक तथा राजनीतिक ह्रास और उन्नति की पूरी जानकारी होती है। अत उसके लिए साहित्य की जानकारी कोई कठिन कार्य नही। ऐसा व्यक्ति यदि हिन्दी साहित्य के किसी लेखक पर अपने विचार व्यक्त करेगा तो उसका विवेचन निश्चय ही अन्य व्यक्तियो के विवेचन की तुलना मे अधिक सारगर्भित होगा और उसमे साहित्य के इतिहास को ऐतिहासिक दृष्टि से आकने के कारण नई दिशा होगी। अपने इतिहास के ज्ञान के झरोखे से वह उस साहित्यकार को तौलने का प्रयत्न करेगा और उस की क्षमता का मूल्यमापन करते हुए कृति और कृतिकार को समाज के सामने एक नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करेगा। यही गोयल जी ने अपनी कुछ भूमिकाओ मे किया है।

मैने डॉ रमा भार्गव की पुस्तक 'भक्तिकाव्य की परम्परा मे मीरा' मे प्रोफेसर गोयल की लम्बी भूमिका आद्योपान्त पढ़ी। इसमे गोयल जी का गहन ज्ञान टपक रहा है। किसी भी पुस्तक की भूमिका यदि निबन्ध के आकार की होती है तो वह कभी-कभी पुस्तक से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। पाठक के लिये या यो कहें कि पाठको के मन मे पुस्तक का मन्तव्य स्पष्ट करने मे वह बहुत उपयोगी हो जाती है। हिन्दी साहित्य मे ऐसी लम्बी भूमिकाए लिखने वाले महान् लेखको मे हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा महाकवि जयशंकर प्रसाद के नाम ले सकते है।[1] शुक्लजी द्वारा लिखी गयी जायसी के 'पद्मावत' की भूमिका अपने आप में ज्ञान का भण्डार है। इसी प्रकार स्वय के नाटक 'चन्द्रगुप्त' की लम्बी भूमिका मे प्रसादजी ने उस सम्पूर्ण इतिहास की जानकारी दी है जो नाटक को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। प्रोफेसर गोयल की लम्बी भूमिकायें विषय को इतिहास के आइने से देखती हैं।[2] अत ये हिन्दी पाठको के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

इतिहास और साहित्येतिहास दोनों का अर्थ एक नहीं है। दोनों के लेखन की प्रक्रिया में दृष्टि-भेद होता है। जहा तक इतिहास का प्रश्न है वह केवल तथ्यों को ही प्रकट नहीं करता अपितु उसमें अन्वेषण,

प्रोफेसर गोयल का एक अन्य लम्बा निबन्ध जो मुझे बहुत प्रभावशाली लगा, 'फणीश्वरनाथ रेणुः एक इतिहासकार के आइने में' है। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, इसमें इस बात का विवेचन है कि इतिहासकार के नाते गोयलजी ने 'रेणु' को किस तरह का पाया। एक इतिहासकार के रूप में गोयलजी ने तथ्यों और तिथियों के आधार पर ही रेणुजी का मूल्यांकन नहीं किया है अपितु साहित्येतिहास की दृष्टि से भी उनको परखा है, अन्यथा उनका मूल्यांकन एकांगी हो जाता। किसी भी साहित्यकार को परखने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण तो आवश्यक ही है, किन्तु अतीत को वर्तमान के साथ जोड़कर देखना भी अत्यन्त आवश्यक है। साहित्य का इतिहास अतीत में ही नहीं होता, अपितु वर्तमान में भी रहता है और भविष्य की निधि बनकर जीता है। प्रोफेसर गोयल ने रेणु को युग के सन्दर्भ में तो देखा ही है, साथ ही रेणु को स्वयं उनकी साहित्यिक और वैचारिक यात्रा की पृष्ठभूमि में देखने का प्रयत्न भी किया है।[12] उन्होंने रेणु के व्यक्तित्व के क्रमिक विकास को भी परखा है और इसमें अपने ऐतिहासिक चश्मे का भरपूर उपयोग किया है। आपने रेणु के विकास-क्रम को 3 युगों में विभाजित किया है —

1947 से 1952 तक ,
1952 से 1972 तक, तथा
1972 से 1977 तक।

1947 से 1952 तक रेणु समाजवादी पार्टी के कार्यकर्त्ता रहे। इस बीच में उन्होंने भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन तथा नेपाली क्रान्ति में भाग लिया। इस बीच में उनका राजनीतिक दलों से मोह भंग भी हुआ और उन्होंने सभी दलों की आलोचना की। राजनीति से तटस्थ होकर वे लेखन-कार्य में लग गये। किन्तु लोकप्रियता की दृष्टि से वे अनजाने ही रहे। इस युग में उन्होंने हिन्दी साहित्य को याद करने लायक कुछ नहीं दिया।

1952 से 1972 के काल में रेणु राजनीति से पूरी तरह तटस्थ रहे। इसी काल में उन्होंने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियाँ इसी युग की देन हैं। यथा, 'मैला आंचल' (1954), 'परतीः परिकथा' (1958), 'ठुमरी' (1963), 'आदिम रात्रि की महक'(1971), 'अगिनखोर', 'पल्टूबाबू' (अधूरा), 'दीर्घतपा' (1965), 'जुलूस' (1966) तथा 'कितना चौराहे' (1967)। इसी काल में रेणु ने 'ज्योत्सना' मासिक भी निकाला। अतः रेणु के जीवन और हिन्दी साहित्य की दृष्टि से यह काल उनका सर्वश्रेष्ठ काल रहा।

1972 से 1977 रेणु के जीवन का संध्याकाल है। यह उनके साहित्य के विकास का नहीं, उतार का युग था जहां पहुँचकर साहित्यकार या तो चुक जाता है और या प्रसिद्धियों की ऊँचाइयों को पा जाता है। किन्तु रेणु तो अपने जीवन के मध्यकाल में ही सब कुछ पा चुके थे। इस युग तक आते-आते उनकी गति धीमी हो गई थी। स्वास्थ्य या परिस्थितियों के कारण उनकी महत्वाकांक्षा के महल धराशायी हो गये थे। राजनीति में पुनः आ जाने पर भी वे कुछ नहीं लिख पाये। जो लिखा वह अधूरा ही रह गया।

इन तथ्यों के प्रकाश में गोयलजी का कहना है कि रेणु जब-जब राजनीति से जुड़े वे कुछ नहीं लिख पाये। राजनीति से अलग रहने पर ही उनका साहित्यकार प्रकाश में आया। किन्तु वह अवधारणा इस सीमा तक ही ठीक है कि वे उस समय कुछ नहीं लिख पाये। परन्तु राजनीति और साहित्य जीवन के दो अलग-अलग पहलू हैं जो एक दूसरे से कभी मिल नहीं सकते। राजनीति करने वाले को इतनी फुरसत ही कहाँ होती है कि वह जीवन के बारे में कुछ सोच सके, समाज को आत्मसात कर सके और आत्मसात कर भी ले तो उसे अभिव्यक्ति दे सके। यही कारण था कि सोचने पर भी रेणु कुछ नहीं लिख पाये होंगे और वही विचार राजनीति से दूर रहने पर पुस्तक रूप में निकल पड़े होंगे। उन पर यह आरोप

लगाना भी व्यर्थ है कि उनके साहित्य मे स्वतत्रता आन्दोलन तथा राजनीति के अनुभवो की गूज का आभास अत्यल्प है। एक साहित्यकार को यह अधिकार है कि वह अपनी इच्छा और अपने विचारो को समाज मे जिस पद्धति से प्रस्तुत करना चाहे करे। वह चाहे तो किसी भी लोकप्रिय व्यक्ति की लोकप्रियता को कम आक सकता है और चाहे तो छोटे से छोटे व्यक्ति को महान बना कर प्रस्तुत कर सकता है। रेणुजी ने भी वही किया। उन्होने अपने समाजवादी प्रगतिशील विचारो को अपने साहित्य मे उतारा है, समाजवादी होने के कारण ही उन्होने शहर और गाव के अन्तर को स्पष्ट करते हुए ग्रामीण और शहरी समस्याओ पर प्रकाश डाला है।

प्रो गोयल ने रेणु को राजनीति से दूर रखकर उनके व्यक्तित्व के विकास को सामाजिक परिवेश में देखना उचित समझा है और इसीलिए उन्होने उनकी सबलता और दुर्बलता दोनो को ही देखा है। प्रो गोयल का कहना है कि आलोचको को रेणुजी के अन्तर्विरोधो को उनके पुस्तक मे आये सिद्धान्त वाक्यो से जोड़कर उन्हे दुहरा, तिहरा व्यक्तित्व वाला नही कहना चाहिए। यह आवश्यक नही कि कोई साहित्यकार जैसा लिखता है वैसा जीवन मे भी हो। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे अन्तर्विरोध होते ही है। यदि रेणुजी के जीवन म भी थे तो कोई आश्चर्य नही। प्रो. गोयल ने रेणु की पूरी जीवनी सक्षेप मे बताते हुए उनके बालमन पर पड़े हुए राजनीतिक प्रभाव को भी दर्शाया है तथा एक इतिहासकार के नाते उनकी बताई हुई तिथियो की गलतियाँ भी निकाली है।[13] रेणु ने 1942 के आन्दोलन में भाग लिया, जेल गये, कोईराला परिवार के क्रान्तिकारी विचारो मे प्रभावित हुए तथा जयप्रकाशबाबू से प्रेरणा ग्रहण की, बनारस विश्वविद्यालय के समाजवादी वातावरण ने उनके दृष्टिकोण को प्रखरता प्रदान की। इस विकास की तिथियाँ उनके वैचारिक व्यक्तित्व के राष्ट्रवादी, क्रान्तिकारी तथा समाजवादी पहलुओ का स्पष्ट करती है।

प्रो गोयल ने उनके निजी जीवन की झलक प्रस्तुत करते हुए ध्यान दिलाया है कि रेणुजी ने दो विवाह किये थे जो उनके शौकीन प्रवृत्ति के सूचक है। वास्तव म परिपक्व मस्तिष्क वाला कोई व्यक्ति इन विवाहों के लिए समाज को दोषी नही ठहरा सकता। रेणु का स्वय का स्वार्थ ही उन्हे दो विवाहों के लिए प्रेरित करता रहा होगा। भौतिकवादी दृष्टिकोण ने ही उन्हे खाने पीने, पहनने का शौकीन बनाया। उन्होने ग्रामीण अचल का वर्णन अवश्य किया किन्तु स्वय उस वातावरण मे सास नही ले सके। उस वातावरण मे रहने में उनका दम घुटता था। यह वास्तव मे आश्चर्य की बात है कि ऐसा साहित्यकार आचलिक उपन्यास और वह भी प्रसिद्ध ख्यातनाम उपन्यास कैसे लिख सका। यह तथ्य रेणु के दोहरे व्यक्तित्व का ही द्योतक है।

प्रो गोयल ने रेणु के व्यक्तित्व का विकास उनके साहित्य विकास की दृष्टि से दिखाते हुए उनके धार्मिक विचारो मे भी गजब का फेर-बदल दिखाया है। प्रारम्भ मे रेणु का परिवार वैष्णव था किन्तु बाद में आर्यसमाजी बन गया और युवावस्था तक आते-आते समाजवादी प्रभाव के कारण स्वय रेणु नास्तिक हो गये तथा बाद मे पुन आस्थावादी बने और मूर्तिपूजक हो गये। बाद मे वे शक्ति के उपासक होकर तन्त्र साधना मे विश्वास करने लगे। बिहार आन्दोलन के समय आपने अपने आपको रामकृष्णाइट घोषित कर दिया। प्रो गोयल ने रेणुजी का यह चित्र वास्तव मे बड़ा सटीक उतारा है। व्यक्ति किस प्रकार अपने विचारों के मुखौटे बदलता है, यह देखकर आश्चर्य किये बिना नहीं रहा जाता।

जीवन में सुखों के उपभोग में विश्वास करने वाले रेणु के मित्रो की सख्या अनन्त थी। उनके छोटे-बड़े सभी तरह के मित्र थे। दो-दो पत्नियो के होते हुए भी प्रेम के खेल के वे अनुपम खिलाड़ी थे। पीना तो उनका शौक ही बन गया था। बिना पिये तो लिख ही नहीं सकते थे।

धार्मिक विचारो में अन्तर्विरोध के समान ही रेणुजी के राजनीतिक विचारों मे भी बिखराव ही था।

वे कभी राजनीति से जुड़ जाते थे तो कभी दूर होकर उसकी आलोचना करते थे। 1952 से 1962 तक राजनीति से सन्यास लेकर ही वे साहित्यिक कार्य कर सके। हम उन्हें राजनीति से अलग करके देखने में विश्वास नहीं करते क्योंकि राजनीति ने उन्हें जनता से जोड़ा, जनता के दुःख दर्द को समझने लायक बनाया और उन्हें अच्छा साहित्य परोसने की क्षमता प्रदान की। जीवन के अन्तिम समय में वे फिर राजनीति में कूद पड़े। महत्वाकांक्षा पूरी न होने पर उन्होंने राजनेताओं के दुहरे तिहरे चरित्रों को लेकर बड़ा दुःख व्यक्त किया है। राजनीतिक जीवन में उनके अन्तर्विरोधों को देखते हुए और विचारों के बदलाव का अनुभव करते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महत्वाकांक्षा ही उन्हें राजनीति में लाई और जब वह सफल नहीं हुए तो उनके लिए राजनीति के अंगूर खट्टे हो गये। उन्होंने 'ज्योत्सना' में अपने अंचल की प्रगति के बारे में लम्बे-लम्बे लेख लिखे। प्रगतिशील विचारों वाले लेखों के कारण ही उनकी छवि प्रगतिशील लेखक की बनी, परन्तु आपात्काल का विरोध करते हुए भी वे बराबर इन्दिराजी के समर्थक बने रहे।

गोयलजी द्वारा लिखे गये निबन्ध हमारे सम्मुख क्रमबद्ध घटनाओं के माध्यम से चित्र प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल रहे हैं। यह कार्य एक इतिहासकार ही कर सकता है, जो गोयलजी ने किया है। किन्तु इन निबन्धों में वे मात्र इतिहासकार ही नहीं रहे हैं। जैसाकि उन्होंने लिखा है, उनकी हिन्दी साहित्य में रुचि बचपन से ही रही है और रेणु के उपन्यासों को वे किशोरावस्था में पढ़ते रहे थे। इस साहित्यिक प्रवृत्ति के कारण ही उनकी दृष्टि में इतिहास और साहित्य का मेल हो सका और उनमें किसी साहित्यकार को परखने की अद्भुत क्षमता आई। हिन्दी साहित्यकारों पर लिखे गये उनके निवन्ध उनके हिन्दी ज्ञान को तो प्रकट करते ही हैं, साथ ही उन्हें हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए पूर्णतः सक्षम सिद्ध करते हैं। यदि आप हिन्दी साहित्य का अपनी दृष्टि से नवीन इतिहास लिखें तो वह हिन्दी साहित्य को एक बहुमूल्य देन होगी और हिन्दी वालों के लिए गौरव का विषय होगा।

## संदर्भ-सूची

1. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ. मोतीचन्द्र तथा डॉ. विश्वम्भरशरण पाठक की लम्बी भूमिकायें भी उल्लेखनीय हैं।
2. गोयलजी द्वारा लिखित लम्बी भूमिकाओं में इस लेख में विवेचित उनकी मीरा तथा रेणु पर लिखित भूमिकाओं के अतिरिक्त श्री अरुण के ग्रन्थ 'यक्षों की भारत को देन' (जोधपुर, 1990) में लिखित भूमिका (पृ. xiii-xxxii) तथा डॉ. सुस्मिता पाण्डे की मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन पर प्रकाशित अंग्रेजी ग्रन्थ (मेरठ, 1989) की भूमिका (पृ. ix-xxxiii) उल्लेखनीय हैं।
3. रमा भार्गव की पुस्तक 'भक्ति काव्य की परम्परा में मीरां', गोयलजी की भूमिका, पृ. vii
4. वही, पृ. viii
5. वही।
6. वही, पृ. ix
7. वही, पृ. x
8. वही, पृ. xi
9. वही, पृ. xi अच्युतानन्ददास, जगन्नाथदास, अनन्तदास, यशोवन्तदास तथा चैतन्यदास (जगन्नाथ दास तो स्त्रीवेश तक धारण करते थे)।
10. कबीर ने अपने काव्य में राजा राम, भरतार, दुल्हन, मंगलाचार, जोवनमदमाती आदि शब्दों का प्रयोग किया है जो मधुरा भक्ति का लक्षण है (वही, पृ. xiii)।
11. गोदा आण्डाल (तमिल), कन्नड़ की अक्क, मराठी की महदम्बा, जनाबाई आदि (वही, पृ. xiii)।
12. गोयल, श्रीराम, 'फणीश्वरनाथ रेणु एक इतिहासकार के आइने में' मध्यधारा, इलाहाबाद।

13 उदाहरणार्थ, अपने 'आत्मपरिचय' में रेणु दावा करते हैं कि 1930 31 में जब वह चौथी कक्षा के विद्यार्थी थे, उन्हाने महात्मा गाधी की गिरफ्तारी की खबर मिलते ही स्कूल में हड़ताल करवा दी थी। इसी ग्रन्थ में वह 1928 मे मिडिल में पढ़ाई जाने वाली पुस्तक 'साहित्य पाठ' की चर्चा करते हैं जो उनके हाथ में तीन दशक बाद अचानक पड़ गई थी। इस पर उनके हाथ से लिखा था 'अस्य पुस्तकाधिकारी' आदि। लेकिन *1930-31 में चतुर्थ कक्षा का विद्यार्थी 1928 में पहली कक्षा में ही हो सकता था, मिडिल में नहीं।*

वे कभी राजनीति से जुड़ जाते थे तो कभी दूर होकर उसकी आलोचना करते थे। 1952 से 1962 तक राजनीति से सन्यास लेकर ही वे साहित्यिक कार्य कर सके। हम उन्हें राजनीति से अलग करके देखने में विश्वास नहीं करते क्योंकि राजनीति ने उन्हें जनता से जोड़ा, जनता के दुःख दर्द को समझने लायक बनाया और उन्हें अच्छा साहित्य परोसने की क्षमता प्रदान की। जीवन के अन्तिम समय में वे फिर राजनीति में कूद पड़े। महत्वाकांक्षा पूरी न होने पर उन्होंने राजनेताओं के दुहरे तिहरे चरित्रों को लेकर बड़ा दुःख व्यक्त किया है। राजनीतिक जीवन में उनके अन्तर्विरोधों को देखते हुए और विचारों के बदलाव का अनुभव करते हुए हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महत्वाकांक्षा ही उन्हें राजनीति में लाई और जब वह सफल नहीं हुए तो उनके लिए राजनीति के अंगूर खट्टे हो गये। उन्होंने 'ज्योत्सना' में अपने अंचल की प्रगति के बारे में लम्बे-लम्बे लेख लिखे। प्रगतिशील विचारों वाले लेखों के कारण ही उनकी छवि प्रगतिशील लेखक की बनी, परन्तु आपात्काल का विरोध करते हुए भी वे बराबर इन्दिराजी के समर्थक बने रहे।

गोयलजी द्वारा लिखे गये निबन्ध हमारे सम्मुख क्रमबद्ध घटनाओं के माध्यम से चित्र प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल रहे हैं। यह कार्य एक इतिहासकार ही कर सकता है, जो गोयलजी ने किया है। किन्तु इन निबन्धों में वे मात्र इतिहासकार ही नहीं रहे हैं। जैसाकि उन्होंने लिखा है, उनकी हिन्दी साहित्य में रुचि बचपन से ही रही है और रेणु के उपन्यासों को वे किशोरावस्था में पढ़ते रहे थे। इस साहित्यिक प्रवृत्ति के कारण ही उनकी दृष्टि में इतिहास और साहित्य का मेल हो सका और उनमें किसी साहित्यकार को परखने की अदभुत क्षमता आई। हिन्दी साहित्यकारों पर लिखे गये उनके निवन्ध उनके हिन्दी ज्ञान को तो प्रकट करते ही हैं, साथ ही उन्हें हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के लिए पूर्णतः सक्षम सिद्ध करते हैं। यदि आप हिन्दी साहित्य का अपनी दृष्टि से नवीन इतिहास लिखें तो वह हिन्दी साहित्य को एक बहुमूल्य देन होगी और हिन्दी वालों के लिए गौरव का विषय होगा।

## संदर्भ-सूची

1. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल , डॉ. मोतीचन्द्र तथा डॉ. विश्वम्भरशरण पाठक की लम्बी भूमिकायें भी उल्लेखनीय हैं।
2. गोयलजी द्वारा लिखित लम्बी भूमिकाओं में इस लेख में विवेचित उनकी मीरा तथा रेणु पर लिखित भूमिकाओं के अतिरिक्त श्री अरुण के ग्रन्थ 'यक्षों की भारत को देन' (जोधपुर, 1990) में लिखित भूमिका (पृ. xiii-xxxii) तथा डॉ. सुस्मिता पाण्डे की मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन पर प्रकाशित अंग्रेजी ग्रन्थ (मेरठ, 1989) की भूमिका (पृ. ix-xxxiii) उल्लेखनीय हैं।
3. रमा भार्गव की पुस्तक 'भक्ति काव्य की परम्परा में मीरां', गोयलजी की भूमिका, पृ. vii
4. वही, पृ. viii
5. वही।
6. वही, पृ. ix
7. वही, पृ. x
8. वही, पृ. xi
9. वही, पृ. xi अच्युतानन्ददास, जगन्नाथदास, अनन्तदास, यशोवन्तदास तथा चैतन्यदास (जगन्नाथ ८. स्त्रीवेश तक धारण करते थे)।
10. कबीर ने अपने काव्य में राजा राम, भरतार, दुल्हन, मंगलाचार, जोबनमदमाती आदि शब्दों का है जो मधुरा भक्ति का लक्षण है (वही, पृ. xiii)।
11. गोदा आण्डाल (तमिल), कन्नड़ की अक्क, मराठी की महदम्बा, जनाबाई आदि (वही, पृ.
12. गोयल, श्रीराम, 'फणीश्वरनाथ रेणु एक इतिहासकार के आइने में' माध्यधारा, इलाहबाद।

13 उदाहरणार्थ, अपने 'आत्मपरिचय' में रेणु दावा करते हैं कि 1930 31 में जब वह चौथी कक्षा के विद्यार्थी थे, उन्होंने महात्मा गांधी की गिरफ्तारी की खबर मिलते ही स्कूल में हड़ताल करवा दी थी ! इसी ग्रन्थ में वह 1928 में मिडिल में पढ़ाई जाने वाली पुस्तक 'साहित्य पाठ' की चर्चा करते हैं जो उनके हाथ में तीन दशक बाद अचानक पड़ गई थी। इस पर उनके हाथ से लिखा था 'अस्य पुस्तकाधिकारी' आदि। लेकिन 1930 31 में चतुर्थ कक्षा का विद्यार्थी 1928 में पहली कक्षा में ही हो सकता था, मिडिल में नहीं।

# खण्ड 2

# राजस्थान के इतिहास के कुछ अध्याय

# 1

# राजस्थान के मालव जनपद का उत्तर गुप्त वंश

वी. वेन्जमिन

राजस्थान का छठी शती ई. का इतिहास अनेक समस्याओ से परिपूर्ण है। इन समस्याओ मे प्रधानतम है छठी शती ई. मे उत्तर भारत मे ख्याति प्राप्त करने वाले उत्तर गुप्त वंश का आदिराज्य राजस्थान मे था अथवा नहीं। यह सम्भावना सर्वप्रथम प्रोफेसर श्रीराम गोयल ने रखी थी।[1] अब तक यह प्रोफेसर दिय शुक्ल,[2] डॉ. सोहन कृष्ण पुरोहित,[3] डॉ. शंकर गोयल,[4] प्रस्तुत निबन्ध की लेखिका[5] आदि अनेक इतिहासकारो द्वारा स्वीकृत हो चुकी है। लेकिन अनेक पुराने इतिहासकार यथा हार्नले,[6] फायर्स,[7] सालेटोर,[8] रायचौधुरी,[9] वैद्य[10] तथा मुकर्जी[11] आदि ने उत्तर गुप्तो का आदिराज्य मालवा माना है। उनके मत का आधार बाण का यह कथन है कि माधवगुप्त, जो हर्ष का सखा था (और जिसे आदित्यसेन के पिता माधवगुप्त से अभिन्न माना जाता है) मालवराज का पुत्र था। इस "मालव" जनपद की पहचान पश्चिमी या पूर्वी मालवा से की जाती है जबकि प्रोफेसर गोयल ने इसे राजस्थान का मालव जनपद बताया है।

इसके विपरीत फ्लीट,[12] मजूमदार,[13] बसाक,[14] आर डी बनर्जी[15] और बी पी सिन्हा[16] आदि इतिहासकारो ने उनका आदिराज्य मगध बताया है। इन विद्वानो का कहना है—

(1) आदित्यसेन, विष्णुगुप्त तथा द्वितीय जीवितगुप्त के अभिलेख मगध मे प्राप्त हुए है। इससे लगता है कि उनके शासन का केन्द्र मगध था। अतएव उनके पूर्वजो का राज्य भी मगध मे रहा होगा।

(2) अफसड-अभिलेख मे दामोदरगुप्त के पुत्र तथा माधवगुप्त के पिता महासेनगुप्त की सुस्थितवर्मा पर प्राप्त विजय की यशोगाथा के लौहित्य तट पर गाये जाने का उल्लेख है। यदि महासेनगुप्त मालवा का राजा होता और उसके शासनकाल मे मगध शर्ववर्मा मौखरि के अधिकार मे होता तो यह कैसे सम्भव था कि महासेनगुप्त मगध तथा उत्तरी बंगाल को पार कर कामरूप को आक्रान्त करता और वहा के राजा सुस्थितवर्मा पर विजय प्राप्त करता।

(3) अफसड-अभिलेख के अनुसार उत्तर गुप्त वंश के तीसरे शासक प्रथम जीवितगुप्त ने गौड़ एव हिमालय के समीपवर्ती क्षेत्रो पर विजय प्राप्त की थी। इससे स्पष्ट है कि उसका अपना राज्य बंगाल के समीप था, न कि दूरस्थ मालवा मे।

(4) हर्ष ने माधवगुप्त को मगध मे नियुक्त किया था। यदि उत्तर गुप्तो का आदि राज्य मालवा मे होता तो हर्ष माधवगुप्त को मालवा का शासक बनाता, मगध का नहीं।

लेकिन उत्तर गुप्तो का आदि राज्य मालवा मे स्वीकार करने वाले इतिहासकारो ने उपर्युक्त तर्कों का यह कहकर खण्डन किया है :—

(1) बाण के "हर्षचरित" से स्पष्ट है कि महासेनगुप्त 'मालवराज' था और यदि महासेनगुप्त के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया जाए तो यही बात उसके पूर्वजों—

दामोदरगुप्त तक—के संबंध में स्वीकार करने में कोई अनौचित्य नहीं है।

(2) उत्तर गुप्तों का आदिराज्य मगध में मानने वाले इतिहासकारों का यह कहना कि उत्तर गुप्तों का आदिराज्य इस प्रदेश में मान लेने पर ही प्रथम जीवितगुप्त के द्वारा समुद्रतटीय शत्रुओं (बंगाल के) और महासेनगुप्त के द्वारा कामरूप नरेश सुस्थितवर्मा की पराजय सम्भव जान पड़ती है, उचित नहीं है, क्योंकि विशुद्ध तर्क की दृष्टि से यदि कन्नौज को केन्द्र मान कर शासन करने वाले मौखरि नरेश ईश्वरवर्मा का पुत्र ईशानवर्मा अपने यौवराज्य काल में गौड़ों को पराजित कर सकता था तो उस क्षेत्र पर मालवा का उत्तर गुप्त नरेश प्रथम जीवितगुप्त विजय प्राप्त क्यों नहीं कर सकता था?' पश्चिमी मालवा के शासक यशोधर्मा ने भी लौहित्य तट तक विजय प्राप्त की थी। *अत: मालवा के ही दूसरे शासक महासेनगुप्त के लिए कामरूप विजय असम्भव नहीं* थी। हे. च. रायचौधुरी[17] का कथन है कि महासेनगुप्त के लौहित्य तट तक पहुँचने और उस पर आधिपत्य स्थापित करने से पूर्व उसके पूर्वजों, कुमारगुप्त एवं दामोदरगुप्त, ने मौखरियों को पराजित कर उनका अवरोध समाप्त कर दिया था। परन्तु यह तर्क समीचीन नहीं है। प्रोफेसर गोयल के शब्दों में मगध विषयक मत के समर्थक एक ओर तो महासेनगुप्त के द्वारा मालवा से कामरूप की विजय इसलिए असम्भव मानते है क्योंकि मगध में मौखरियों का राज्य था और दूसरी तरफ वे इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए महासेनगुप्त को मगध का स्वामी मान लेते हैं। अर्थात् जिस काल में महासेनगुप्त के लिए मगध पार कर कामरूप जाना असम्भव था, उसी समय में मगध पर शासन करना सम्भव था। यह तर्क कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता।

(3) मगध विषयक मत के समर्थकों का यह कहना कि हर्ष द्वारा माधवगुप्त को राज्य करने के लिए वही प्रदेश दिया गया जहाँ उसके पूर्वजों ने शासन किया था, एक पूर्वाग्रह मात्र है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रभाकरवर्द्धन के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में उत्तर गुप्तों के हाथ से राजलक्ष्मी निकल चुकी थी और हर्ष के काल में वे राज्यविहीन रहे थे। ऐसी स्थिति में माधवगुप्त का मगध पर अधिकार परिस्थितिजन्य था, न कि उसके पैतृक अधिकार की पुनर्प्रतिष्ठा।

(4) आदित्यसेन आदि उत्तर गुप्त नरेशों के लेखों का मगध से प्राप्त होना उस क्षेत्र पर उनके अपने अधिकार का द्योतक है, इस बात का नहीं कि उनके पूर्वज भी वहाँ शासन करते थे।

इस प्रकार ज्ञात तथ्यों के प्रकाश में छठी शती में उत्तर गुप्त शासकों को मगध का नहीं अपितु मालव जनपद का शासक मानना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। लेकिन यह मालव जनपद था कहाँ? सिन्हा ने (जो यह मानते हैं कि महासेनगुप्त के समय तक उत्तर गुप्त नरेश मगध के शासक थे और महासेनगुप्त मगध से मालव जनपद में आकर बसा था) बाण के मालव जनपद को पश्चिमी मालवा या अवन्ति देश माना है।[18] लेकिन छठी शती में पश्चिमी मालवा पर यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन का शासन था। उज्जैन-मन्दसौर क्षेत्र उनके साम्राज्य का हृदय-स्थल था। यशोधर्मा के मन्दसौर अभिलेखों [19] में तथा महाराज गौरि के छोटी सादड़ी व मन्दसौर अभिलेखों में उत्तर गुप्त वंश का अस्तित्व तक संकेतित नहीं है। इसलिए सामान्यत: यह माना जाता है कि उत्तर गुप्तों का निवास स्थान पूर्वी मालवा में था। [20] यह मत वात्स्यायन के ग्रन्थ ''कामसूत्र'' पर यशोधरलिखित टीका ''जयमंगला'' पर आधृत है। ''कामसूत्र'' में ''आवन्तिका:'' और ''मालव्य'' के उल्लेख पर टीका करते हुए यशोधर कहता है कि अवन्ति उज्जयनी देश (पश्चिमी मालवा) को कहते हैं (आवन्तिका उज्जयिनी देश भवा:। ता एवापरमालव्य:) और जहाँ मात्र मालव्य शब्द का प्रयोग होता है वहाँ पूर्वी मालवा से तात्पर्य होता है (मालव्य इति पूर्वमालव भवा:)।[21] अभी तक किसी विद्वान् ने इस साक्ष्य में शंका नहीं की है। परन्तु एस. आर. गोयल के विचार से यशोधर के कथन के आधार पर बाण के मालव जनपद की पहिचान पूर्वी मालवा से नहीं की जा सकती। यशोधर एक परवर्ती

लेखक है। उसने अपनी टीका 13 वीं शती में लिखी थी।[22] तब तक आधुनिक मालवा प्रदेश इस नाम से विख्यात हो चुका था। इसलिए यशोधर के साक्ष्य से मात्र यह निश्चित माना जा सकता है कि उसके अपने युग मे "मालव" से आशय पूर्वी मालवा से होता था। परन्तु यह प्रमाणित करने के लिए अभी तक कोई साक्ष्य नही मिला है कि छठी शती मे भी मालव से आशय पूर्वी मालवा से ही होता था। इसके विपरीत यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण है कि छठी-सातवीं शताब्दी तक "मालव" नाम का प्रयोग राजस्थान के अजमेर-टोंक-जयपुर प्रदेश के लिए होता था और इसलिए प्रोफेसर गोयल का विचार है कि उत्तर गुप्तों के राज्य की स्थिति राजस्थान के इस मालव जनपद मे ही माननी चाहिए। उपलब्ध साक्ष्य के सक्षिप्त सर्वेक्षण से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाएगा —

(1) मालव जाति मूलत पजाब मे रहती थी। उसकी पहिचान सिकन्दर के इतिहासकारो द्वारा उल्लिखित मल्लोई जाति से (जो चतुर्थ शती ई पू मे रावी-चिनाब दोआब मे रहती थी) सुनिश्चित है, क्योकि सिकन्दर के इतिहासकारों मल्लोई को औक्सीड्रेकाई का घनिष्ठ मित्र बताते है और भारतीय साक्ष्य "मालव-क्षुद्रक" द्वन्द्व का उल्लेख करते हैं। इसके बाद यह भटिण्डा के मार्ग से आकर राजस्थान मे बसी जहाँ इसकी राजधानी भूतपूर्व जयपुर राज्य की उणियारा तहसील मे नगर (प्राचीन मालवनगर) स्थान था। नगर से मालवों के सिक्के जो ईसा की प्रारम्भिक शतियो के है, सहस्रो की सख्या मे मिले है। वहाँ दूसरी शती ई मे उत्तमभद्रो के मित्र शाक सरदार उपवदात से इसका सघर्ष हुआ। इसके बाद इसे यहाँ चष्टन वश के शकों का प्रभुत्व मानना पड़ा। 226 ई के लगभग यह स्वतन्त्र हुई जैसा कि इसके नान्दसा से प्राप्त अभिलेख से प्रमाणित है। चौथी शती ई मे इसे समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। उस समय भी यह राजस्थान में ही बसी हुई थी क्योकि समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे इसका उल्लेख आर्जुनायनो (देहली जयपुर-आगरा प्रदेश) व यौधेया (उत्तरी राजस्थान व दक्षिणी पजाब) के साथ किया गया है। इस प्रकार प्रारम्भिक गुप्त काल तक मालव जाति निश्चय ही अजमेर-टोंक-जयपुर प्रदेश म बसी हुई थी।

(2) आधुनिक मालवा (पूर्वी और पश्चिमी) को "मालवा" नाम से ख्याति सम्भवत परमार युग मे प्राप्त हुई, क्योकि गुप्त काल और परमार काल के बीच मे राजस्थान का मालव जनपद "मालव" कहलाता रहा और तत्कालीन लेखक इसको अवन्ति से भिन्न मानते रहे। परमार युग के पूर्व उज्जयिनी प्रदेश को "मालव" कहने वाले उल्लेख अत्यन्त विरल है, और इनसे मात्र यह प्रमाणित होता है कि सातवी शती म उज्जयिनी प्रदेश के लिए यह नाम प्रयोग मे आना प्रारम्भ हो गया था, परन्तु लोकप्रिय नही हुआ था। पाँचवीं-छठी शती मे, जब उत्तर गुप्तो ने शासन किया, स्थिति सर्वथा भिन्न थी। इस युग मे अवन्ति के लिए "मालव" नाम का प्रयोग बिल्कुल नही होता था। इतना ही नही हमारे साक्ष्य यह भी स्पष्ट करते है कि अवन्ति और मालव सर्वथा भिन्न माने जाते थे और मालव जनपद अवन्ति से उत्तर की ओर स्थित माना जाता था। उदाहरणार्थ,

(अ) स्वय वात्स्यायन ने अपने "कामसूत्र" मे, जिसकी रचना गुप्तकाल के प्रारम्भ मे हुई, अवन्ति और मालव जनपदो को पृथक्-पृथक् माना है।[23] यह कथन तो उसके तेरहवीं शती के टीकाकार यशोधर का है कि अवन्ति का तात्पर्य "पश्चिमी मालवा" है और "मालव" का पूर्वी मालवा। स्वय वात्स्यायन ने ऐसा नहीं कहा है।

(आ) "भागवत पुराण" मे, जिसकी रचना रायचौधुरी के अनुसार उत्तर गुप्तो के युग के आसपास हुई[24], अर्बुद या आबू का उल्लेख "मालव" के साथ किया गया है (सौराष्ट्रावन्त्याभीराश्च शूरा अर्बुद मालवा) और अवन्ति के

दामोदरगुप्त तक—के संबंध में स्वीकार करने में कोई अनौचित्य नहीं है।

(2) उत्तर गुप्तों का आदिराज्य मगध में मानने वाले इतिहासकारों का यह कहना कि उत्तर गुप्तों का आदिराज्य इस प्रदेश में मान लेने पर ही प्रथम जीवितगुप्त के द्वारा समुद्रतटीय शत्रुओं (बंगाल के) और महासेनगुप्त के द्वारा कामरूप नरेश सुस्थितवर्मा की पराजय सम्भव जान पड़ती है, उचित नहीं है, क्योंकि विशुद्ध तर्क की दृष्टि से यदि कन्नौज को केन्द्र मान कर शासन करने वाले मौखरि नरेश ईश्वरवर्मा का पुत्र ईशानवर्मा अपने यौवराज्य काल में गौड़ों को पराजित कर सकता था तो उस क्षेत्र पर मालवा का उत्तर गुप्त नरेश प्रथम जीवितगुप्त विजय प्राप्त क्यों नहीं कर सकता था? पश्चिमी मालवा के शासक यशोधर्मा ने भी लौहित्य तट तक विजय प्राप्त की थी। अत: मालवा के ही दूसरे शासक महासेनगुप्त के लिए कामरूप विजय असम्भव नहीं थी। हे. च. रायचौधुरी[17] का कथन है कि महासेनगुप्त के लौहित्य तट तक पहुँचने और उस पर आधिपत्य स्थापित करने से पूर्व उसके पूर्वजों, कुमारगुप्त एवं दामोदरगुप्त, ने मौखरियो को पराजित कर उनका अवरोध समाप्त कर दिया था। परन्तु यह तर्क समीचीन नहीं है। प्रोफेसर गोयल के शब्दों में मगध विषयक मत के समर्थक एक ओर तो महासेनगुप्त के द्वारा मालवा से कामरूप की विजय इसलिए असम्भव मानते है क्योंकि मगध में मौखरियो का राज्य था और दूसरी तरफ वे इस कठिनाई से मुक्ति पाने के लिए महासेनगुप्त को मगध का स्वामी मान लेते हैं। अर्थात् जिस काल मे महासेनगुप्त के लिए मगध पार कर कामरूप जाना असम्भव था, उसी समय में मगध पर शासन करना सम्भव था। यह तर्क कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता।

(3) मगध विषयक मत के समर्थकों का यह कहना कि हर्ष द्वारा माधवगुप्त को राज्य करने के लिए वही प्रदेश दिया गया जहाँ उसके पूर्वजों ने शासन किया था, एक पूर्वाग्रह मात्र है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रभाकरवर्द्धन के राज्यकाल के अन्तिम दिनों में उत्तर गुप्तो के हाथ से राजलक्ष्मी निकल चुकी थी और हर्ष के काल में वे राज्यविहीन रहे थे। ऐसी स्थिति में माधवगुप्त का मगध पर अधिकार परिस्थितिजन्य था, न कि उसके पैतृक अधिकार की पुनर्प्रतिष्ठा।

(4) आदित्यसेन आदि उत्तर गुप्त नरेशों के लेखों का मगध से प्राप्त होना उस क्षेत्र पर उनके अपने अधिकार का द्योतक है, इस बात का नहीं कि उनके पूर्वज भी वहाँ शासन करते थे।

इस प्रकार ज्ञात तथ्यों के प्रकाश में छठी शती में उत्तर गुप्त शासकों को मगध का नहीं अपितु मालव जनपद का शासक मानना ही अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। लेकिन यह मालव जनपद था कहाँ? सिन्हा ने (जो यह मानते हैं कि महासेनगुप्त के समय तक उत्तर गुप्त नरेश मगध के शासक थे और महासेनगुप्त मगध से मालव जनपद में आकर बसा था) बाण के मालव जनपद को पश्चिमी मालवा या अवन्ति देश माना है।[18] लेकिन छठी शती में पश्चिमी मालवा पर यशोधर्मा-विष्णुवर्द्धन का शासन था। उज्जैन-मन्दसौर क्षेत्र उनके साम्राज्य का हृदय-स्थल था। यशोधर्मा के मन्दसौर अभिलेखों [19] में तथा महाराज गौरि के छोटी सादड़ी व मन्दसौर अभिलेखों में उत्तर गुप्त वंश का अस्तित्व तक संकेतित नही है। इसलिए सामान्यत: यह माना जाता है कि उत्तर गुप्तों का निवास स्थान पूर्वी मालवा में था। [20] यह मत वात्स्यायन के ग्रन्थ "कामसूत्र" पर यशोधरलिखित टीका "जयमंगला" पर आधृत है। "कामसूत्र" में "आवन्तिका:" और "मालव्य" के उल्लेख पर टीका करते हुए यशोधर कहता है कि अवन्ति उज्जयनी देश (पश्चिमी मालवा) को कहते हैं (आवन्तिका उज्जयिनी देश भवा:। ता एवापरमालव्य:) और जहाँ मात्र मालव्य शब्द का प्रयोग होता है वहाँ पूर्वी मालवा से तात्पर्य होता है (मालव्य इति पूर्वमालव भवा:)।[21] अभी तक किसी विद्वान् ने इस साक्ष्य में शंका नहीं की है। परन्तु एस. आर. गोयल के विचार से यशोधर के कथन के आधार पर बाण के मालव जनपद की पहिचान पूर्वी मालवा से नहीं की जा सकती। यशोधर एक परवर्ती

लेखक है। उसने अपनी टीका 13 वीं शती मे लिखी थी।[22] तब तक आधुनिक मालवा प्रदेश इस नाम से विख्यात हो चुका था। इसलिए यशोधर के साक्ष्य से मात्र यह निश्चित माना जा सकता है कि उसके अपने युग मे "मालव" से आशय पूर्वी मालवा से होता था परन्तु यह प्रमाणित करने के लिए अभी तक कोई साक्ष्य नही मिला है कि छठी शती मे भी मालव से आशय पूर्वी मालवा से ही होता था। इसके विपरीत यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त कारण है कि छठी-सातवीं शताब्दी तक "मालव" नाम का प्रयोग राजस्थान के अजमेर-टोंक-जयपुर प्रदेश के लिए होता था और इसलिए प्रोफेसर गोयल का विचार है कि उत्तर गुप्तो के राज्य की स्थिति राजस्थान के इस मालव जनपद मे ही माननी चाहिए। उपलब्ध साक्ष्य के सक्षिप्त सर्वेक्षण से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाएगा :—

(1) मालव जाति मूलत. पजाब मे रहती थी। उसकी पहिचान सिकन्दर के इतिहासकारो द्वारा उल्लिखित मल्लोई जाति से (जो चतुर्थ शती ई पू. मे रावी-चिनाब दोआब में रहती थी) सुनिश्चित है, क्योंकि सिकन्दर के इतिहासकारों मल्लोई को ऑक्सीड्रेकाई का घनिष्ठ मित्र बताते है और भारतीय साक्ष्य "मालव-क्षुद्रक" द्वन्द्व का उल्लेख करते है। इसके बाद यह भटिण्डा के मार्ग से आकर राजस्थान मे बसी जहाँ इसकी राजधानी भूतपूर्व जयपुर राज्य की उणियारा तहसील मे नगर (प्राचीन मालवनगर) स्थान था। नगर से मालवो के सिक्के जो ईसा की प्रारम्भिक शतियो के है, सहस्रो की सख्या में मिले है। वहाँ दूसरी शती ई मे उत्तमभद्रो के मित्र शक सरदार उषवदात से इसका सघर्ष हुआ। इसके बाद इसे वहाँ चष्टन वश के शकों का प्रभुत्व मानना पड़ा। 226 ई के लगभग यह स्वतन्त्र हुई जैसा कि इसके नान्दसा से प्राप्त अभिलेख से प्रमाणित है। चौथी शती ई. मे इसे समुद्रगुप्त का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा। उस समय भी यह राजस्थान मे ही बनी हुई थी क्योंकि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति मे इसका उल्लेख आर्जुनायनो (देहली-जयपुर-आगरा प्रदेश) व यौधेयो (उत्तरी राजस्थान व दक्षिणी पजाब) के साथ किया गया है। इस प्रकार प्रारम्भिक गुप्त काल तक मालव जाति निश्चय ही अजमेर-टोंक-जयपुर प्रदेश मे बसी हुई थी।

(2) आधुनिक मालवा (पूर्वी और पश्चिमी) को "मालवा" नाम से ख्याति सम्भवत परमार युग मे प्राप्त हुई, क्योंकि गुप्त काल और परमार काल के बीच मे राजस्थान का मालव जनपद "मालव" कहलाता रहा और तत्कालीन लेखक इसको अवन्ति से भिन्न मानते रहे। परमार युग के पूर्व उज्जयिनी प्रदेश को "मालव" कहने वाले उल्लेख अत्यन्त विरल है, और इनसे मात्र यह प्रमाणित होता है कि सातवी शती मे उज्जयिनी प्रदेश के लिए यह नाम प्रयोग मे आना प्रारम्भ हो गया था, परन्तु लोकप्रिय नही हुआ था। पाँचवीं-छठी शती मे, जब उत्तर गुप्तो ने शासन किया, स्थिति सर्वथा भिन्न थी। इस युग में अवन्ति के लिए "मालव" नाम का प्रयोग बिल्कुल नही होता था। इतना ही नही हमारे साक्ष्य यह भी स्पष्ट करते है कि अवन्ति और मालव सर्वथा भिन्न माने जाते थे और मालव जनपद अवन्ति से उत्तर की ओर स्थित माना जाता था। उदाहरणार्थ,

(अ) स्वय वात्स्यायन ने अपने "कामसूत्र" मे, जिसकी रचना गुप्तकाल के प्रारम्भ मे हुई, अवन्ति और मालव जनपदो को पृथक्-पृथक् माना है।[23] यह कथन तो उसके तेरहवी शती के टीकाकार यशोधर का है कि अवन्ति का तात्पर्य "पश्चिमी मालवा" है और "मालव" का पूर्वी मालवा। स्वय वात्स्यायन ने ऐसा नहीं कहा है।

(आ) "भागवत पुराण" में, जिसकी रचना रायचौधुरी के अनुसार उत्तर गुप्तो के युग के आसपास हुई[24], अर्बुद या आबू का उल्लेख "मालव" के साथ किया गया है (सौराष्ट्रावन्त्याभीरश्च शूरा अर्बुद मालवा.) और अवन्ति को सौराष्ट्र के समीप

और प्रथम जीवितगुप्त को उसका प्रभुत्व मानना पड़ा होगा। जैसा कि प्रोफेसर गोयल का आग्रह है, उस अवस्था में यह सम्भावना अपने आप उभर आती है कि ईश्वरवर्मा और प्रथम जीवितगुप्त ने यशोधर्मा के हिमालय और गौड़ प्रदेशों में लड़े गये युद्धों में उसके अधीनस्थ राजा के रूप में भाग लिया था जिनका उल्लेख जौनपुर और अफसड़-अभिलेख में इस प्रकार कर दिया गया है मानों ये उनके अपने स्वतन्त्र अभियान थे । प्राचीन इतिहास में इस प्रकार के उल्लेख प्रायः मिलते हैं।

प्रथम जीवितगुप्त का पुत्र और उत्तराधिकारी कुमारगुप्त था जिसका मौखरि समकालीन नरेश था ईशानवर्मा। उपर्युक्त युद्धों में प्राप्त सफलताओं के परिणामस्वरूप मौखरियों में साम्राज्यिक महत्वांकाक्षा उत्पन्न हो गई थी। इसके फलस्वरूप उनका पश्निमी मालवा के औलिकर सम्राटों से संघर्ष अनिवार्य था। सम्भवतः प्रथम जीवितगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त ने, जो अभी तक एक मामूली नरेश था, इस संघर्ष में अपने स्वामी औलिकर सम्राट् का साथ दिया। वाद में आदित्यसेन के अफसड़-अभिलेख के लेखक ने उसके मौखरियों के साथ लड़े गये युद्ध का वर्णन इस प्रकार कर दिया मानो यह युद्ध कुमारगुप्त ने अपने आप स्वतन्त्र रूप से लड़ा था। इस समस्या पर विचार करने से पूर्व तत्कालीन युग में उत्तर गुप्त वंश की राजनीतिक प्रतिष्ठा के विषय में स्पष्ट मत होना आवश्यक है क्योंकि उनकी राजनीतिक प्रतिष्ठा को लेकर अनेक भ्रान्तियाँ प्रचलित हैं जिससे तत्कालीन मौखरि इतिहास के पुनर्निर्माण में भी कठिनाई होती है।

छठी ई. शती के प्रारम्भ में उत्तर भारत में जिन शक्तियों का उदय हुआ उनमें उत्तर गुप्त वंश को आजकल वड़ा सम्मानित स्थान प्राप्त है। प्रायः स्वीकृत धारणानुसार इस वंश के राजाओं ने साम्राज्यिक गुप्तों के वाद उत्तर भारत में साम्राज्य स्थापन का प्रयास किया और इसके लिए उनकी मौखरियों से कई पीढ़ियों तक प्रतिस्पर्द्धा रही। बहुत से विद्वान् तो इस प्रतिद्वन्द्विता में उत्तर गुप्तों को कुछ समय के लिए सफल भी हुआ मानते हैं। अनेक आधुनिक विद्वान् उनको बिना किसी संकोच के "सम्राट्" की उपाधि तक से अभिहित कर देते हैं।[32] परन्तु श्रीराम गोयल के अनुसार उत्तर गुप्तों का छठी शती ई. में राजनीतिक महत्व इतना अधिक नहीं था। इस वंश के शासकों ने हर्षोत्तर काल में मगध पर शासन करते हुए "महाराजाधिराज" उपाधि अवश्य धारण की थी, परन्तु यह बात सातवीं शताब्दी की है। छठी शती में उत्तर गुप्त राजा एक स्थानीय और मामूली-सी शक्ति थे। वे न तो स्वतन्त्र शासक थे और न ही मौखरियों के प्रतिस्पर्द्धी । मौखरियों के साथ उनकी प्रतिद्वन्द्विता का मत केवल आदित्यसेन के अफसड़-अभिलेख पर निर्भर है जिसमें इस वंश के चौथे राजा कुमारगुप्त का मौखरि वंश के चौथे राजा ईशानवर्मा से युद्धरत होना उल्लिखित है और पांचवें राजा दामोदरगुप्त को किसी मौखरि से युद्ध करते हुए स्वर्गवासी हुआ बताया गया है।

लेकिन इन तथ्यों से यह सिद्ध नहीं होता कि उत्तर गुप्तों का मौखरियों से एक या एक से अधिक पीढ़ी तक सार्वभौम सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष चला क्योंकि जैसा कि श्रीराम गोयल का कहना है,[33] यह अधिक सम्भव है कि कुमारगुप्त ने ईशानवर्मा से युद्ध स्वतन्त्र राजा के रूप में नहीं वरन् पश्चिमी मालवा के औलिकर सम्राट् के अधीन उसकी ओर से लड़ा था। इस युद्ध में औलिकर सम्राट्, और स्वयं कुमारगुप्त भी, पराजित हुआ। शायद इसीलिए इस समय के बाद औलिकर उत्तर भारतीय राजनीतिक रंगमंच से विलुप्त हो जाते हैं। जहाँ तक दामोदरगुप्त की बात है, उसने तो शायद मौखरियों से पृथक्तः कोई युद्ध ही नहीं लड़ा था—सम्भवतः वह उसी युद्ध में दिवंगत हुआ जिसमें कुमारगुप्त अपने स्वामी औलिकर सम्राट् के साथ हारा था। इसीलिए अफसड़-लेख में दामोदरगुप्त के शत्रु मौखरि राजा का नाम न देकर उसे केवल 'मौखरि' कह दिया गया है, उसी तरह जैसे हम आज भी पहिले वाक्य में किसी राजा का नाम देने के बाद दूसरे वाक्य में उसका उल्लेख उसके वंश नाम से कर देते हैं। उत्तर गुप्त वंश

की छठी शती ई. के इतिहास में सम्पूर्ण महत्ता मात्र अफसड़-लेख पर निर्भर है जिसमे, इस लेख के लिखवाए जाने के समय, उत्तर गुप्त नरेशों के "महाराजाधिराज" बन जाने के कारण, उनके पूर्वजो का महत्व बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखा दिया गया है और उनके युद्धो की इस प्रकार चर्चा कर दी गयी है मानो वे युद्ध उन्होंने स्वतन्त्ररूपेण लड़े थे। परन्तु ऐसे अनेक सकेत उपलब्ध है जिनसे कम से कम छठी शती ई. में, उनके राजनीतिक महत्व की अत्यल्पता सिद्ध होती है। मौखरियो की तुलना मे तो वे एकदम मामूली शक्ति लगते है।

मौखरियो के राजनीतिक महत्व का प्रमाण स्वय उनके अभिलेख और मुद्राएँ है। उनके अभिलेख जौनपुर, हड़हा, असीरगढ़ तथा नालन्दा आदि स्थलो से मिले हैं और सिक्के भिटौरा आदि अनेक स्थलो से। इसके विपरीत इस युग के उत्तर गुप्त नरेशों का न कोई अभिलेख उपलब्ध है और न सिक्के ही मिलते है। दूसरे, मौखरियों की महत्ता का प्रमाण अन्य वशो के अभिलेख भी हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, स्वय उत्तर गुप्त अभिलेखो मे शर्ववर्मा और अवन्तिवर्मा को "परमेश्वर" कहा गया है, इसी प्रकार प्रतिहार सम्राट् मिहिरभोज के बाड़ा-दानपत्र[34] मे शर्ववर्मा को "परमेश्वर" कहा गया है। समुद्रसेन के निर्मण्ड-दानपत्र[35] मे भी उसका नाम मिलता है। दक्षिण कोसल के पाण्डुवशी राजा महाशिवगुप्त बालार्जुन के सिरपुर-लेख में वर्मा कुलोत्पन्न श्री सूर्यवर्मा की चर्चा मिलती है जिसको लगभग सभी विद्वान् सूर्यवर्मा मौखरि मानते है। इस लेख मे उसके वश को मगध पर शासन करने के कारण यशस्वी कहा गया है। इसके विपरीत छठी शती के उत्तर गुप्त नरेश समकालिक और उत्तरकालीन लेखो मे सर्वथा अनुलिखित है। तीसरे, मौखरियो के अभिलेखो मे उन्हे ईशानवर्मा के समय से "महाराजाधिराज" उपाधि दी गयी है। स्वय उत्तर गुप्तो के देववरनार्क-लेख मे शर्ववर्मा और अवन्तिवर्मा का उल्लेख "परमेश्वर" के रूप मे हुआ है। लेकिन उत्तर गुप्तो ने "महाराजाधिराज" उपाधि सर्वप्रथम सातवी शती के उत्तरार्द्ध में धारण की। इसके पूर्व के राजाओ को मात्र "श्री" या अधिक से अधिक "नृप" उपाधि दी गई है जो उस युग में सामन्त धारण करते थे।[36] चौथे, अभी तक उत्तर गुप्तो के आदिराज्य की स्थिति तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। कुछ विद्वान् उनके आदिराज्य को मगध मे मानते है, कुछ पूर्वी मालवा मे और कुछ पश्चिमी मालवा में और कुछ राजस्थान के मालव जनपद मे। ऐसी स्थिति मे उनके तथाकथित "साम्राज्य" की सीमाओं के ऊपर तो विचार करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसके विपरीत मौखरियो के आदिराज्य का कान्यकुब्ज के आसपास होना निर्विवाद है। इतना ही नहीं, यह भी सिद्ध है कि उनका अधिकार पूर्व में मगध तक, पश्चिम मे सतलज के समीप स्थित निर्मण्ड तक और दक्षिण मे कालञ्जर मण्डल (बुन्देलखण्ड) तक अवश्य ही था। इन तथ्यो के प्रकाश मे इन दोनो शक्तियो को समान मानना कदापि उचित नही होगा। पाँचवें, हर्ष के राजकवि बाण ने मौखरियों के तत्कालीन राजनीतिक महत्व का स्पष्ट आभास दिया है। उसके "हर्षचरित" में प्रभाकरवर्द्धन मौखरि वश को "शिवजी के चरणन्यास की भाति सब राजाओं का शिरमौर और सकल भुवन द्वारा नमस्कृत" बताता है।[37] इसके विपरीत जब मालवराज (महासेनगुप्त) के पुत्र प्रभाकरवर्द्धन के पास आते है तो प्रभाकर ने अपने पुत्रो से उनका परिचय कराते समय उनको मालवराज का पुत्र तो कहा और अपने पुत्रों से यह अनुरोध भी किया कि वे उनके साथ सामान्य परिजनो न करें, परन्तु उसके बावजूद उसने उनको भृत्यों की श्रेणी में रखा, उनके लिए "अनुचर" प्रयोग किया तथा मालव कुमारो ने भी अन्त.पुर मे प्रवेश करते समय दूर से ही चारो से पृथ्वी का स्पर्श करते हुए प्रणाम किया।[38] प्रणाम की यह विधि निम्नतम श्रेणी के स्मरणीय है कि महासेनगुप्त प्रभाकरवर्द्धन का मामा था और ये दोनो राजकुमार उसके बावजूद उनका प्रभाकर को इस प्रकार प्रणाम करना इस बात का सकेत माना जाना

की राजनीतिक प्रतिष्ठा विशेष नहीं थी।

प्रोफेसर श्रीराम गोयल के विचार से छठी शती ई. में उत्तर गुप्त वंश एक अति सामान्य, मात्र स्थानीय महत्व वाला, शासक वंश था। गोयल की यह मान्यता भी स्पष्टतः सही है कि इस वंश के राजा क्रमशः पश्चिमी मालवा के औलिकरों, कान्यकुब्ज के मौखरियों, बंगाल के गौड़ों तथा थानेसर के पुष्यभूतियों के अधीन रहे थे। अपने इन सम्राटों के अधीन उन्होंने समय-समय पर जो युद्ध लड़े, उनका बाद में अफसड़-लेख में इस प्रकार वर्णन कर दिया गया, मानो वे उनके स्वतन्त्र युद्ध थे।

इस पृष्ठभूमि में हम ईशानवर्मा और कुमारगुप्त के संघर्ष का अधिक सही अध्ययन कर सकते हैं। अफसड़-अभिलेख में कहा गया है कि कुमारगुप्त ने ईशानवर्मा की, जो राजाओं में चन्द्रमा के समान था, महान् सैन्य को, जो लक्ष्मी (विजयलक्ष्मी) की प्राप्ति का हेतु थी, मथ डाला था। इस कथन के आधार पर र. च. मजूमदार, र. श. त्रिपाठी तथा बी. पी. सिन्हा प्रभृति विद्वानों का विश्वास है कि इस युद्ध में कुमारगुप्त विजयी हुआ था।[39] परन्तु मुकर्जी और राय का कहना है कि इस संघर्ष में विजय मौखरियों को मिली थी।[40] स्मरणीय है कि अफसड़-अभिलेख में इस युद्ध का वर्णन करते समय कुमारगुप्त की वीरता से भी अधिक बल ईशानवर्मा की प्रतिष्ठा और मौखरि सेना की शक्ति पर दिया गया है। इतना ही नहीं, इस सेना को विजयलक्ष्मी की प्राप्ति का हेतु भी बताया गया है। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि इस युद्ध में विजय ईशानवर्मा को मिली थी, कुमारगुप्त के पक्ष को नहीं। यह आग्रह कि अगर इस युद्ध में कुमारगुप्त हारा होता तो इसकी चर्चा स्वयं उत्तर गुप्त लेख में नहीं होती, सही नहीं है। प्राचीनकाल में पराजित पक्ष द्वारा अपने ही अभिलेखों में अपनी असफलता का उल्लेख कर देना अज्ञात नहीं है। इसका एक अच्छा उदाहरण कामरूप-नरेश भास्करवर्मा का दूबी-दानपत्र है जिसमें उल्लिखित है कि किसी गौड़-नरेश (सम्भवतः शशांक) ने उसे और उसके भाई सुप्रतिष्ठितवर्मा को युद्ध में परास्त करके बन्दी बना लिया था।[41] कुछ विद्वानों को आपत्ति है कि किसी भी मौखरि अभिलेख में ईशानवर्मा द्वारा कुमारगुप्त को पराजित किए जाने का उल्लेख नहीं हुआ है। परन्तु अभी तक ऐसा कोई मौखरि अभिलेख प्राप्त ही कहाँ हुआ है जिसमें ईशानवर्मा की विजय के उल्लेख की आशा की जा सके। यह युद्ध सभी विद्वानों के अनुसार हड़हा-अभिलेख (554 ई.) के उपरान्त लड़ा गया था। अब, हड़हा-अभिलेख के बाद में लिखे गए मौखरि अभिलेखों के रूप में अभी तक केवल असीरगढ़ और नालन्दा से कुछ मुहरें प्राप्त हैं। लेकिन मुहर-अभिलेखों में केवल वंशावली दी जाती थी, इनमें राजाओं की सामरिक सफलताओं का विस्तृत वर्णन नहीं होता था। फिर भी परोक्ष रूप से ये लेख इस बात का समर्थन करते है कि इस युद्ध में विजयश्री ईशानवर्मा को मिली थी। इन अभिलेखों में ईशानवर्मा और उसके सब उत्तराधिकारियों को "महाराजाधिराज" कहा गया है जबकि यह साम्राज्यिक उपाधि उत्तर गुप्त अभिलेखों में सर्वप्रथम आदित्यसेन के लिए प्रयुक्त हुई है। बी. पी. सिन्हा ने एक स्थान पर कुमारगुप्त के लिए साम्राज्यिक उपाधि का अप्रयुक्त होना या न होना महत्वहीन तथ्य बताया है,[42] परन्तु अन्यत्र उन्होंने अपने इस तर्क का स्वयं ही खण्डन कर दिया है।[43] यह तथ्य भी विचारणीय है कि मौखरियों ने अपनी स्वतन्त्रता और सार्वभौम सत्ता के प्रतीक स्वरूप सिक्के भी जारी किए थे जबकि उत्तर-गुप्तों के सिक्के सर्वथा अप्राप्त हैं। वस्तुतः छठी शती ई. में शासन करने वाले सभी उत्तर-गुप्त नरेशों का सम्पूर्ण गौरव मात्र सातवीं शती ई. के अफसड़-अभिलेख में प्रदत्त तथ्यों पर आधारित है जिसका वर्णन निश्चयतः अतिरञ्जित है जबकि मौखरियों की प्रतिष्ठा न केवल उनके अपने अनेक अभिलेखों (जो हड़हा, जौनपुर, असीरगढ़ और नालन्दा आदि विविध स्थलों से मिले हैं) और सिक्कों से सिद्ध है वरन् बाण के "हर्षचरित"[44] एवं स्वयं उत्तर गुप्त अभिलेखों[45] में भी उसकी झलक मिलती है।

अफसड़-अभिलेख के अनुसार मौखरियों से युद्ध के उपरान्त कुमारगुप्त ने प्रयाग जाकर वहाँ अग्निराशि में आत्मोत्सर्ग किया था। यह वर्णन उसके प्रयाग में किये गये अन्तिम सस्कार का नहीं, उसके द्वारा अपनी इच्छा से किए गए आत्मदाह का है। उसका अन्तिम सस्कार अगर प्रयाग मे सामान्यरूपेण हुआ होता तो अफसड़-अभिलेख मे उसका उल्लेख होता ही नहीं, क्योंकि उस अवस्था मे यह कोई चर्चा योग्य घटना नही होती। दूसरे, सामान्य रूप से किये गये अन्तिम सस्कार के प्रसग मे उसके "प्रयाग जाने" (प्रयाग गत) का उल्लेख नहीं होता।

कुमारगुप्त के इस आत्मदाह का क्या कारण था, कहना कठिन है। बी पी सिन्हा का यह सुझाव कि कुमारगुप्त ने ईशानवर्मा पर प्राप्त विजय के बदले मे देवताओ के प्रति कृतज्ञता जताने के लिए आत्मदाह किया था,[46] बड़ा विचित्र है और उनके द्वारा कुमारगुप्त की ईशानवर्मा पर विजय विषयक अपने मत को पुष्ट करने का असफल प्रयास लगता है। हो सकता है, कुमारगुप्त ने आत्मदाह धर्मलाभ के लिए किया हो। धग चन्देल, गागेयदेव कल्चुरि, पाल नृपति रामपाल तथा चालुक्यनृपति सोमेश्वर आहवमल्ल आदि अनेक नरेशो ने पुण्यलाभ के उद्देश्य से आत्मोत्सर्ग किया था। प क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने ध्यान दिलाया है कि प्राचीन काल मे प्रयाग मे प्राणोत्सर्ग करना विशेषरूपेण पुण्य का काम माना जाता था।[47] हुएन्त्साग ने लिखा है कि बहुत से भारतीय प्रयाग मे वटवृक्ष से कूदकर प्राण त्यागते थे।[48] पुराणो मे (कूर्म, अध्याय 36, ब्रह्म, 28-6) मे भी प्रयाग मे वटवृक्ष से कूद कर या सगम मे डूब कर प्राण देने का वर्णन है। "मृच्छकटिक" मे कहा गया है कि शूद्रक ने एक सौ वर्ष दस दिन की आयु मे अग्नि मे प्रवेश किया था। कुछ विद्वानो का तर्क है कि क्योंकि कुमारगुप्त ने प्रयाग मे आत्मदाह किया था इसलिए यह नगर उसके राज्य मे स्थित रहा होगा। परन्तु धार्मिक कारणो से प्रयाग और वाराणसी जैसे नगरो की यात्रा उस युग मे भारत के विभिन्न प्रदेशो के राजा ही नही, विदेशी राजा भी करते थे। नेपाली "वशावलियो" के अनुसार नेपाल नरेश अशुवर्मा (सातवी शती ई का पूर्वार्द्ध) ने प्रयाग की यात्रा की थी और वह वहाँ से प्रयाग भैरव को अपने साथ ले गया था।[49] इसी प्रकार पाँचवीं शती ई मे चम्पा-नरेश गगराज सिंहासन त्याग कर अपना शेष जीवन गगा के तट पर बिताने के लिए भारत आया था।[50] इन तथ्यो के प्रकाश म कुमारगुप्त का प्रयाग जाकर आत्मदाह करना यह कैसे सिद्ध कर सकता है कि यह नगर उसके राज्य मे सम्मिलित था? स्मरणीय है कि उत्तर गुप्तो और मौखरियो के सघर्ष मे कुमारगुप्त पराजित हुआ था तो उसके बाद वह मौखरियो के अधीन राजा के रूप मे मौखरि राज्य मे स्थित प्रयाग की क्या, किसी भी नगर की अनायास यात्रा कर सकता था।

कुमारगुप्त के द्वारा प्रयाग मे आत्मदाह किए जाने का एक अन्य कारण उसके पुत्र दामोदरगुप्त का युद्ध मे मारा जाना होना हो सकता है। दामोदरगुप्त के विषय मे अफसड़-अभिलेख के 10वे से 12वे श्लोको में कहा गया है कि उस राजा (कुमारगुप्त) का पुत्र श्री दामोदरगुप्त था जिसके द्वारा उसके शत्रु वैसे ही मारे गए जैसे भगवान् दामोदर के द्वारा राक्षस मारे गए थे। युद्ध में (कुचलकर मार डालने के उद्देश्य से) हूणो की सेनाओ को उखाड़ फेक देने वाले मौखरि के आगे बढ़ते हुए मदमत शक्तिशाली हाथियो के व्यूह का विघटन करके वह मूर्च्छित हो गया (तथा पुन स्वर्ग में) सुर-वधुओं के बीच चयन करते हुए तथा "(अमुक अथवा अमुक) मेरी है" कहते हुए उनके कर-कमलो के सुखद स्पर्श से चेतन हुआ। उस नृप ने आभूषणों से अलकृत सैकड़ों युवती कन्याओ का विवाह गुणवान ब्राह्मणों से करवाया तथा उन्हें अग्रहारों का दहेज दिया।"[51] अफसड़-अभिलेख का यह श्लोक विवादास्पद है। इसके आधार पर अनेक समस्यायें उत्पन्न होती है —

1 दामोदरगुप्त का सघर्ष मौखरियों से हुआ था अथवा हूणों से ?

2. दामोदरगुप्त के समकालीन मौखरि शासक कौन था ?

3. युद्ध में दामोदरगुप्त सफल रहा था अथवा असफल ?

4. क्या दामोदरगुप्त युद्ध में मारा गया था ?

जहाँ तक पहली समस्या का प्रश्न है, इतिहासकारों ने फ्लीट[52] द्वारा प्रस्तुत अनुवाद को सामान्यत: मान्यता प्रदान करते हुए यह स्वीकार कर लिया है कि दामोदरगुप्त का मौखरियों के साथ संघर्ष हुआ था। परन्तु फ्लीट महोदय का यह अनुवाद निर्विवाद नहीं है। कुछ विद्वानों ने इस श्लोक का अनुवाद इस प्रकार किया है– ''जो मौखरियों की युद्ध में उद्यत हूण सेना की हाथियों की उमड़ती हुई घटा को विघटित करता हुआ मूर्च्छित हो गया तथा सुरवधुओं के, जिन्होंने उसका पति के रूप में वरण किया, पाणिपंकज के सुखद स्पर्श से विबुद्ध हुआ।'' इस अनुवाद को स्वीकार करने पर निष्कर्ष निकलता है कि दामोदरगुप्त ने मौखरियों की तरफ से हूणों के विरुद्ध संघर्ष किया था और संकेत मिलता है कि उसने युद्ध में मौखरियों के सहायक के रूप में भाग लिया था। जिस प्रकार एरण-अभिलेख के भानुगुप्त के सहायक के रूप में गोपराज ने हूणों के विरुद्ध संघर्ष में शौर्य का प्रदर्शन किया था, कुछ उसी प्रकार दामोदरगुप्त ने भी समकालीन मौखरि नरेश के सहायक के रूप में हूणों के विरुद्ध युद्ध लड़ा होगा। इस सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि दामोदरगुप्त के लिए न तो कहीं स्वतंत्र एवं सम्प्रभु शासक के लिए उपयुक्त ''महाराजाधिराज'' उपाधि का प्रयोग है और न ही उसकी मुद्रायें ही उपलब्ध हैं। इसके विपरीत तत्कालीन साक्ष्य में उसका समकालीन मौखरि नरेश शर्ववर्मा तथा शर्ववर्मा का पिता ईशानवर्मा दोनों ही ''महाराजाधिराज'' कहे गए हैं। असीरगढ़-मुद्रालेख में इन दोनों शासकों के लिए ''महाराजाधिराज'' उपाधि का प्रयोग है। इन शासकों की मुद्रायें भी उपलब्ध हैं जो इस बात की परिचायक हैं कि ईशानवर्मा के शासनकाल में ही मौखरि उत्तर भारत में एक साम्राज्यिक शक्ति के रूप में स्थापित हो गए थे। ईशानवर्मा ने गौड़ों, आन्ध्रों एवं शूलिकों पर विजय प्राप्त की थी जिससे संकेत मिलता है कि मगध उसके काल में ही मौखरियों के अधीन हो गया था। शर्ववर्मा के काल में मगध पर मौखरियों का अधिकार स्वयं उत्तर गुप्तों के देवबरनार्क-अभिलेख से भी सिद्ध है[53] दामोदरगुप्त के पिता कुमारगुप्त ने पहली और अन्तिम बार मौखरियों की इस बढ़ती हुई शक्ति को चुनौती दी किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। युद्ध में पराजय के पश्चात् उसे प्रयाग में आत्मदाह करना पड़ा। विवश होकर कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी दामोदरगुप्त को मौखरियों का प्रभुत्व स्वीकृत करना पड़ा। इसीलिए सम्भवत: मौखरियों के सामन्त के रूप में उसे हूणों के विरुद्ध अपने पराक्रम के प्रदर्शन का अवसर मिला। परन्तु घटनाओं के इस ताने-बाने का मूलाधार 11वें श्लोक का वह वैकल्पिक अनुवाद है जो हमने ऊपर दिया है जबकि अधिकांश विद्वान् इस अनुवाद को नहीं मानते। आजकल इस विषय में सामान्यत: फ्लीट का अनुवाद ही सत्य के निकट माना जाता है।

दूसरी समस्या दामोदरगुप्त के समकालीन मौखरि नरेश की पहिचान के विषय में है। इसका प्रमुख कारण यह है कि अफसड़-अभिलेख के 11वें श्लोक में समकालीन मौखरि नरेश के नाम का उल्लेख नहीं है। सालेटोर ने इस ''मौखरि'' का तादात्म्य सूर्यवर्मा के साथ किया है और यह तर्क रखा है कि क्योंकि वह राजा नहीं अपितु राजकुमार मात्र था, इसलिए उसे केवल ''मौखरि'' कहा गया है।[54] पं. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अफसड़-अभिलेख में उल्लिखित ''मौखरि'' की पहिचान अवन्तिवर्मा से की है।[55] परन्तु अवन्तिवर्मा दामोदरगुप्त का समकालीन न होकर उसके पुत्र महासेनगुप्त का समकालीन प्रतीत होता है। अर्वामूथन, सिन्हा तथा त्रिपाठी आदि अधिकांश विद्वान् इस मौखरि को शर्ववर्मा मानते हैं।[56] उनका कहना है कि ईशानवर्मा कुमारगुप्त का समकालीन था और दोनों का परस्पर युद्ध भी हुआ था। अत:

इस बात की सम्भावना अधिक उचित लगती है कि कुमारगुप्त का पुत्र दामोदरगुप्त ईशानवर्मा के पुत्र एव उत्तराधिकारी शर्ववर्मा का समकालीन और प्रतिद्वन्द्वी था। इस प्रसग मे यह भी ध्यान दिलाया गया कि शर्ववर्मा की असीरगढ़-मुहर में उसका नाम शर्ववर्मा मौखरि है और यह अकेला राजा है जिसके नाम के साथ अभिलेखों में "मौखरि" शब्द जुड़ा हुआ है। परन्तु यह तर्क निस्सार है क्योंकि ठीक इसी प्रकार अवन्तिवर्मा की नालन्दा-मुहर में भी मात्र अवन्तिवर्मा को "मौखरि" कहा गया है।[57] वस्तुत मौखरि मुहरो में "मौखरि"शब्द अभिलेख के जारीकर्ता के नाम के साथ सयुक्त मिलता है, किसी राजा विशेष के नाम के साथ नहीं।

हमें इस विषय में सर्वाधिक स्वीकार्य मत प्रोफेसर श्रीराम गोयल का लगता है। उनके अनुसार दामोदरगुप्त का मौखरि शत्रु स्वय ईशानवर्मा था।[58] स्मरणीय है कि अफसड़-अभिलेख के लेखक ने ईशानवर्मा और कुमारगुप्त के सघर्ष (श्लोक 7) का वर्णन करने के बाद दामोदरगुप्त का वर्णन किया है। इसलिए यह सर्वथा सम्भव है कि दामोदरगुप्त का शत्रु स्वय ईशानवर्मा रहा हो और इसलिए लेख के रचयिता ने उसका पुन उल्लेख न करके उसे मात्र "मौखरि" कह दिया हो, उसी प्रकार जैसे हम लोग हिन्दी व अंग्रेजी में किसी सम्राट् का प्रथम वाक्य मे नाम से उल्लेख कर देते है और तदुपरान्त उसके लिए उसके वश नाम का प्रयोग करते है। गोयल का यह भी आग्रह है कि "दामोदरगुप्त इसी युद्ध मे मारा गया था जिसमे कुमारगुप्त परास्त हुआ था। यह सत्य है कि इस लेख मे दामोदरगुप्त का "नृप" उपाधि से उल्लेख है और उसके द्वारा अग्रहार दान दिये जाने का वर्णन है, परन्तु जैसा कि सिन्हा ने एक अन्य सन्दर्भ मे कहा है, उस युग म "नृप ' उपाधि बड़ी मामूली बात थी।[59] अफसड़-लेख मे उत्तर गुप्तवशीय कृष्णगुप्त तथा सिरपुर प्रशस्ति मे ईशानवर्मा का पुत्र राजकुमार सूर्यवर्मा "नृप" कहे गये है। इसी प्रकार तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था म अग्रहार देने का गौरव अधीन और सामन्त राजा भी पाते थे। इसलिए वस्तुत अफसड़-लेख म दामोदरगुप्त के विषय मे ऐसी कोई बात नहीं कही गई है जिससे यह प्रश्नातीत रूप से प्रमाणित हो कि उसने कुमारगुप्त के उपरान्त ही शासन किया ही था। उल्टे, यह मानने पर कि दामोदरगुप्त की मृत्यु ईशानवर्मा-कुमारगुप्त वाले सघर्ष मे ही हो गई थी, कुमारगुप्त का पुत्रवध शोक म प्रयाग म आत्मदाह करना व्याख्येय हो जाता है। इसलिए श्रीराम गोयल यह मानना अधिक उचित समझते है कि दामोदरगुप्त अपने पिता के जीवनकाल मे ही मौखरियो के साथ सघर्ष मे दिवगत हो गया था, उसने मौखरियो के विरुद्ध पृथकत कोई युद्ध नहीं लड़ा था।[60]

इतिहासकारो में प्राय इस युद्ध के परिणाम को लेकर भी मतभेद रहा है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अधिकाश इतिहासकारों ने इसे उत्तर गुप्त—मौखरि सघर्ष के रूप मे ही देखा है। परिणामत निहाररजन राय,[61] आर एस त्रिपाठी,[62] बसाक[63] आदि इतिहासकारो ने दामोदरगुप्त की मौखरियो के विरुद्ध पराजय स्वीकार की है, जबकि रायचौधुरी,[64] मजूमदार,[65] अर्वामूथन [66] तथा सिन्हा[67] आदि ने दामोदरगुप्त की विजय मानी है। किन्तु डॉ गोयल के अनुसार यह सघर्ष उत्तर गुप्तो और मौखरियो के बीच न होकर मौखरियों और औलिकारों के बीच हुआ था तथा कुमारगुप्त एव उसके पुत्र दामोदरगुप्त ने इस युद्ध में मौखरियों के विरुद्ध औलिकर सम्राट् के सहायक के रूप में भाग लिया था। डॉ गोयल के इस मत को मानने पर यह प्रश्न कि शर्ववर्मा और दामोदरगुप्त के मध्य हुए दूसरे मौखरि—उत्तर गुप्त सघर्ष में कौन विजयी हुआ, निस्सार हो जाता है और उत्तर गुप्त एव मौखरियों मे "सुदीर्घकाल" तक चलने वाले सघर्ष की अवधारणा धराशायी हो जाती है। कुमारगुप्त ने मौखरियों से यह युद्ध सम्भवत अपने स्वामी औलिकर सम्राट् के अधीन राजा के रूप में लड़ा था, स्वतन्त्र रूप से नहीं, और दामोदरगुप्त तभी उसी युद्ध में मारा गया था, अलग से नहीं। वस्तुत जैसा कि पीछे देखा जा चुका है, छठी शती मे उत्तर गुप्त राजा मौखरियो

न समकक्ष थे और न साम्राज्य-स्थापन के दावेदार।[68]

इस युद्ध में दामोदरगुप्त की मृत्यु हो गई थी अथवा वह जीवित बचा, इस संबंध में भी विद्वानों के अलग-अलग मत है । पं. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय [69] ने अफसड़-अभिलेख के उपर्युक्त श्लोक में प्रयुक्त "सम्मूर्छित:" एवं "विबुद्ध" शब्दों का अर्थ मूर्च्छित एवं जाग्रत मानते हुए सुझाव रखा है कि दामोदरगुप्त की इस युद्ध में मृत्यु नहीं हुई थी वरन् वह मूर्च्छा के अनन्तर पुन: जाग्रत हो उठा था। लेख के रचयिता ने इस बात को काव्यात्मक शैली में इस तरह कहा है कि देवांगनाओं के सुखद पाणिस्पर्श से उसकी मूर्च्छा दूर हुई थी। इस संदर्भ में पं. चट्टोपाध्याय ने "उत्तररामचरित" के तृतीय अंक का साक्ष्य प्रस्तुत किया है। इसमें तमसा सीता से कहती है-"तुम्हारा पाणिस्पर्श ही मूर्च्छित रामचन्द्र के पुन: जाग्रत होने का एक मात्र उपाय हो सकता है।" चट्टोपाध्याय के अनुसार "उत्तररामचरित" के इस उदाहरण से स्पष्ट है कि दामोदरगुप्त मारा नहीं गया, वह केवल मूर्च्छित मात्र हुआ था। इस संदर्भ में अफसड़-लेख के अगले श्लोक की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया गया है जिसमें कहा गया है कि दामोदरगुप्त ने ब्राह्मणों की गुणवती तथा आभूषणों एवं यौवन से सम्पन्न अनेक कन्याओं का पाणिग्रहण सम्पन्न कराया था तथा सैकड़ों ग्राम दान में दिये थे। चट्टोपाध्याय के अनुसार 11वें श्लोक में दामोदरगुप्त के मूर्च्छित एवं तदनन्तर उसके जाग्रत हो जाने एवं 12वें श्लोक में उसके द्वारा दान दिये जाने के उल्लेख से स्पष्ट है कि दामोदरगुप्त ने इस युद्ध के उपरान्त भी कुछ समय शासन किया था।

परन्तु डी. सी. सरकार [70] ने पण्डित क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय के इन तर्कों की आलोचना करते हुए आग्रह किया है कि श्लोक से यह स्पष्ट भाव निकलता है कि दामोदरगुप्त सुरवधुओं के लोक में पहुँचा था, अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुआ था। प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि जो वीर लड़ाई में मारा जाता है वह स्वर्ग लोक पहुँकर देवांगनाओं का उपभोग करता है। "महाभारत" के अनुसार "युद्धक्षेत्र में मरे हुए व्यक्ति के विषय में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। वह व्यक्ति स्वर्गलोक पहुँच जाता है। युद्ध में काम आए हुए व्यक्ति के पास हजारों श्रेष्ठ अप्सराएं शीघ्रतापूर्वक दौड़ कर जाती है और उसे अपना पति चुन लेती हैं।" सरकार के अनुसार अफसड़-लेख के "सुरवधूर्वरयन्ममेति" तथा "महाभारत" के "ममभर्ताभवेदिति" का अर्थ एक ही है। अत: उनका निष्कर्ष है कि दामोदरगुप्त अप्सराओं के आलिंगन में स्वर्ग में जाग्रत हुआ था, अर्थात् युद्ध क्षेत्र में मार डाला गया था। जहाँ तक दामोदरगुप्त के पुन: चैतन्य लाभ करने के उपरान्त अग्रहार दान देने का उल्लेख है, गोयल के अनुसार यह पूर्वाग्रह ही अनुचित है कि ऐसे लेखों के किसी एक श्लोक में घटनाओं का वर्णन तिथिक्रमिक होता था।

उत्तर गुप्त वंश में दामोदरगुप्त का पुत्र महासेनगुप्त शर्ववर्मा के पुत्र अवन्तिवर्मा मौखरि का समकालीन था। अगर डॉ. गोयल का यह सुझाव सही है कि दामोदरगुप्त कुमारगुप्त (लग. 540-60 ई.) के काल में ही युद्ध में मारा गया था तो मानना होगा कि महासेनगुप्त ने मौखरियों के अधीन 560 ई. के लगभग शासन करना प्रारम्भ किया होगा। इसके बाद वह लगभग 600 ई. तक अवश्य शासन करता रहा। उसका अपना कोई अभिलेख अभी तक नहीं मिला है। उसने अपनी बहिन महासेनगुप्ता का विवाह पुष्यभूति वंश के शासक आदित्यवर्द्धन से किया। हर्ष के पिता प्रभाकरवर्द्धन का जन्म महासेनगुप्ता के गर्भ से ही हुआ था। [71] रायचौधुरी का कहना है कि गुप्तवंशीया राजकुमारी के गर्भ से जन्म लेने के कारण ही प्रभाकर के मन में साम्राज्यिक प्रतिष्ठा पाने की लालसा उत्पन्न हुई होगी।[72] परन्तु डॉ. गोयल को ऐसा नहीं लगता। जब उत्तर गुप्त नरेश स्वयं मामूली सामन्त मात्र थे तब उनके साथ विवाह सम्बन्ध पुष्यभूतियों को क्या प्रेरणा दे सकता था? ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवाह मात्र सुविधा की बात थी। मालव जनपद के उत्तर गुप्त व स्थाण्वीश्वर के पुष्यभूति दोनों पड़ौसी भी थे, वैश्जातीय भी और मौखरियों के अधीन भी। इसलिए

इस प्रकार गोयल के अनुसार मालव जनपद के महासेनगुप्त ने, जो शशांक के पूर्वी उत्तर प्रदेश तक बढ़ जाने और मौखरियों के साथ उसका शत्रुभाव होने के कारण अब उसका पड़ौसी-मित्र हो गया था, शशांक का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। अफसड़-लेख के अनुसार उसने लौहित्य के तट पर कामरूप नरेश सुस्थितवर्मा के विरुद्ध विजय प्राप्त की थी। परन्तु मालव जनपद व कामरूप के मध्य उत्तर प्रदेश, बिहार व बंगाल पड़ते हैं जिन पर मौखरियों और गौड़ों का शासन था। इसलिए महासेनगुप्त का जो मालव जनपद का मामूली राजा था, लौहित्य तट पर स्वतन्त्र रूप से युद्ध लड़ना दुष्कर प्रतीत होता है। आदित्यसेन के अफसड़-लेख में महासेनगुप्त के विषय में कहा गया है कि "श्रीमान् सुस्थितवर्मा के ऊपर प्राप्त विजय सम्मान से चिह्नित (तथा) पूर्ण प्रस्फुटित कमल अथवा कुन्द पुष्प के समान (धवल वर्ण वाला) जिसका (अर्थात् महासेनगुप्त का) विपुल यश आज भी पूर्ण विकसित पान में पादपों की छाया में सोकर उठे सिद्ध मिथुनों द्वारा शीतल जल वाले लौहित्य नदी के तटों पर गाया जाता है।" महासेनगुप्त की इस विजय के आधार पर बहुत से विद्वान् उसे एक अत्यन्त शक्तिशाली नरेश मानते हैं। परन्तु गोयल के विचार से यह मत सही नहीं है क्योंकि महासेनगुप्त ने यह युद्ध स्वतन्त्र रूप से नहीं, अपने स्वामी की अधीनता में लड़ा होगा। गोयल ने ध्यान दिलाया है कि भास्करवर्मा के दूबी-दानपत्र से ज्ञात होता है कि "भास्करवर्मा के पिता सुस्थितवर्मा की मृत्यु के तत्काल बाद (जब सम्भवत: भास्करवर्मा के अग्रज सुप्रतिष्ठतवर्मा का राज्याभिषेक भी नहीं हो पाया था), गौड़राज ने कामरूप पर आक्रमण कर सुप्रतिष्ठित और भास्कर दोनों को बन्दी बना लिया था। भास्करवर्मा निश्चित रूप से 606 ई. में शासन कर रहा था और हर्ष की मृत्यु (646 ई.) के बाद तक करता रहा, इसलिए उसका राज्यारोहण 606 ई. के पूर्व परन्तु कुछ ही पूर्व 600 से 606 ई. के मध्य, हुआ होगा। क्योंकि सुप्रतिष्ठित ने भी अत्यन्त लघुकाल के लिए शासन किया, इसलिए भास्कर और सुप्रतिष्ठित पर गौड़राज का आक्रमण 600 के बहुत पहले नहीं रखा जा सकता है। ठीक यही समय है जब शशांक पूर्वी उत्तर प्रदेश में बनारस तक ("आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प") बढ़ आया था और 606 में कन्नौज पर आक्रमण करने वाला था ("हर्षचरित")। इसलिए लगभग 600 ई. में उसकी और महासेनगुप्त की मैत्री रही हो सकती है। अगर 606 ई. में मालवराज देवगुप्त और शशांक मिलकर कान्यकुब्ज पर आक्रमण कर सकते थे तो देवगुप्त के पूर्वगामी राजा महासेनगुप्त का भी शशांक से सम्बन्ध हो सकता था। ऐसी स्थिति में अफसड़-अभिलेख का यह दावा कि महासेनगुप्त ने लौहित्य नदी के तट पर कामरूप नरेश को पराजित किया था, महत्वपूर्ण हो जाता है और निष्कर्ष अनिवार्य-सा लगता है कि महासेनगुप्त ने शशांक के साथ कामरूप युद्ध में भाग लिया था। महासेनगुप्त का शशांक के साथ सम्बन्ध अधीन राजा के रूप में ही माना जाना चाहिए क्योंकि शशांक का "महाराजाधिराज" पद धारण करना एवं एक विशाल साम्राज्य का शासक होना अभिलेखों तथा साहित्य से प्रमाणित है जबकि महासेनगुप्त अधिक से अधिक मालव जनपद का स्थानीय राजा था।[86] इस तरह महासेनगुप्त का कामरूप-अभियान व शशांक का कामरूप-अभियान एक ही थे। यह सही है कि अफसड़-लेख में महासेनगुप्त का शत्रु सुस्थितवर्मा (भास्कर का पिता) को बताया गया है। परन्तु इस युद्ध में दो कुमार बन्दी हुए थे इसलिए अफसड़-लेख में पराजित नरेश उनके पिता को मान लिया जाना स्वाभाविक था (विशेषत: इस घटना के लगभग 75 वर्ष बाद के लेखक द्वारा)। यह भी हो सकता है कि शशांक के इस अभियान में लड़े गये प्रथम युद्ध में उसकी सेना का नेतृत्व उसके अधीन मित्र महासेनगुप्त ने किया हो और कामरूप की ओर से सामना स्वयं सुस्थितवर्मा ने किया हो तथा उसी अभियान के दूसरे युद्ध में शशांक ने कामरूप राजकुमारों को पकड़ा हो। शशांक के अधीन होने के कारण महासेनगुप्त दूबी-अभिलेख में पृथकत: चर्चित नहीं हुआ है। कामरूप अभिलेखों के लेखकों की दृष्टि से गौड़राज (जो मुख्य आक्रमणकारी था) महत्वपूर्ण था, महासेनगुप्त, जो

गौड़राज का अधीन मित्र या सामन्त था, कोई महत्व नही रखता था। महासेनगुप्त के पौत्र आदित्यसेन द्वारा महासेनगुप्त के कामरूप युद्ध को उसका अपना युद्ध बता दिया जाना तत्कालीन परम्परा के अनुकूल था। "पृथिवीराज विजय" मे एक मामूली चाहमान राजा दुर्लभराज को (जिसने अपने प्रतिहार स्वामी के प्रभुत्व में गौड़ में युद्ध लड़ा था) गौड़ का विजेता बता दिया गया है। स्वयं अफसड़-लेख में प्रथम जीवितगुप्त को हिमालय तथा समुद्रतट प्रदेश के शत्रुओ को जीतने का श्रेय दिया गया है जबकि जीवितगुप्त ने, जो एक सामन्त मात्र था, ये युद्ध अपने स्वामी (यशोधर्मा) के नेतृत्व मे लड़े होगे।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 605 ई. के कुछ पूर्व शशाक ने अपने को एक विशाल साम्राज्य का स्वामी बना लिया था। उसके कारण तत्कालीन मौखरि राजा ग्रहवर्मा के हाथ से मगध और पूर्वी उत्तर प्रदेश निकल गए और मौखरियो का अधिकार केवल पश्चिमी उत्तर प्रदेश तक सीमित रह गया। इसके बाद शशाक ने किसी मालवराज को कन्नौज पर आक्रमण करने के लिए भेजा। अपने "हर्षचरित" मे बाण ग्रहवर्मा का वध करने वाले मालवराज का नामोल्लेख नहीं करता अत उसके अभिज्ञान को लेकर इतिहासकारो मे मतभेद है। गगूली[87] मालवराज की पहिचान कलचुरि-नरेश बुद्धराज से करते है। चट्टोपाध्याय[88]आदि इतिहासकारो ने उसकी पहिचान देवगुप्त के साथ की है। देवगुप्त नामक एक राजा की चर्चा हर्ष के दानपत्रो में मिलती है जो ऐसे समस्त राजाओ मे अग्रणी बताया गया है जो दुष्ट अश्वों की भाति थे और जिन्हें हर्ष के अग्रज राज्यवर्द्धन ने वश मे किया था।[89] "हर्षचरित" से ज्ञात होता है कि राज्यवर्द्धन ने ग्रहवर्मा के वध का प्रतिकार करने के लिए मालवराज पर आक्रमण कर उसे बड़ी सरलता से पराजित कर दिया था तथा उसकी सारी सेना को बन्दी बना लिया था।[90] चूकि हर्ष के दानपत्रों में स्पष्ट रूप से देवगुप्त का नाम आया है जिसे राज्यवर्द्धन ने पराजित किया और "हर्षचरित" मे उसके द्वारा मालवराज का पराभव अकित है, अत' यह निष्कर्ष सही प्रतीत होता है कि इन दानपत्रो का देवगुप्त ही "हर्षचरित" का मालवराज है। "हर्षचरित" के अनुसार राज्यवर्द्धन ने पिता की मृत्यु के बाद केवल एक ही युद्ध लड़ा था और वह था मालवराज के विरुद्ध। अत. मालवराज तथा देवगुप्त की पहचान तर्कसगत लगती है।

देवगुप्त का गुप्त नामान्त होना भी उसके उत्तर गुप्तवशीय नरेश होने का सकेत है। मालव जनपद में उस समय उत्तर गुप्तो का शासन था जिन्हें अपदस्थ कर कल्चुरि शकरगण ने 595 ई. के कुछ पूर्व इस प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। अफसड़-अभिलेख से ज्ञात होता है कि महासेनगुप्त का उत्तराधिकारी माधवगुप्त था। बाण ने अपने ग्रन्थ "हर्षचरित" मे कुमारगुप्त एव माधवगुप्त नामधारी दो मालव राजकुमारो का उल्लेख किया है, जिन्होने अपनी अल्पवयस्कता के काल में प्रभाकरवर्द्धन के पास शरण ली थी, जहाँ राज्यवर्द्धन एव हर्ष के बाल-सहचर के रूप मे उनका पालन-पोषण हुआ था। इनमे से माधवगुप्त की पहिचान अफसड़-अभिलेख के उत्तर गुप्त शासक माधवगुप्त से की जाती है, जो इस लेख के अनुसार श्रीहर्षदेव के सहचर्य का इच्छुक था। इस आधार पर यह भी स्वीकार किया गया है कि ये दोनो राजकुमार महासेनगुप्त के पुत्र थे।[91]

प्रश्न उठता है कि देवगुप्त का महासेनगुप्त से क्या सम्बन्ध था। हॉर्नले[92] तथा मुकर्जी[93] आदि विद्वानो ने इस देवगुप्त को महासेनगुप्त का पुत्र तथा कुमारगुप्त एवं माधवगुप्त का बड़ा भाई माना है। प. रायचौधुरी भी देवगुप्त को महासेनगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र मानते है।[94] परन्तु इन विद्वानों
[illegible] नहीं होता क्योंकि देवगुप्त अगर माधवगुप्त का ज्येष्ठ भ्राता होता तो
[illegible] होता। ऐसी स्थिति में उसे महासेनगुप्त का चचेरा भाई अथवा

44. धरणीधराणां च मूर्ध्नि स्थितो महेश्वरः पादन्यास इव सकल भुवन नमस्कृतो मौखरि वंशः।
45. द्वितीय जीवितगुप्त के देवबरनार्क अभिलेख में शर्ववर्मा और अवन्तिवर्मा के लिए परमेश्वर उपाधि का प्रयोग हुआ है।
46. सिनहा, पूर्वो., पृ. 169 टि 31.
47. जे. यू. पी .एच. एस., पृ. 193.
48. वाटर्स, 2, पृ. 277.
49. राइट, हिस्ट्री ऑव नेपाल, पृ. 79.
50. क्ला. ए., पृ. 646.
51. फ्लीट, कॉर्पस, 3, पृ. 250 (ऊपर गि. श. प्र. मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद कुछ संशोधन के साथ दिया गया है)।
52. फ्लीट, भारतीय अभिलेख-संग्रह, 3, पृ. 254.
53. कॉर्पस, 3, पृ. 216-18.
54. सालेटोर, लाइफ इन दि गुप्त एज, पृ. 53.
55. डी. आर. भण्डारकर कोमे. वाल्यूम, पृ. 180-81.
56. सिनहा, डे. किं. म., पृ. 172-73. त्रिपाठी, हि. क. पृ. 45.
57. इ. आई., 24, पृ. 283.
58. दे., गोयल, पूर्वो., पृ. 27.
59. सिनहा, पूर्वो., पृ. 178.
60. गोयल, वही।
61. कलकत्ता रिव्यू, 26, पृ. 201 अ।
62. त्रिपाठी, हि. क., पृ. 44-45.
63. बसाक, हि. ना. ई. इं., पृ. 146.
64. रायचौधुरी, पो. हि. ए. इं., पृ. 512.
65. मजूमदार, हि. बं., 1. पृ. 57.
66. अर्वामूथन, दि कावेरी, दि मौखरि एण्ड दि संगम एज, पृ. 92.
67. सिनहा, डे. कि. म., पृ 174.
68. रायचौधुरी (पो. हि. ए. इ., पृ. 605), मजूमदार (हि.बं., 1, पृ. 57) तथा सिनहा (डे. कि. म., पृ. 174) का मत है कि दामोदरगुप्त युद्ध में विजयी हुआ था, नितान्त अस्वीकार्य है। एन. आर. राय (कलक्ता रिव्यु, 1928, पृ. 201 अ. 1), बसाक (हि. ना. ई. इं., पृ. 123), चट्टोपाध्याय (अ. हि. ना. इं.,पृ. 224), त्रिपाठी (हि. क., पृ. 54) और मुखर्जी (हर्ष, पृ. 64) दामोदरगुप्त को परास्त हुआ ही मानते है। देवहूति (हर्ष : ए पालिटिकल स्टडी, पृ. 19) के अनुसार युद्ध का परिणाम अनिर्णीत रहा।
69. डी. आर. भण्डारकर काममोरेशन वाल्यूम, पृ. 180-81.

जे. आर. ए. एस., 1944.

... की बहिन नहीं कहा गया है, परन्तु इन दोनों की समकालीनता एवं तत्कालीन में भाई ... होने की प्रथा के आधार पर महासेनगुप्ता को दामोदरगुप्त की पुत्री और ... है।

कार्पस, 3, पृ 205, अ ।
वही, पृ 202
मजूमदार, वा गु ए, पृ 208-09
बसाक, हि ना ई इ, पृ 120 अ ।
बनर्जी, जे बी आर ओ एस, 14, पृ 254
सिनहा, डे कि म, पृ 133 अ ।
रायचौधुरी, पो हि ए इ, पृ 623, कार्पस, 3, पृ 214 अ ।
इ आई, 19, पृ 73 74 थप्ल्याल, पूर्वो ।
अ हि ना इ, पृ 274
इ आई, 19, पृ 7 अ ।
देवहूति हर्ष ए पोलिटिकल स्टडी, पृ 20 गोयल, पूर्वो, पृ 80-81
गोयल, पूर्वो, पृ 111
जे बी ओ आर एस, 19, पृ 399 अ ।
चट्टोपाध्याय, सुधाकर, अ हि ना इ पृ 287
बासखेड़ा-ताम्रपत्र, श्लोक । इ आई 1, पृ 72 वही 4 पृ 210
हर्षचरित, षष्ठ उच्छ्वास, पृ 43
सिनहा, डे कि म, पृ 279-80
जे आर ए एस, 1903, पृ 562
मुखर्जी, हर्ष, पृ 54
पो हि ए ई, पृ 608
इ आई, 19, पृ 7
हर्षचरित, पृ 120

2

# हर्ष और राजस्थान

मनोरमा उपाध्याय

हर्ष के साम्राज्य विस्तार के विषय मे इतिहासकारो मे मतभेद है। इसका प्रमुख कारण पर्याप्त साक्ष्यों का अभाव एवं उपलब्ध साक्ष्यों का परस्पर विरोधी प्रतीत होना है। परवर्ती चालुक्य अभिलेखो में हर्ष को "सकलोत्तरापथनाथ" की उपाधि से विभूषित किया गया है। बाण ने भी "हर्षचरित", में हर्ष को लोकनाथ बताते हुए लिखा है कि "उसने (हर्ष ने) समस्त दिशाओ में लोकपालों की नियुक्ति की थी।"[1] इन साक्ष्यों के आधार पर आर के मुखर्जी,[2] के .एम. पणिक्कर,[3] स्मिथ,[4] देवहूति,[5] बैजनाथ शर्मा [6] आदि पुराविद् हर्ष को समस्त उत्तर भारत का शासक स्वीकार करते है। आर के. मुखर्जी कुछ स्थानों पर प्रत्यक्ष और कुछ स्थानों पर परोक्ष रूप से हर्ष का अधिकार मानते है। वह लिखते है कि कुछ प्रदेशों पर तो कान्यकुब्जाधिपति महाराज प्रत्यक्ष रूप से शासन करते थे पर कुछ प्रदेश ऐसे थे, जिनका शासन प्रबन्ध तो उनके हाथ में नहीं था, पर वे उनके प्रभाव मे थे। इस प्रकार यद्यपि उनका प्रत्यक्ष अधिकार-क्षेत्र तो सकुचित था पर प्रभाव-क्षेत्र विस्तृत था। कामरूप, नेपाल, कश्मीर तथा वलभी उनके प्रभाव-क्षेत्र मे थे। हर्ष द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित भू-भाग के आकार-प्रकार से उनकी वास्तविक राजनीतिक स्थिति का मापन नहीं हो सकता , पर इसमे तनिक भी सदेह नहीं कि हर्ष समस्त उत्तरी भारत के शासक थे।[7]

दूसरी तरफ आर. सी. मजूमदार[8] तथा आर. एस त्रिपाठी[9] हर्ष को समस्त उत्तर भारत का स्वामी मानने से इन्कार करते हैं। वे हर्ष को मात्र थानेश्वर, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बगाल और उड़ीसा का शासक मानते है। इन इतिहासकारो ने हर्ष के "सकलोत्तरापथनाथ" होने या न होने की समस्या पर तो विचार किया है, किन्तु उसके साम्राज्य के अन्तर्गत राजस्थान था अथवा नहीं इस समस्या पर विस्तार से विचार नहीं किया है। यह कहा जा सकता है कि हर्ष को समस्त उत्तर भारत का स्वामी मानने या न मानने वाले इतिहासकार परोक्ष रूप से राजस्थान पर उसका प्रभुत्व स्वीकार या अस्वीकार करते है, किन्तु आधुनिक राजस्थान के साथ हर्ष के संबध पर प्रकाश डालने वाली ऐसी कोई सूचना उपलब्ध नहीं है जिसे प्रश्नातीत रूप से निर्णायक माना जा सके।

प्रोफेसर श्रीराम गोयल ने,[10] जो हर्ष को समस्त उत्तर भारत का शासक स्वीकार करते है, हर्ष के राजस्थान से सबंध पर कुछ प्रकाश डाला है। राजस्थान पर हर्ष के अधिकार को मानते हुए उन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिये कुछ तथ्य प्रस्तुत किये है ;

प्रथम, हर्ष के पिता प्रभाकरवर्धन ने सिन्ध, लाट, मालव और गुर्जर राज्यों पर या तो विजय प्राप्त की थी, या उनके साथ उसके सामरिक प्रतिद्वन्द्विता के सबध थे। प्रो. गोयल मालव की पहचान मालव-जनपद से करते है[11] और उसे राजस्थान में चित्तौड़ के आसपास का प्रदेश मानते है । वह राज्य की पहचान भीनमाल के चाप राज्य से करते है।[12] वह लिखते है कि

के विरुद्ध सामरिक अभियान तभी सम्भव हो सकता था जब वह राजस्थान से गुजर पाता। इस प्रकार ''हर्षचरित'' के साक्ष्यानुसार राजस्थान पर पुष्यभूतियों का कुछ प्रभाव और नियन्त्रण प्रभाकरवर्धन के काल में ही स्थापित हो गया था।

दूसरे, यह मानना तर्कसम्मत होगा कि हर्ष ने राज्यवर्धन के अधूरे कार्य को पूरा करने के लिये मालव जनपद पर, जिसके शासक देवगुप्त ने गृहवर्मा की हत्या की थी और जो स्वयं राज्यवर्धन के हाथों मारा गया था, अपना नियन्त्रण स्थापित किया होगा। गोयल ऐहोले-अभिलेख के इस कथन को कि लाट, मालव और गुर्जर नरेशों ने द्वितीय पुलकेशी का प्रभुत्व स्वेच्छया स्वीकार किया था, पश्चिमी भारत के पुष्यभूतियों के साम्राज्य विस्तार की प्रक्रिया से जोड़ते हैं। वह कहते हैं कि एक ओर हर्ष के काल में सिन्ध, लाट, वलभी, मालव तथा गुर्जर राज्यों पर पुष्यभूति प्रभाव की स्थापना के प्रयास या पुष्यभूति दबाव के प्रबल संकेत मिलते हैं तो दूसरी ओर लाट, मालव और गुर्जर राज्य अपने आप, स्पष्टतः पुष्यभूतियों से आतंकित होकर, चालुक्य प्रभुत्व स्वीकार करते हैं। लेकिन यह तब तक सम्भव नहीं हो सकता था जब तक राजस्थान पर हर्ष का कुछ नियंत्रण नहीं होता।[13]

तीसरे, दिनेशचन्द्र सरकार[14] ने ऐसे सोलह अभिलेखों की सूची दी है जिनमें हर्ष संवत् का प्रयोग लगभग निश्चित-सा है। इनमें नौ अभिलेख राजस्थान में उपलब्ध हुए हैं। इनमें से पांच जयपुर-अलवर-भरतपुर प्रदेश में मिले हैं जो कन्नौज-थानेश्वर के समीप था और चार मेवाड़ से जो गुजरात के पास था और जिस पर प्रभुत्व स्थापित करने का हर्ष का प्रयास गुर्जरों के नवसारी-दानपत्र से स्पष्ट है। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इनमें से दो अभिलेख 48 वें वर्ष के अर्थात् 654 ई. के हैं (कोट-अभिलेख तथा भाविहित का डूँगरपुर-अभिलेख), अर्थात् हर्ष की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद के। इनसे हर्ष का मेवाड़ से घनिष्ठ संबंध प्रमाणित होता है।[15]

चौथे, मैत्रक नरेश द्वितीय ध्रुवसेन बालादित्य (629-43 ई.) हर्ष का प्रभुत्व मानता था। लेकिन उसके उत्तराधिकारी चतुर्थ धरसेन ने 645 ई. में ही ''परमभट्टारकमहाराजाधिराज परमेश्वर चक्रवर्ती'' विरुद धारण करके पुष्यभूति आधिपत्य से स्वतन्त्र हो जाने की घोषणा कर दी थी। उस समय तक हर्ष जीवित था। अब, लगभग इसी समय का एक अभिलेख राजस्थान में डबोक (भूतपूर्व उदयपुर राज्य) से मिला है, जिसमें मौर्य वंश के ''परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर'' श्री धवलप्पदेव की चर्चा है। इससे भी लगता है कि उदयपुर प्रदेश के मौर्यों ने हर्ष के अन्तिम वर्षों में पुष्यभूति प्रभुसत्ता को अस्वीकृत कर दिया था। ऐसा ही एक सूक्ष्म-सा संकेत गुहिलों की नागदा-आहाड़ शाखा में मिलता है। इस शाखा के शीलादित्य की प्रथम ज्ञात तिथि 646 ई. है। अतः यह कल्पना की जा सकती है कि उसके पिता ने उसका नाम अपने स्वामी कन्नौज के हर्ष की उपाधि शीलादित्य का अनुकरण करते हुए रखा होगा। प्राचीन भारतीय इतिहास में ऐसे उदाहरण प्रायः मिलते हैं।[16] समुद्रगुप्त के काल में कामरूप नरेश पुष्यवर्मा ने, जो समुद्रगुप्त के अधीन था, अपने पुत्र को समुद्रवर्मा नाम दिया था। पश्चिमी गंग नरेश अभयवर्मा ने भी अपने पुत्र को अपने स्वामी पल्लव सम्राट् सिंहवर्मा के नाम पर सिंहवर्मा नाम दिया था। लेकिन स्वयं शीलादित्य के समोली-अभिलेख में हर्ष संवत् के बजाय विक्रम संवत् का प्रयोग हुआ है (703 वि. सं.= 646 ई.) ... सकता है कि शीलादित्य ने अपने को हर्ष के प्रभाव से मुक्त प्रदर्शित करने के लिये जानबूझ कर ह... संवत् के स्थान पर विक्रम संवत् का प्रयोग किया हो। इस प्रकार 644-46 ई. में गुजरात- मेवाड़ प्रदे... में हर्ष के प्रभुत्व को अस्वीकृत किये जाने के कुछ संकेत मिलते हैं। प्रो. गोयल कदाचित् यहाँ कहना चा... हैं कि 644-46 ई. के पूर्व इन प्रदेशों पर हर्ष का अधिकार था।

पाचवें, गोयल बाण द्वारा की गई ऊँटों की चर्चा के आधार पर राजस्थान मे हर्ष के प्रभुत्व को मानते है।[17] बाण के "हर्षचरित" मे बताया गया है कि जब बाण हर्ष से मिलने गया था तो उसने हर्ष के स्कन्धावार में अश्वारोही सेना, गज सेना, पदाति सेना आदि को देखा था। यहाँ कई स्थलों पर बाण हर्ष के ऊटों की चर्चा करता है।[18] यह तथ्य बड़ा महत्वपूर्ण है क्योंकि उत्तर प्रदेश, बिहार, थानेसर, पश्चिमी बगाल तथा उड़ीसा मे ऊँटों का प्रयोग बड़े पैमाने पर होने का प्रश्न ही नही उठता था। अत इसे इस बात का सकेत माना जा सकता है कि राजस्थान हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित था। [19] –

राजस्थान के हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत सम्मिलित होने या न होने के प्रश्न पर युवान-च्वाग के यात्रा वृत्तात से विशेष सहायता प्राप्त नही होती। बाण का वर्णन भी प्रकृत्या प्रशस्ति होने के कारण अधिक विश्वास के योग्य नही है। चीनी यात्री ने केवल दो राज्यो का उल्लेख किया है। कु-चे लो (गुर्जर राज्य) (जिसकी राजधानी पो-लो मो-लो थी) तथा पो लि यो-ता-लो (पारिपात्र) या बैराट।[20] युवान च्वाग के अनुसार पारियात्र या बैराट का तत्कालीन राजा फीशे (= वैश्य) जाति का था। वह साहसी था और उसमे सैनिक योग्यता थी।' [21] श्रीराम गोयल इस राजा की पहचान परवर्ती गुप्त वश के किसी सदस्य से करते है, जिसने देवगुप्त के पतन के पश्चात् राजस्थान के पुराने मालव जनपद के कुछ भाग पर शासन किया होगा।

प्रोफेसर श्रीराम गोयल ने गुर्जर राज्य की पहचान भी भीनमाल के चाप राज्य से की है। किन्तु आर सी मजूमदार[22] इसकी पहचान मडोर के प्रतिहार राज्य से करते हैं तथा मालव की पहचान आधुनिक मालवा से। गुर्जर नरेश के विषय मे युवान-च्वाग लिखता है कि इस राज्य का युवा राजा क्षत्रिय था और अपनी बुद्धिमत्ता और साहस के लिये विख्यात था। युवान-च्वाग उसके विषय मे ऐसी कोई बात नहीं कहता जिससे प्रतीत हो कि वह हर्ष के प्रभुत्व को मानता था। यदि ऐसा होता तो युवान्-च्वाग निश्चित रूप से इस साहसी राजा को हर्ष के अधीन बताता।

यदि हम प्रोफेसर श्रीराम गोयल की गुर्जर राज्य की भीनमाल के चाप राज्य से पहचान और मालवा की मालव जनपद से पहचान भी मान लें तो भी यह स्पष्ट नहीं होता कि हर्ष ने इन राज्यों पर अधिकार किया था या नही। बाण के वर्णन से हमे यह अवश्य ज्ञात होता है कि प्रभाकरवर्धन के समय में इन राज्यों में तथा पुष्यभूतियो मे शत्रुता की भावना थी, क्योंकि बाण प्रभाकरवर्धन का वर्णन "गुर्जरो की नींद को हरने वाला" के रूप में करता है। यदि हम प्रभाकरवर्धन का इन क्षेत्रो पर अधिकार स्वीकार कर भी लें तो भी युवान-च्वाग के वर्णन और ऐहोले-अभिलेख के साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन राज्यो ने या तो प्रभाकरवर्धन के अन्तिम समय में अथवा राज्यवर्धन के काल मे स्वतत्रता प्राप्त कर ली थी और यदि इन राज्यों की पुष्यभूति राज्य से सामरिक प्रतिद्वन्द्विता थी तो यह हर्ष के काल तक बनी हुई थी।

ऐहोले-अभिलेख के इस साक्ष्य को कि लाट, मालव और गुर्जर नरेशों ने द्वितीय पुलकेशी का प्रभुत्व स्वेच्छा से स्वीकार किया था, पुष्यभूति दबाव से नहीं जोड़ा जा सकता। जैसा कि दशरथ शर्मा[23] ने स्पष्ट किया है, गुर्जर नरेश ने जो थानेश्वर का पड़ौसी राज्य था, प्रकृत्यमित्र होने के कारण द्वितीय पुलिकेशी का प्रभुत्व स्वीकार किया होगा। युवान-च्वाग द्वारा गुर्जर नरेश का एक साहसी एव बुद्धिमान व्यक्ति के रूप में वर्णन किया जाना स्वयं इस बात का द्योतक है कि यह एक स्वतत्र राजा के रूप में शासन कर रहा था और अपने शत्रु (हर्ष) के बढते हुए प्रभाव को रोकने के लिये उसने द्वितीय पुलिकेशी का प्रभुत्व स्वीकार किया होगा। इन राज्यों का पुष्यभूति दबाव से आतकित होकर द्वितीय पुलिकेशी का प्रभुत्व स्वीकार करने की सम्भावना को माना नहीं जा सकता क्योंकि लाट का शासक द्वितीय दद स्वयं इतना शक्तिशाली था कि उसने हर्ष के विरुद्ध वलभी के राजा को शरण दी थी।

किसी प्रदेश में किसी संवत् का प्रचलन सदैव यह सिद्ध नहीं करता कि उस संवत् के प्रवर्तक ने उस प्रदेश पर अधिकार किया था। यह माना जा सकता है कि उस क्षेत्र पर हर्ष का परोक्ष रूप से प्रभाव रहा होगा। गुर्जरों का नवसारी-दानपत्र हर्ष के द्वारा मेवाड़ पर प्रभुत्व स्थापित करने के प्रयास की ओर अवश्य संकेत करता है, किन्तु वह इस प्रयास मे सफल हुआ था अथवा विफल इस बारे में कोई स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है। हो सकता है कि उदयपुर प्रदेश के मौर्यों पर हर्ष का उसके शासन के प्रारम्भिक वर्षों मे किसी प्रकार का अधिकार रहा हो, किन्तु उसके अन्तिम वर्षों में इस प्रभुत्व को अस्वीकार किये जाने के भी संकेत मिलते हैं।

बाण द्वारा ऊंटों की चर्चा के आधार पर निकाले गये इस निष्कर्ष का कि ऊंटों का बड़े पैमाने पर प्रयोग हर्ष का राजस्थान पर अधिकार इंगित करता है, डॉ. शंकर गोयल[24] ने अपने लेख में विरोध किया है। शंकर गोयल का कहना है कि बाण का यह कथन कि हर्ष के पास ऊंट सेना थी, इस बात को प्रमाणित नहीं करता। बाण एक स्थान पर कहता है कि कुछ ऊंट भेजे गये थे, कुछ भेजे जा रहे थे और कुछ भेजे गये ऊंट वापिस आ गये थे।[25] ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष की सेना में ऊंटों का प्रयोग संवाद या डाक भेजने के लिये अथवा माल ढोने के लिये किया जाता था।[26] इसका स्पष्ट उदाहरण देते हुए बाण लिखता है कि जब प्रभाकरवर्धन बीमार पड़ा तो हर्ष ने अपने भाई राज्यवर्धन को शीघ्र बुलाने के लिये तेज दौड़ने वाले दूतों को और वेगगामी सांडिनी सवारों को दौड़ाया था।[27] वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार भी हर्ष की सेना मे ऊंट हाथी-घोड़ों के समान महत्वपूर्ण नहीं थे। सम्भवतः उनसे डाक का काम लिया जाता था।[28] लल्लनजी गोपाल के अनुसार इस का समर्थन हर्ष के मधुबन तथा बांसखेड़ा दानपत्रों से होता है, अनुमान जिनमे जलसेना, हस्तिसेना तथा अश्वसेना का तो उल्लेख है, परन्तु ऊंट सेना अनुल्लिखित है।[29]

ऊंट सेना का होना न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि किसी शासक का मरु प्रदेश पर अधिकार था या नहीं। ऊंटो के उपयोग का वर्णन मात्र किसी शासक का इस प्रदेश पर अधिकार नहीं दर्शाता। प्राचीन भारत में हस्ति सेना का उल्लेख सभी जगह मिलता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिस किसी राजा की सेना में हाथी थे उसका दक्षिण पर अथवा पूर्वी प्रदेशों पर अधिकार था। जिस प्रकार हाथी इत्यादि सेना के लिये क्रय किये जाते थे उसी प्रकार हर्ष ने भी ऊंटों को क्रय किया होगा और उनका डाक सेवा में अथवा संवाद भेजने में प्रयोग किया होगा।

डॉ. शंकर गोयल हमारा ध्यान इस ओर खींचते हैं कि युवान-च्वांग के साक्ष्य का इस तरह विश्लेषण नहीं किया जाना चाहिये कि उसने केवल स्वतंत्र राज्यों का ही वर्णन किया है। वह भारत का "राजनीतिक गजेटियर" नहीं लिख रहा था। उसने विभिन्न राज्यों के विषय में उन्हीं बातों को लिखा है जिनमें उसकी रुचि थी। यह मानना कि उसने कोई निश्चित नि[illegible] बनाकर अपना वर्णन लिखा है, सही नहीं है। इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये [illegible] सामन्तवादी व्यवस्था में बड़े-बड़े राज्यों के पराधीन राजा लघु राज्यों के स्वाधीन राज [illegible] हो स[illegible] अतः युवान-च्वांग किसी पराधीन राजा का उल्लेख कर सकता था [illegible] का [illegible] सकता था।[30]

डॉ [illegible] का यह कहना उ[illegible] गजेटियर" नहीं लि[illegible] उसने उन्हीं विषयों [illegible] भी माना जा सकता [illegible] [illegible]दी व्य[illegible] अधिक महत्व [illegible] आवश्यक का उल्लेख [illegible] के अनुसा[illegible]

कर सकता था। लाट, गुर्जर इत्यादि राज्य हर्ष के अधिकार से स्वतंत्र रहे होंगे क्योंकि युवान-च्वांग विशेष रूप से इन राज्यों के राजाओं का साहसी और बुद्धिमान राजा के रूप में वर्णन करता है और लाट राज्य के स्वामी द्वितीय दद का वर्णन तो अभिलेखों में हमें एक ऐसे शक्तिशाली राजा के रूप में मिलता है जिसने वलभी के शासक को हर्ष से त्राण दिलाने का यश अर्जित किया था।

उचित साक्ष्यों के अभाव में किसी निर्णय पर पहुँचना कठिन है। यह कहा जा सकता है कि राजस्थान पर हर्ष का अधिकार तो नहीं था किन्तु यहां पुष्यभूति शक्ति का परोक्ष रूप से प्रभाव रहा होगा।

## संदर्भ-सूची


1 बाण, हर्षचरित, पृ 33
2 मुखर्जी, आर के, हर्ष, पृ 43
3 पणिक्कर, के एम, श्री हर्ष ऑव कन्नौज, पृ 22
4 स्मिथ, वी ए, अर्ली हिस्ट्री ऑव इण्डिया, पृ 354
5 देवहूति, डी, हर्ष ए पोलिटिकल स्टडी, अध्याय 4
6 शर्मा, बी एन, हर्ष एण्ड हिज टाइम्स, पृ 236
7 मुखर्जी, आर के, हर्ष, पृ 43
8 मजूमदार, आर सी, क्लासिकल एज, पृ 110 13
9 त्रिपाठी, आर. एस, हिस्ट्री ऑव कन्नौज, पृ 78
10 देखिये, गोयल, एस आर, हर्ष शीलादित्य, पृ 135
11 वही, पृ 62.
12 दशरथ शर्मा भी गुर्जर राज्य की पहचान भीनमाल के चाप राज्य से करते है। दे, शर्मा, डी, राजस्थान थ्रू दि एजिज, पृ 63
13 गोयल, एस आर, हर्ष शीलादित्य, पृ 139.
14 सरकार, डी सी, दि गुहिलज ऑव किष्किन्धा, पृ 47
15 दे., जगन्नाथ अग्रवाल एव शकर गोयल (स), एस आर गोयल हिज मल्टीडायमेन्शनल हिस्टोरियोग्राफी, नई दिल्ली, 1992 पृ 140
16 गोयल, एस आर, हर्ष शीलादित्य, पृ 140 टि 1
17 वही, पृ 141
18 बाण, हर्षचरित, पृ 100,277,364
19 गोयल, एस आर, हर्ष शीलादित्य, पृ 141
20 वार्टर्स, टी, ऑन युवान च्वांग्स ट्रेवेल्स इन इण्डिया, भाग 1, पृ 300
21 वही, पृ 340
22 मजूमदार आर सी, क्लासीकल एज, पृ 153
23 शर्मा, डी., राजस्थान थ्रू द एजिज, पृ 109
24 दे., गोयल, शकर, हर्ष और राजस्थान, शोध, पत्रिका, वर्ष 27, अक, 1, पृ 24 28 हिस्ट्री एण्ड कल्चर दि एज आफ हर्ष, जोधपुर, 1992 पृ 286
25 बाण, हर्षचरित, पृ 100.

26. वही, पृ. 364.
27. वही, पृ. 277.
28. अग्रवाल, वी.एस., हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 43.
29. गोयल, शंकर, शोध पत्रिका, वर्ष 27, अंक 1, पृ. 27; हि. हि. ए. इ., पृ 286
30. गोयल, एस. आर., हर्ष शीलादित्य, पृ. 141.

3

# संयोगिता-कथा की ऐतिहासिकता

शकर गोयल

'पृथ्वीराजरासो'[1] की सयोगिता-कथा राजपूत युग की लोकप्रिय एव रोचक कथाओ मे अन्यतम है, परन्तु इसकी ऐतिहासिकता अत्यन्त विवादग्रस्त रही है। गौ ही ओझा,[2] र श त्रिपाठी,[3] वि ना रेउ[4] तथा रोमा नियोगी [5] आदि का विचार है कि यह सम्पूर्ण कथा पूर्णत कल्पनिक है। इन विद्वानो का कहना है कि सयोगिता की कथा की प्रत्यक्ष या परोक्ष चर्चा 'पृथ्वीराजविजय', 'रम्भामजरी नाटिका' तथा 'हम्मीर महाकाव्य' जैसे ग्रन्थो मे तथा जयचन्द्र के शिलालेखों मे कही नही मिलती। दूसरे, जयचन्द्र और पृथ्वीराज के युग तक राजसूय यज्ञ करने की परम्परा (जिसका इस कथा से घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है) तथा स्वयवर की प्रथा लुप्त हो गई थी।[6] तीसरे, जयचन्द्र ने इतनी विस्तृत विजय प्राप्त नही की थी कि वह राजसूय यज्ञ करने का अधिकारी बन जाता। इन तर्कों के आधार पर ये विद्वान् सयोगिता के स्वयंवर और विवाह को 16वीं शती के भाटो द्वारा रचित प्रेमाख्यान-मात्र बताते है। लेकिन अन्य अनेक विद्वान् इस कथा को ऐतिहासिक मानते है। उनका कहना है कि यह कथा प्रेम प्रधान अवश्य है, परन्तु प्रेम जीवन का एक अग है और उससे सम्बद्ध कथा वास्तविक हो सकती है। टॉड,[7] सी वी वैद्य [8] और दशरथ शर्मा[9] ने भी पृथ्वीराज द्वारा सयोगिता के अपहरण की कथा को सत्य माना है। गोपीनाथ शर्मा तथा कानूनगो आदि का भी यही मत रहा है।[10] इन विद्वानों के तर्कों को समवेत रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है

सयोगिता का वृत्तान्त नयचन्द्र द्वारा लिखित 'हम्मीर महाकाव्य , राजशेखर कृत 'प्रबन्ध कोष' और मेरुतुंग की 'प्रबन्धचिन्तामणि' जैसे ग्रन्थो मे तो नही मिलता, परन्तु चन्द्रशेखरकृत 'सुर्जन चरित' तथा अबुल फजल कृत 'आइने अकबरी' मे उपलब्ध है तथा 'पृथ्वीराजविजय' म सयोगिता का परोक्ष रूप से उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ मे पृथ्वीराज द्वारा तिलोत्तमा नामक अप्सरा को, जो राजकुमारी के रूप मे अवतरित हुई थी, प्राप्त करने का सकेत है।[11] 'रासो' मे कहा गया है कि जयचन्द्र ने सयोगिता के लिए एक स्वयवर[12] का तो आयोजन किया, किन्तु स्वयवर के इस नियम के विपरीत कि सभी इच्छुक राजा उसमें बुलाये जाये, उसने पृथ्वीराज को बुलावा नहीं भेजा। यही नहीं, उसने अनादरपूर्वक पृथ्वीराज की एक मूर्ति स्वयवर मण्डप के द्वार पर लगवा दी।[13] पृथ्वीराज को अपने गुप्तचरों द्वारा यह सारा समाचार ज्ञात हो गया और वह छिपकर अपने सैनिको के साथ वहाँ पहुँच गया। 'रासो' के अनुसार सयोगिता ने उस मूर्ति के गले में वरमाला डाल दी और पृथ्वीराज उसे लेकर अत्यन्त तेजी से भाग गया। जयचन्द्र गहड़वाल ने इसे अपनी सैनिक और पारिवारिक प्रतिष्ठा पर आघात समझा, जिससे पृथ्वीराज के साथ उसकी शत्रुता और गहरी हो गई। दशरथ शर्मा के अनुसार इस प्रकार की बातें असम्भव नहीं हैं। स्पष्ट यह सर्वदा सम्भव है कि जयचन्द्र की सयोगिता नामक कोई पुत्री रही हो जिसके हृदय में वीरताओं की कहानियाँ सुनकर प्रेम हो गया हो। इसी प्रकार हो सकता है कि पृथ्वीराज का विवरण सुनकर उस पर आसक्त हो गया हो। जयचन्द्र और पृथ्वीराज की

है। इन दोनों नरेशों का यह प्रयत्न था कि वे एक-दूसरे को परास्त कर तत्कालीन राजनीति में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लें। ऐसी स्थिति में जयचन्द्र का पृथ्वीराज को स्वयंवर में निमन्त्रित न करना स्वाभाविक ही था। हो सकता है कि पृथ्वीराज ने क्रुद्ध होकर एकाएक जयचन्द्र पर हमला बोल दिया हो। यह भी हो सकता है कि उसने कन्नौज-नरेश के धार्मिक कृत्यों के सम्पादन में लगा होने का फायदा उठाकर चुपके से आघात किया हो।[14] उस युग में शत्रु की राजधानी पर सैनिक टुकड़ियों के इस प्रकार चुपके से हमला कर देने के कई उदाहरण मिलते हैं।

दशरथ शर्मा ने 'रम्भामंजरी', 'हम्मीर महाकाव्य' तथा अन्य प्राचीन ग्रन्थों में संयोगिता की कथा अनुल्लिखित होने को बहुत महत्वपूर्ण नहीं माना है। उनका विचार है कि इस मौन साक्ष्य को निर्णायक मानना नितान्त अनुचित है। उनका तर्क है कि 'हम्मीर महाकाव्य' पृथ्वीराज द्वारा नागार्जुन, भादानक जाति, चन्देलराज परमर्दि, चालुक्यराज द्वितीय भीमदेव एवं परमार राजा धारावर्ष आदि के विरुद्ध किये गये युद्धों के विषय में भी मौन है। इससे क्या ये घटनायें भी अनैतिहासिक मानी जायेंगी? 'हम्मीर महाकाव्य' में तो पृथ्वीराज के किसी भी विवाह का वर्णन नहीं है। क्या इससें यह निष्कर्ष निकलेगा कि पृथ्वीराज ने कोई भी विवाह नहीं किया था? जहाँ तक 'रम्भामंजरी' का संबंध है, दशरथ शर्मा के अनुसार यह तो 'हम्मीर महाकाव्य' से भी कहीं अधिक अप्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें जयचन्द्र का वर्णन बाण प्रणीत 'कादम्बरी' की शैली पर लिखे गये विशेषणों के रूप में किया गया है। इनके आधार पर उसकी जीवनी का निर्माण करना रेत पर मकान बनाने के समान है। इसमें जयचन्द्र के जीवन की सभी बातों का वर्णन नहीं है। इसके अलावा ध्यान रखना चाहिए कि इस नाटक का नायक स्वयं जयचन्द्र है। अत: हो सकता है इसमें उसकी पराजय या अपमान की बात लिखना इसके लेखक को उचित प्रतीत नहीं हुआ हो।

दशरथ शर्मा ने 'पृथ्वीराजरासो' की अविश्वसनीय प्रकृति को भी बहुत महत्त्व नहीं दिया है। उनका कहना है कि यदि किसी स्कूल के 80 प्रतिशत विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जायें तो इससे यह निश्चित नहीं होता कि बाकी 20 प्रतिशत भी, जिनका परिणाम हमें ज्ञात नहीं है, असफल हो गये है।[15] इसी प्रकार, 'रासो' के अन्य अधिकांश स्थलों की अविश्वसनीयता से इस ग्रन्थ के शेष भाग की सत्यता शंकाग्रस्त नहीं होती।

कुछ अन्य इतिहासकारों के अनुसार पृथ्वीराज जैसे महान् योद्धा के लिए यह शोभनीय नहीं था कि वह किसी सुन्दरी को उठाकर ले जाता। लेकिन शर्माजी को यह शंका निराधार लगती है क्योंकि पृथ्वीराज ने अपनी पाँचों रानियों से उनकी सुन्दरता से प्रभावित होकर ही विवाह किये थे।

दशरथ शर्मा का यह भी आग्रह है कि 'सुर्जन चरित' में इस कथा का विस्तृत वर्णन होने से निश्चित है कि यह कथा पर्याप्त प्राचीन काल से चली आ रही थी। अकबर के मन्त्री एवं 'आइने अकबरी' के लेखक अबुल फजल को भी यह कथा ज्ञात थी। उसने जयचन्द्र द्वारा आयोजित यज्ञ और यज्ञद्वार पर पृथ्वीराज की सुवर्णमूर्ति, राजकुमारी संयोगिता के अपहरण एवं सामन्तों के शौर्य एवं चन्द्रभाट आदि का विस्तृत उल्लेख किया है। निष्कर्ष रूप में दशरथ शर्मा ने कहा है कि "जो राजकुमारी रासो की प्रधान नायिका है, जिसके विषय में अबुल फजल को भी पर्याप्त ज्ञान था, जिसकी रसमयी कथा चाहमान वंशाश्रित एवं चाहमान वंश के इतिहासकार चन्द्रशेखर के 'सुर्जन चरित' में स्थान प्राप्त कर चुकी है, जिसे 16 वीं शती और उससे पूर्व भी पृथ्वीराज के वंशज अपनी पूर्वजा मानते थे, जिसकी ओर परोक्ष संकेत 'पृथ्वीराजविजय' में भी मिल सकता है, जिसके पिता जयचन्द्र और पृथ्वीराज का वैमनस्य इतिहासानुमोदित एवं तत्कालीन राजनीतिक स्थिति के अनुकूल है, जिसकी अपहरण-कथा अभूतपूर्व एवं असंगत नहीं है,

जिसका 'रासो' में उपलब्ध वर्णन भाग पर्याप्त प्राचीन भाषा में निबद्ध है, जिसकी सत्ता के निराकरण के लिए 'हम्मीर महाकाव्य' और 'रम्भामंजरी' का मौन हेत्वाभास मात्र है, उस कान्तिमती संयोगिता को यदि पृथ्वीराज की परम प्रेयसी रानी माने तो दोष ही क्या है? क्या आपका इतिहासाध्यापक...अब भी इसे भ्रम-राक्षस के चंगुल से मुक्त न कर सकेगा?"[16]

दशरथ शर्मा और उनके समर्थकों द्वारा संयोगिता की कथा को ऐतिहासिक सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त प्रमाण सरसरी दृष्टि से बड़े सबल प्रतीत होते है, लेकिन कुछ विचार करते ही इनका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। जैसा कि तथ्यो से स्पष्ट है, 16वीं शती के पूर्व का कोई भी ग्रन्थ इस कथा से परिचित नहीं है। इस शती के पूर्व के भी जो ग्रन्थ चाहमान और गहड़वाल इतिहास पर प्रकाश डालते हैं, वे सभी इस कथा के विषय में मौन है। दशरथ शर्मा का कहना है कि यदि ये सब ग्रन्थ इस कथा के विषय में मौन है, तो इसका मतलब यह नही कि इस कथा को गलत माना जाय। वह इस तर्क को मौन साक्ष्य कहकर महत्वहीन ठहरा देते हैं। परन्तु सयोगिता की तथाकथित घटना अगर घटी ही नहीं, तो इन ग्रन्थों में उसके विषय में मौन के अलावा मिल ही क्या सकता है? किसी ग्रन्थ का किसी घटना के विषय में मौन होना तब महत्वहीन होता है जब उस घटना का उल्लेख उतने ही विश्वसनीय और समकालीन ग्रन्थों में मिले। पर किसी घटना के बारे में अगर प्राचीनतर ग्रन्थ मौन हों और परवर्ती ग्रन्थ, जिनकी विश्वसनीयता संदिग्ध हो, उसका उल्लेख करे, तो प्राचीनतर ग्रन्थों के मौन को मात्र 'मौन साक्ष्य' कहकर नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। हमें ध्यान रखना चाहिए कि किसी घटना को समकालीन और अन्य दृष्टि से विश्वसनीय ग्रन्थ में उल्लिखित होने के बावजूद असत्य और अनैतिहासिक तो ठहराया जा सकता है, परन्तु किसी घटना के समकालीन साक्ष्य में अनुल्लिखित होने पर उसकी विश्वसनीयता जाँचने का कोई उपाय ही नहीं होता। ऐसी घटना को केवल इसलिए सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें हमारा समाज बाद में कई शतियों तक विश्वास करता रहा था या इस समय करता है, विशेष रूप से ऐसी हालत में जब हम पाते हैं कि जिस ग्रन्थ में वह सर्वप्रथम उल्लिखित मिलता है, उसका अधिकतर भाग पूर्णतः अविश्वसनीय है। अगर हम परवर्ती दन्तकथाओं को इस प्रकार सत्य स्वीकार कर लेगे तो हमारा इतिहास इतिहास ही नहीं रह जायेगा।

दशरथ शर्मा ने उन ग्रन्थों के, जिनमें संयोगिता की कथा का उल्लेख है, पारस्परिक विरोध को पूर्णतः भुला दिया है और 'पृथ्वीराजविजय' में इसका परोक्ष उल्लेख मान लिया है। लेकिन इस महाकाव्य में तिलोत्तमा अप्सरा के राजकुमारी-रूप में अवतरित होने के उल्लेख को संयोगिता की कथा से ही सम्बद्ध क्यों माना जाय? तिलोत्तमा के इस उल्लेख को तो 'रासो' में उल्लिखित किसी भी रानी के साथ सम्बद्ध किया जा सकता है, क्योंकि पृथ्वीराज ने अनेक विवाह किये थे और उसकी सभी रानियाँ सुन्दर और अनन्द्या थीं। अतः यह आवश्यक नहीं है कि 'पृथ्वीराजविजय' की तिलोत्तमा को संयोगिता ही माना जाय।

दशरथ शर्मा ने 'रासो' के संयोगिता विषयक अंश को विश्वसनीय प्रमाणित करने के लिए बड़ा प्रयास किया है। उनका कहना है कि जिस तरह किसी कक्षा के 80 प्रतिशत विद्यार्थियों के फेल होने से शेष 20 प्रतिशत का, जिनका परिणाम हम नहीं जानते, अनुत्तीर्ण होना प्रमाणित नहीं होता, वैसे ही 'रासो' के अधिकांश का अविश्वसनीय होना शेष भाग को अविश्वसनीय प्रमाणित नहीं करता। लेकिन प्रश्न है कि अगर किसी कक्षा के 80 प्रतिशत विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हैं, तो क्या शेष 20 प्रतिशत को, जिनका परिणाम हमें ज्ञात नहीं है, बिना किसी प्रमाण के उत्तीर्ण माना जा सकता है ? शायद प्रमाण के अभाव में उनमें ज़्यादातर को अनुत्तीर्ण मानना ही अधिक उचित होगा। यही बात 'रासो' के बारे में कही जा सकती है। दशरथ शर्मा और हमारे दृष्टिकोण में यही अन्तर है : दशरथ शर्मा शेष 20 प्रतिशत को बिना,

के विश्वसनीय मानने के लिये प्रस्तुत हैं और हम उसको बिना प्रमाण के सत्य मानने के लिये तैयार नहीं हैं।

वास्तव में, 'रासो' की यह सारी कथा कपोल-कल्पित और बाद में लिखी हुई है। इसमें वर्णित अन्य घटनाओं की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है। इस ग्रन्थ में कहा गया कि जयचन्द्र ने राजसूय यज्ञ किया था, परन्तु स्वयं जयचन्द्र की प्रशस्तियों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। विक्रम संवत् की 14वीं शती में लिखे गये 'हम्मीर महाकाव्य' में भी यह अनुल्लिखित है। इसी प्रकार 'रासो' की घटनाओं का समय भी अशुद्ध बताया गया है। इसमें पृथ्वीराज का जन्म वि. सं 1115 में होना लिखा है, परन्तु वास्तव में उसका जन्म वि. सं 1217 (ई. सन् 1160) के करीब हुआ होगा क्योंकि वि. सं. 1236 (ई. सन् 1179) के लगभग, उसके पिता की मृत्यु के समय, वह अल्पवयस्क था जिससे राज्य का प्रबन्ध उसकी माता ने अपने हाथ में ले लिया था। 'रासो' में अनेक व्यक्तियों के नाम गलत बताये गये हैं। जयचन्द्र के पिता का नाम विजयपाल न होकर विजयचन्द्र था जिसने 13वीं शती के प्रारम्भ में नहीं, बल्कि 13वीं शती के पूर्वार्द्ध में शासन किया था। यह तथ्य उसकी वि. सं. 1124 और 1225 की प्रशस्तियों से स्पष्ट है।[17] 'रासो' में पृथ्वीराज की माता का नाम कमलावती बताया गया है, परन्तु 'पृथ्वीराजविजय' में उसका नाम कर्पूरदेवी लिखा है।[18] 'रासो' का यह कथन भी कि वह तंवर अनंगपाल की पुत्री थी, गलत है। वस्तुत: वह त्रिपुरि के हैहयवंशी राजा की कन्या थी। 'हम्मीर महाकाव्य' में भी उसका नाम कर्पूरदेवी ही लिखा है।

'रासो' में लिखा है कि मेवाड़ के महाराणा समरसिंह पृथ्वीराज के बहनोई थे और शहाबुद्दीन से लड़ते हुए मारे गये थे। परन्तु पृथ्वीराज और शहाबुद्दीन का युद्ध वि. सं 1249 में हुआ था, जब कि महाराणा समरसिंह वि. सं. 1359 के करीब मरे थे। 'पृथ्वीराजरासो' में पृथ्वीराज के पुत्र का नाम रैणसी लिखा है परन्तु वास्तव में उसके पुत्र का नाम गोविन्दराज था और उसके अल्पवयस्क होने के कारण उसके चाचा हरिराज ने अजमेर का राज्य हड़प लिया था।

'रासो' में लिखा है कि जयचन्द्र पर आक्रमण कुतुबुद्दीन ने किया था, परन्तु फारसी तवारीखों के अनुसार इस चढ़ाई में स्वयं शहाबुद्दीन ने भाग लिया था। इसके अलावा किसी भी फारसी तवारीख में जयचन्द्र का शहाबुद्दीन से मिल जाना नहीं लिखा है जबकि 'रासो' ने जयचन्द्र पर यह झूठा आरोप लगाया है। इसी प्रकार 'रासो' का यह कथन कि संयोगिता-हरण के कारण जयचन्द्र ने शहाबुद्दीन को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया था, किसी भी अन्य साक्ष्य से प्रमाणित नहीं होता।

जहाँ तक 'आइने अकबरी' और 'आल्हाखण्ड' आदि ग्रन्थों में संयोगिता की कथा उल्लिखित होने का प्रश्न है, उनका साक्ष्य प्रामाणिक नहीं माना जा सकता क्योंकि इनकी कथा, सम्भव है, स्वयं 'रासो' से ही ली गई हो। भला जिस बात को जयानक भट्ट नहीं जानता था उसको 16वीं शती में अबुल फजल ने कैसे जान लिया?

इस सब तथ्यों के प्रकाश में हमें यह निष्कर्ष निकालने में कोई संकोच नहीं है कि संयोगिता की कथा एक ऐतिहासिक घटना नहीं, वरन् परवर्ती युगों के भाटों की कल्पना की एक रोचक देन है।

## संदर्भ-सूची

1. काशी नागरी प्रचारिणी सभा का प्रकाशन, 40-50 वें और 60-61 वें समय।

ओझा, निबन्ध सग्रह, 2, पृ 78-112

त्रिपाठी, हिस्ट्री ऑव कन्नौज, पृ 325 26

रेउ, विश्वेश्वरनाथ, राष्ट्रकूटों का इतिहास, पृ 138

नियोगी, रोमा, हिस्ट्री ऑव दी गहड़वाल डायनेस्टी, पृ 106-67

त्रिपाठी, पूर्वो , पृ 326

टॉड, एनाल्स एण्ड एण्टिक्विटीज ऑव राजस्थान, 1 पृ 495

वैद्य, सी वी , हिस्ट्री ऑव अर्ली मेडिएवल इण्डिया, 3, पृ 324

शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डायनेस्टीज, पृ 71

शर्मा, गोपीनाथ, राजस्थान का इतिहास, 1 पृ 164

पृथ्वीराजविजय, 12 ३8 शर्मा, दशरथ, वही, पृ 68 इण्डियन एण्टीक्वेरी, 4, पृ 112 14, डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑव नॉर्दन इण्डिया, भाग 2 पृ 945-46 सिंह रामवृक्ष, हिस्ट्री ऑव चौहान्स, पृ 173-81 शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजिज, पृ 292 97

सयोगिता स्वयवर जयचन्द्र के राजसूय यज्ञ का एक अग था। राजसूय अनुल्लघित सत्ता का द्योतक होता था। कहा जाता है कि यह कार्य उसने महोबा मे अपनी पराजय की प्रतिक्रिया के स्वरूप किया था। उस समय की परम्परा के अनुसार शुभ अवसर पर प्रतिद्वन्द्वियों की मूर्तियों को द्वार पर प्रहरी बनाकर खड़ा कर दिया जाता था। आठवीं शती में हिरण्यगर्भ महादान-समारोह में दन्तिदुर्ग ने भी अपने प्रतिद्वन्द्वी गुर्जरराज को अपमानित करने के लिए उसकी मूर्ति प्रतिहार के रूप में भवन के द्वार पर लगवा दी थी। शर्मा, गोपीनाथ, पूर्वो , पृ 164

शर्मा, दशरथ, पूर्वो , पृ 71, इस प्रसग में वह इन्द्र राष्ट्रकूट का उदाहरण (ए आई 18, पृ 243) उपस्थित करते हैं। वह चौलुक्य राजकुमारी भवनागा को उसके विवाह मण्डप से ही भगा लाया था।

शर्मा, दशरथ, चौहान सम्राट् पृथ्वीराज तृतीय और उनका युग, पृ २५

द्र , राजस्थान भारती, भाग 1, अक 2 ३

एपिग्राफिया इण्डिका, 8 परिशिष्ट 1 पृ 1३

जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी, 1913, पृ 275

4

# पद्मिनी-कथा की ऐतिहासिकता

## के. एस. लाल

अलाउद्दीन खिलजी द्वारा चित्तौड़ पर आक्रमण और अधिकार के सम्बन्ध मे के एक अत्यन्त मनोरजक कथा प्रचलित है। सोलहवीं शती के मलिक मुहम्मद जायसी नामक विख्यात कवि ने 1540 ई मे ''पद्मावत'' नामक एक महाकाव्य लिखा जिसमे वह चित्तौड़ के आक्रमण का कारण अलाउद्दीन की चित्तौड़ के राजा की सुन्दरी रानी पद्मिनी को पाने की लालसा को बताता है। जायसी के अनुसार पद्मिनी या पद्मावती लका की राजकुमारी थी और चित्तौड़ का राजा रतनसिंह एक तोते से उसके सौन्दर्य के सम्बन्ध मे सुनकर उसके सामने विवाह प्रस्ताव रखने के उद्देश्य से भिक्षु के वेश मे लका गया था। वह उससे प्राणपण से प्रेम करता था। वह वहा बारह वर्षों तक ठहरा। अन्त में रतनसिंह उसका प्रेम पाने मे सफल हो गया और उसे अपने साथ लेकर चित्तौड़ लौट आया। राघव नामक एक भिक्षु ने भिक्षा लेते समय पद्मिनी को देखा और उसका अनुपम सौन्दर्य देखकर मूर्च्छित हो गया। उसने पद्मिनी के अप्रतिम सौन्दर्य की कहानी दिल्ली के सुल्तान को सुनाई। इस वर्णन से सम्मोहित होकर अलाउद्दीन ने रतनसिंह के पास सदेश भेजा कि पद्मिनी को शाही हरम मे भेज दिया जाय। रतनसिंह दिल्ली के सुल्तान की इस माँग से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ। फलत सुल्तान ने चित्तौड़ का घेरा डाल दिया। किन्तु पूरे आठ वर्षों तक युद्धरत रहने पर भी अलाउद्दीन किला अधिकृत नहीं कर सका। यह देख कर कि किला दुर्जेय है और राणा को भी नीचा नही दिखाया जा सकता, अलाउद्दीन ने माग मे रियायत कर दी और इस शर्त पर दिल्ली लौट जाने का वायदा किया कि उसे सुन्दरी पद्मिनी का प्रतिबिम्ब एक नजर दिखा दिया जाय। प्रतिबिम्ब देखकर। वह किले से लौटा। यद्यपि रतनसिंह को उसके दो वीर सेनानायकों— गोरा और बादल — ने तुर्क के अधम उद्देश्य के प्रति सचेत किया किन्तु रतनसिंह शिष्टाचारवश किले के द्वार तक सुल्तान के साथ चला गया। जैसे ही वह सुल्तान को द्वार पर छोड़ रहा था, उसे कपटपूर्वक बदी बना लिया गया और दिल्ली ले जाया गया। चित्तौड़ के लोग सुल्तान के लज्जाजनक विश्वासघात से भौंचक्के रह गये। शीघ्र ही उनके पास इस आशय का शाही आदेश आया कि पद्मिनी को शाही हरम मे भेजने के बाद ही रतनसिंह को मुक्त किया जा सकता है। रानी ने, जिसने दिल्ली में रतनसिंह को दी जा रही यातना के सबध में सुना, गोरा और बादल से परामर्श किया और दिल्ली जाने का दिखावा करने का निश्चय किया। पद्मिनी और एड़ी से चोटी तक शस्त्रों से सुसज्जित वीर राजपूत योद्धा 1,600 बद पालकिओं मे बैठे और यह समाचार फैलाया गया कि पद्मिनी, उसकी सखियाँ और सेविकाए शाही महल को जा रही हैं। जब यह दल दिल्ली पहुँचा, पद्मिनी ने सुल्तान से प्रार्थना की कि उसे उसके स्वामी रतनसिंह से अन्तिम बार भेट करने की अनुमति दी जाय, क्योंकि अब तो उसे अपने पति से सदैव के लिए बिछुड़ना है। अपनी सफलता से आनन्दित अलाउद्दीन ने खुशी से यह प्रार्थना मजूर कर ली। बहादुर राजपूतों से लदी पालकिया महल में प्रविष्ट हुईं, जहाँ रतनसिंह बदी बनाकर रखा गया था। उसे छुड़ाने में समय व्यर्थ नहीं गवाया गया और रतनसिंह तथा उसकी रानी ने

चित्तौड़ का मार्ग पकड़ा। पलायन के समय उनकी रक्षार्थ बादल और अन्य साहसी राजपूत योद्धा साथ थे, जबकि गोरा ने वीरता से उस शाही सेना का सामना किया जिसे भौंचक्के सुल्तान ने भागने वालों को पकड़ लाने के लिए भेजा था। शाही सेना और राजपूतों के मध्य हुए संघर्ष में गोरा मारा गया। परन्तु इस संघर्ष से राणा को सुरक्षित चित्तौड़ पहुँचने के लिए पर्याप्त समय मिल गया। उसके चित्तौड़ पहुँचने पर बहुत खुशियाँ मनाई गयीं। वहाँ उसने भेलवार कुम्भलगढ के देवपाल के विश्वासघात के संबंध में सुना, जिसने उसकी अनुपस्थिति में पद्मिनी को चित्तौड़ से ले भागने का प्रयत्न किया था। रतनसिंह ने उसकी रियासत पर आक्रमण किया और देवपाल को मार डाला, किन्तु वह स्वयं भी संघर्ष में घायल हो गया और चित्तौड़ लौटने के कुछ समय पश्चात् ही इन घावों के कारण उसकी मृत्यु हो गयी। पद्मिनी और एक अन्य रानी नागमती उसके साथ सती हो गयी। इसी समय सुल्तान पुनः चित्तौड़ पहुँचा और किले पर इस्लाम का ध्वज गाड़ दिया गया।

मलिक मुहम्मद जायसी की इस कथा ने, जिसमें प्रेम, साहस और विषाद सुन्दरता से सँजोये गये है, शीघ्र ही जनसाधारण के मन में स्थान बना लिया और हर जगह पद्मिनी की कथा कही और दोहरायी जाने लगी। फारसी वृत्तान्तकारों ने कल्पना और वास्तविकता के बीच भेद करने की अधिक चिन्ता नहीं की और इसे सच्चा इतिहास मान लिया। फलतः मलिक मुहम्मद जायसी के पश्चात् पद्मिनी की घटना का उल्लेख अनेक ऐतिहासिक कृतियों में, फरिश्ता और हाजीउद्दबीर की कृतियों में भी, किया गया।

फरिश्ता चित्तौड़ का वर्णन दो स्थानों पर करता है। एक स्थान पर वह कहता है कि सुल्तान अलाउद्दीन ने छः माह के घेरे के पश्चात् चित्तौड़ का किला विजित किया और उसे खिज्र खाँ को, जिसे उसने युवराज घोषित कर दिया, सौंप दिया। वह चित्तौड़ के तत्कालीन शासक का नाम भी नहीं देता। एक अन्य स्थान पर 704 हि. (1304 ई.) की घटनाओं का वर्णन करते समय वह लिखता है कि राजा रतनसिंह, जो चित्तौड़ के आक्रमण के बाद से बन्दी था, विचित्र तरह से भाग निकला। रतनसिंह की स्त्रियों में पद्मिनी नाम की रानी थी जिसके सौन्दर्य और कौशल के कारण सुल्तान का जी उसे पाने के लिए ललचाया। उसने राणा से कहा कि यदि वह मुक्त होना चाहता है तो वह पद्मिनी को उसे अर्थात् सुल्तान को सौंप दे। रतनसिंह इस प्रस्ताव से सहमत हो गया और पद्मिनी को बुला भेजा। परन्तु उसके सजातियों ने इस अपमानजनक प्रस्ताव को अमान्य कर दिया और पद्मिनी तथा अन्य नारियों को अपमान से बचाने के लिये पद्मिनी को विष देने का विचार किया। किन्तु रतनसिंह की एक पुत्री ने, जो अपनी बुद्धिमत्ता और दक्षता के लिए प्रसिद्ध थी, एक ऐसी योजना बनाई जिससे वह अपने पिता द्वारा कोई अपमानजनक मार्ग अपनाने के लिए झुके बिना उसे सुल्तान के बन्धन से निकाल लायी। तत्पश्चात् फरिश्ता पालकियों में वीर राजपूतों के जाने और राणा को छुड़ा लाने की जायसी की कहानी लगभग दुहरा देता है। बाद में वह कहता है सुरक्षापूर्वक चित्तौड़ पहुँचते ही रतनसिंह ने मुसलमानों द्वारा अपने अधिकृत प्रदेश पर धावे मारने प्रारम्भ कर दिये। अन्त में सुल्तान ने चित्तौड़ अपने अधिकार में रखना निरर्थक समझा और खिज्र खाँ को उसे खाली करने का आदेश दिया। तत्पश्चात् उसे राणा के भानजे को सौंप दिया गया।[2]

पद्मिनी के संबंध में लिखने वाला दूसरा महत्वपूर्ण इतिहासकार हाजीउद्दबीर है।[3] वह फरिश्ता का समकालीन था। पद्मिनी की कथा का उसका वर्णन कुछ भिन्न है। वह कहता है कि चित्तौड़ विजय के पश्चात् उसके हिन्दू राजा को चित्तौड़ के ही एक निर्जन पहाड़ी स्थान में बन्दी बनाकर रखा गया और अलाउद्दीन ने उसे दिल्ली से सन्देश भेजा कि यदि वह अपनी पत्नी को सौंप दे तो उसे निश्चियतः मुक्त कर दिया जायेगा। इस अरबी इतिहासकार का दूसरा कुछ परस्पर विरोधी कथन यह है कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ त्यागने से पूर्व पद्मिनी के समर्पण की मांग की थी और बदले में राणा [4] की मुक्ति का वायदा

किया था। इस प्रकार वह कहता है कि यह सभव है कि जब सुल्तान दिल्ली लौट रहा था, तब राजा उसके साथ गया हो। उसने सुल्तान से प्रार्थना की होगी कि उसे मेवाड़ प्रदेश में ही रहने दिया जाय, जिससे वह अपनी पत्नी को हरम में जाने के लिए मना सके और फिर सुल्तान के सैनिको के सरक्षण में स्वय दिल्ली चली जाए। स्त्री के लोभ मे अलाउद्दीन ने उसे वहीं छोड़ दिया और स्वय दिल्ली चला गया। राजा ने अपने विश्वस्त सरदारों और सेवको के पास गुप्त अनुदेश भेजे और वे, लगभग 2,500 की सख्या मे, पालकियो में आ पहुँचे। उन्होंने युद्ध किया और उसे बचा लिया। यह सुनकर अलाउद्दीन ने राणा की एक भानजी को चित्तौड़ दे दिया जो सुल्तान को ब्याही थी, किन्तु शीघ्र ही राजा के मन्त्री ने उसे मार डाला। तदनन्तर वह हिन्दू राजा अपने देश मे आया और वहाँ अपनी सत्ता स्थापित कर ली। यह स्थिति 941 हि तक चलती रही जब गुजरात के बहादुर बिन मुजफ्फर ने चित्तौड़ विजित कर लिया।[5]

राजपूतो की स्थानीय परम्पराओ और उनके अठारहवीं शती के चारणो पर विश्वास करते हुए कर्नल टॉड भी पद्मिनी की कथा को ओजपूर्ण शब्दो मे दुहराते हैं।

पद्मिनी-कथा की वास्तविकता जानने के लिए इसके विभिन्न पक्षों का गहनतर अध्ययन करना आवश्यक है। जायसी के महाकाव्य की अनेक हास्यास्पद और अशुद्ध बाते स्पष्ट प्रदर्शित करती है कि यह एक ऐतिहासिक सत्य नहीं है। प्रथमत , रतनसिंह के लिए, जिसने अलाउद्दीन के चित्तौड़-आक्रमण के समय तक केवल एक वर्ष तक राज्य किया था, लका जाना और वहाँ पद्मिनी की खोज मे बारह वर्ष तक ठहरना सम्भव नहीं था। फिर रतनसिंह का समकालीन लका का शासक पराक्रमबाहु चतुर्थ था, न कि जायसी का गोवर्द्धन या कर्नल टॉड का हमीर सक।[6] आगे जायसी का महाकाव्य कहता है कि अलाउद्दीन और रतनसिंह के मध्य युद्ध आठ वर्षों तक चलता रहा था। इस कथन का समर्थन किसी समकालीन या परवर्ती कृति द्वारा नहीं होता। साथ ही, जायसी कहता है कि चित्तौड़ पर आक्रमण का कारण पद्मिनी थी, किन्तु फरिश्ता और हाजीउद्दबीर, जिन्होंने मूल कथा जायसी से ली है, यह नहीं कहते कि पद्मिनी की प्राप्ति इस आक्रमण का कारण या बहाना थी।

फरिश्ता ने अपना ग्रन्थ मलिक मुहम्मद जायसी के सत्तर वर्ष पश्चात लिखा। उसका कथन भी असगतियों से भरा पड़ा है। चित्तौड़ अधिकृत किये जाने के वर्णन मे वह चित्तौड़ के शासक के नाम का उल्लेख भी नहीं करता, सम्भवत इस कारण कि उसने समकालीन लेखक अमीर खुसरो को, जो स्वय भी नाम का उल्लेख नहीं करता, अपना आधार बनाया था। बाद में फरिश्ता एक युक्ति से रतनसिंह के बच निकलने की बात कहता है, किन्तु उसे निश्चित नहीं था कि पद्मिनी रतनसिंह की पुत्री थी या पत्नी।[7] चित्तौड़ की बाद की घटनाओं का भी उसका वर्णन विश्वसनीय नहीं है क्योंकि सुल्तान अलाउद्दीन ऐसा व्यक्ति नहीं था जो एक भागे हुए बन्दी द्वारा अपने पुत्र के प्रदेशों को उजाड़ा जाना सहन कर ले, खिज्र खाँ को चित्तौड़ खाली करने का आदेश देने की बात तो दूर है। फरिश्ता 1304 ई (704 हि ) की घटनाओं के वर्णन मे खिज्र खाँ द्वारा चित्तौड़ का खाली किया जाना लिखता है और कहता है कि सुल्तान ने इसे रतनसिंह के एक भानजे को दे दिया। चित्तौड़ खाली किये जाने की यह तिथि त्रुटिपूर्ण है क्योंकि दूसरा स्रोत बताता है कि खिज्र खाँ ने 1304 ई के काफी बाद चित्तौड़ त्यागा। यह भी विचारणीय है कि रतनसिंह अपने भानजे का मेवाड़ की गद्दी पर अधिकार सहन नहीं कर सकता था, जबकि वह स्वय अपने देश में सफलतापूर्वक जीवित लौट आया था।

पद्मिनी का हाजीउद्दबीर द्वारा प्रदत्त वर्णन और भी भ्रमोत्पादक है। ... समय में वह स्वयं सराय में था। वह भी रतनसिंह के नाम का

उल्लेख कुछ विशेष गुणों वाली स्त्री के रूप में करता है, किसी व्यक्ति विशेष के रूप में नहीं। फिर वह मुक्ति की युक्ति का श्रेय राय की योजनात्मक बुद्धि को ही देता है, पद्मिनी के चातुर्य को नहीं। उसके अनुसार राय दिल्ली में बंदी बनाकर नहीं रखा गया था और वह निश्चयपूर्वक यह नहीं कहता कि पद्मिनी की मांग चित्तौड़ के अधिकृत किये जाने के पश्चात् की गयी थी या सुल्तान के हाथों रतनसिंह के बंदी हो जाने के पश्चात्। हाजीउद्दबीर के वर्णन के सम्बन्ध में सर्वाधिक विचित्र बात यह है कि वह खिज्र खाँ के नाम का उल्लेख नहीं करता, जिसे समकालीन लेखकों के अनुसार विजय के पश्चात् चित्तौड़ सौंपा गया था।

इस प्रकार फरिश्ता, हाजीउद्दबीर और अन्य परवर्ती फारसी इतिहासकार और राजपूताना के चारण, कुछेक गौण अंतरों को छोड़कर, एक दूसरे से मेल खाते हैं। प्रतीत होता है कि उन्होंनें जायसी के "पद्मावत" से सामग्री ली है।[8] परन्तु दिल्ली जाने वाली पालकियों की संख्या जायसी 1600 बताता है, फरिश्ता 700 और हाजीउद्दबीर केवल 500। मलिक मुहम्मद जायसी और फरिश्ता कहते है कि राणा बंदी बनाकर दिल्ली में रखा गया था, जबकि हाजीउद्दबीर का विचार है कि वह कभी दिल्ली नहीं गया और पद्मिनी को अलाउद्दीन के पास जाने के लिए मनाने के हेतु अपने राज्य में ही सैनिकों के पहरे में बंदी रखा गया था। जायसी के अनुसार रानी पद्मिनी ने, फरिश्ता के अनुसार रतनसिंह की पुत्री ने, और हाजीउद्दबीर के अनुसार स्वयं रतनसिंह ने अपने निकल भागने की विचित्र युक्ति नियोजित की थी। इस प्रकार यह सही है कि कुछेक विभिन्नताओं को छोड़ कर समग्र चारणी और ऐतिहासिक पुस्तकों में प्रदत्त पद्मिनी- कथा जायसी के "पद्मावत" से मेल खाती है किन्तु स्वयं इसमें संदेह है कि "पद्मावत" लिखते समय जायसी का तात्पर्य चित्तौड़ की रानी की जीवन-गाथा लिखने का था। अपनी पुस्तक के अंत में वह कहता है, "इस कथा में चित्तौड़ देह का, राजा रतनसिंह मस्तिष्क का, सिंहलद्वीप (लंका) हृदय का, पद्मिनी चातुर्य का...और सुल्तान अलाउद्दीन माया का प्रतिरूप है। बुद्धिमान जन समझ सकते है इस प्रेम कथा का तात्पर्य क्या है।"[9]

जायसी की इस टीका से यह स्पष्ट है कि वह एक दृष्टान्त-कथा लिख रहा था, कोई सत्य ऐतिहासिक घटना नहीं। यह सम्भव है कि इस कथानक विशेष की प्रेरणा जायसी को उसके समय ही, जब 1534 ई. में गुजरात के बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया, चित्तौड़ के दुखद जौहर से मिली हो। किन्तु जायसी द्वारा यह प्रेम-कथा एक बार लिख दिये जाने के पश्चात् भारत के मुस्लिम इतिहासकारों ने इसे यथावत् अपना लिया। ज्ञातव्य है कि "पद्मावत" की रचना अलाउद्दीन की मृत्यु के 224 वर्ष पश्चात् और चित्तौड़ के स्मरणीय घेरे के 237 वर्ष पश्चात् पूर्ण हुई थी और एक भी फारसी या राजस्थानी वृत्तान्तकार ने पद्मावत की समाप्ति के पूर्व पद्मिनी के संबंध में नहीं लिखा है।

किन्तु एक कारण से इस कथा की उपेक्षा करने में हिचक होती है। कहा जा सकता है कि मेवाड़ की परम्परा, जो इस कहानी को स्वीकार करती है, अत्यन्त पुरानी है और वंशानुगत चली आयी है। अत प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि पद्मिनी की कथा मात्र एक "साहित्यिक रचना" थी तो उसका राजपूताना मे इतना विस्तृत प्रचलन कैसे हो गया।[10] परन्तु इस शंका का उत्तर कठिन नहीं है। परम्परा इतिहास का अधिक प्रामाणिक स्रोत नहीं होती और यह कहना सरल नहीं है कि मेवाड़ की परम्परा कितनी प्रावीन है और वस्तुत: जायसी के "पद्मावत" से अधिक प्राचीन है या नहीं। चारणी वृत्तान्त "पद्मावत" और फरिश्ता की "तारीख" के भी बहुत पश्चात् लिखे गए थे और यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि चारणों ने पद्मिनी की कथा को अपने प्रदेश की मौखिक परम्परा के आधार पर लिखा था या "पद्मावत" के आधार

था। यह सर्वथा सम्भव है कि जायसी को "पद्मावत" के कथानक के लिए चित्तौड़ के "भयानक युद्ध" से उसी प्रकार प्रेरणा मिली हो, जिस प्रकार डिकिन्स को "ए टेल ऑव टू सिटीज" के कथानक के लिए फ्रांस की राज्यक्रान्ति से प्रेरणा मिली थी। जहाँ तक राजपूताना मे इसके विस्तृत प्रचार का प्रश्न है तो यह कहा जा सकता है कि ऐसी कथाएँ एक बार प्रचलित होने के बाद और भी घटनाओं और क्षेपकों सहित दोहरायी जाने लगती हैं। पद्मिनी की रूमानी कथा भारत मे इतनी अधिक प्रचलित हो गई कि न केवल फरिश्ता और हाजीउद्दबीर, बल्कि निन्दात्मक तथ्यों का महान् संग्राहक मनुक्की इसकी घटनाओ का वर्णन अकबर के चित्तौड़ आक्रमण के सिलसिले मे कर देता है और कहता है कि पद्मिनी राजा जयमल की रानी थी, जिसे शाही बंदीगृह से पालकियों की योजना द्वारा मुक्त किया गया था।[11]

इन भ्रमोत्पादक और विभिन्नतापूर्ण वर्णनों के विरुद्ध बरनी, इसामी, अमीर खुसरो, इब्नबतूता और "तारीख ए मुहम्मदी" तथा "तारीख ए मुबारकशाही" के लेखकों जैसे समकालीन इतिहासकारों, कवियों और यात्रियों के साक्ष्य हैं जो पद्मिनी की घटना की ओर इंगित भी नहीं करते। इन सब इतिहासकारों और वृत्तान्तकारों पर चित्तौड़ की घटना पर चुप्पी साधने के षड्यन्त्र करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। अमीर खुसरो ने, जो सुल्तान के साथ चित्तौड़ गया था, घेरे के बारे मे अत्यन्त निर्भयता और अतिशयोक्ति सहित विस्तार से लिखता है। यह कैसे कहा जा सकता है कि पद्मिनी की घटना—यदि यह वास्तव मे घटी—उसकी लेखनी से चूक गयी थी? पद्मिनी की कथा जायसी के "पद्मावत" मे, परम्परागत लोकगाथा मे और उन वृत्तान्तों और वर्णनों में मिलती है जिन्होंने इसे स्वयं "पद्मावत" से लिया है। परम्परा निस्सदेह इतिहास का एक स्रोत है, किन्तु यह स्रोत निश्चयतः निर्बलतम होता है और जब तक इसका समर्थन समकालीन साहित्यिक, शिलालेखीय और मौद्रिक साक्ष्य से नहीं होता, इसे सच्चे इतिहास के रूप मे स्वीकार नहीं किया जा सकता। जहाँ तक पद्मिनी का सम्बन्ध है उसकी कहानी प्रस्तुत करने वाली मूल परम्परा की प्राचीनता ही अज्ञात है, जबकि स्वयं कहानी लम्बी है। इसे केवल इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह इतने लंबे समय से और इतनी अधिक लोकप्रिय रही। ऐसा कहना कि जहाँ इतना कुछ कहा गया है, कुछ तो सत्य होना ही चाहिए, इतिहासकार की आदत नहीं होती।

कहानी के परम्परागत वर्णन को नजरअंदाज कर देने के पश्चात् नग्न सत्य यह है कि सुल्तान अलाउद्दीन ने 1303 ई में चित्तौड़ पर आक्रमण किया और आठ माह के विकट संघर्ष के पश्चात् उसे अधिकृत कर लिया। वीर राजपूत योद्धा आक्रान्ताओ से युद्ध करते हुए खेत रहे और राजपूत स्त्रियाँ जौहर की ज्वालाओं में जल मरी। जिन स्त्रियों ने जौहर किया उनमे सम्भवतः रत्नसिंह की पद्मिनी नाम की एक रानी भी थी। इन तथ्यो के अतिरिक्त और सब कुछ एक साहित्यिक सरचना है, जिसके लिए विश्वसनीय प्रमाणों का अभाव है।

## संदर्भ-सूची

1. यह अविश्वसनीय है। रत्नसिंह जिसने मुसलमानों से आठ वर्षों तक सफलतापूर्वक युद्ध किया, अलाउद्दीन का ऐसा अपमानजनक और हास्यास्पद आग्रह पूरा करने के लिए कभी भी सहमत नहीं हो सकता था।
2. फरिश्ता, पृ 111 115
3. जफरुलवाली, पृ 786-88
4. यह रत्नसिंह के नाम का उल्लेख नहीं करता।
5. जफरुलवाली, पृ 788

6. ओझा, राजपूताना का इतिहास, पृ. 461; आई. ए. 1930, पृ. 236.

7. एक स्थान पर फरिश्ता (पृ. 115) लिखता है, "सुल्तान के कानों तक यह बात लायी गयी कि चित्तौड़ के राजा की स्त्रियों में पद्मिनी नाम की एक स्त्री है" जिसका स्पष्ट रूप से अर्थ होता है कि वह रतनसिंह की पत्नियों में से एक थी। इसके पश्चात् अनेक स्थानों पर वह "आन" शब्द लिखता है किन्तु बाद में लिखता है कि राय की, जिसका वह नाम नहीं देता, एक पुत्री ने रतन के बचाव की एक योजना बनायी। वह दिल्ली गयी और अपने पिता को छुड़ा लायी । "राय की पुत्री जो अपने समाज में अपने चातुर्य और बुद्धिमता के लिए प्रसिद्ध थी..." "इस कूटनीति के द्वारा इस कुशल लड़की ने सुल्तान की दुष्टता के पंजे से राय को बचाया।"

8. फरिश्ता के पश्चात् अनेक इतिहासकार अपने इतिहास ग्रन्थों में पद्मिनी की कथा का उल्लेख करते है। 18 वीं शती में लिखित भारत का एक सामान्य इतिहास बहरूलामवाज (बीकानेर ग्रन्थालय पाण्डुलिपि) भी इसका उल्लेख करता है।

9. तन चित उर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा।
नागमती यह दुनिया धन्धा। बांचा सोई न एहि चित बंधा।।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भाँति विचारहूं। बूझ लेहु जौ लेहु जो बुझै पारहू।।

—जायसी ग्रन्थावली, पद्मावत, पृ. 341.

10. ईश्वरीप्रसाद, हिस्ट्री ऑव मेडिवल इण्डिया, पृ. 226.

11. मनुक्की, स्टोरिया डो मोगोर, पृ. 125-30.

5

# महाराणा प्रताप : एक मूल्यांकन

नारायण लाल शर्मा

भारतीय इतिहास में महाराणा प्रताप का स्थान अद्वितीय स्वतन्त्रता प्रेमी के रूप मे चर्चित रहा है। यह सर्वविदित है कि उनका सम्पूर्ण जीवन संघर्ष की राजनीति से जुड़ा रहा था। महाराणा प्रताप के जीवन की बारीकियाँ, तात्कालिक परिस्थितियाँ, समस्याओं से जूझने के साधन, भौगोलिक परिस्थिति तथा राजनीतिक पटल पर समीकरण आदि का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करना चाहे तो इसके लिए 'मेवाड़ एण्ड द मुगल एम्परर्स' (मेवाड़-मुगल सम्बन्ध) सर्वोत्तम ग्रन्थ है। इस पुस्तक के लेखक डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने मेवाड़ के इतिहास के उन पृष्ठो को उजागर किया है जिन्हे पूर्व के इतिहासवेत्ताओं ने प्रमाण के अभाव में छुआ तक नहीं था। तात्विक एवं तथ्यो के विषय में पूर्ण जानकारी के अभाव में बहुत से इतिहासकार ऐसी पुस्तको की आलोचना कर देते हैं, गहन अध्ययन के अभाव मे की गई टिप्पणियों के बारे मे तो कहा ही क्या जाय। डॉ० शर्मा के इस ग्रन्थ की हाल ही मे की गई आलोचना के पीछे भी आलोचकों का अज्ञान ही है।

## पुस्तक की विश्वसनीयता

प्रश्न उठता है कि इस पुस्तक मे ऐसा क्या है जो आलोचना अथवा विवाद के घेरे में आता है। जहाँ तक पुस्तक के कलेवर का प्रश्न है, डॉ ० गोपीनाथ शर्मा ने एक शोधक के रूप में प्रमाणों, तथ्यो तथा तर्कों के आधार पर विषय-वस्तु का विश्लेषण किया है जिसमे उन्होने न केवल प्रताप के चरित्र को उभारा है अपितु राणा सागा से लेकर महाराणा राजसिंह तक की लम्बी परम्परा का विशद् विवेचन किया है तथा उस युग की राजनीतिक उथल-पुथल, संघर्ष, कूटनीति आदि विषयों पर भी प्रकाश डाला है। पुस्तक की समाप्ति मेवाड़ राज्य के जनजीवन तथा सांस्कृतिक उपलब्धियों के वर्णन से हुई है। यदुनाथ सरकार, सारदेसाई, डॉ ० मुहम्मद हबीब, मजूमदार, आर. सी. त्रिपाठी प्रभृति जाने माने इतिहासविदों ने एक मत से स्वीकार किया है कि डॉ० गोपीनाथ शर्मा अपने से पुराने इतिहासवेत्ताओं से काफी आगे बढ़ गये हैं। अपनी पुस्तक के माध्यम से उन्होंने प्राचीन वैभव को उजागर करने में अपनी योग्यता का प्रदर्शन किया है तथा फारसी, अरबी तथा अन्य स्रोतों के साथ- साथ संस्कृत स्रोतों का विशेष प्रयोग कर तथ्यों को स्पष्टतर किया है। विश्व प्रसिद्ध इतिहासविद् अरनोल्ड टोयनबी ने भी इस मत की पुष्टि की है।

इस शोध- प्रबन्ध के प्रकाशन के तत्काल बाद विभिन्न पत्र- पत्रिकाओं में इसकी समीक्षाएं [illegible] दीं। उन समीक्षाओं से एक बात स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि डॉ० गोपीनाथ शर्मा का यह शोध- [illegible] पर आधारित है, जिनके बारे में पहिले ज्ञान नही था। 'आर्गेनाइजर' (6 दिसम्बर [illegible]

को भारत के इतिहास की अमूल्य निधि कहा गया था । उसकी दृष्टि में "यह शोध ग्रंथ न केवल मेवाड़ के इतिहास अपितु भारतवर्ष के इतिहास की अमूल्य देन हैं । डॉ० शर्मा प्रथम इतिहासविद् हैं जिन्होंने प्रथम बार एक लम्बी कालावधि के इतिहास को उजागर किया है । इसमें मेवाड़ की स्वतंत्रता के लिए लगातार दो सौ वर्षो के संघर्ष को दर्शाया गया है । यद्यपि इसमें लोकप्रिय किंवदन्तियों को नकारा गया है तथापि ऐतिहासिक तथ्यों को दर्शाकर इतिहास की सेवा की गई है, साथ ही पुराने इतिहासवेत्ताओं की गलतियों को सुधारा भी गया है । " इस पत्रिका के अतिरिक्त 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'मार्डन रिव्यू', 'द हिन्दू', 'टाइम्स ऑफ इंडिया', 'स्टेट्समेन' आदि पत्रिकाओं ने भी इस ग्रन्थ को वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधृत बताया । स्पष्ट है डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने मेवाड़ के इतिहास का नई दृष्टि से विश्लेषण किया है जो जनश्रुतियों पर नहीं तथ्यों पर आधारित है ।

## महिमामय प्रताप

डॉ० गोपीनाथ शर्मा ने प्रताप को अपने आदर्शों के लिए जीने वाला महापुरुष बताया है। उन्होंने लिखा है कि "प्रताप अपने समय का महिमामय पुरुष होने के साथ एक महान् व्यक्ति भी था जिसके नैसर्गिक गुणों, सादे जीवन, अदम्य साहस, अक्लान्त परिश्रम, उदारता और दयालुता ने उसे सभी के सम्मान और प्रेम का भाजन बना दिया है।" (पृ.79) । इन वाक्यों को पढ़कर क्या कोई यह कह सकता है कि डॉ. शर्मा ने प्रताप को "देशद्रोही"बताया है जैसा कि कुछ व्यक्ति भ्रमवशात् आरोप लगाते हैं । डॉ. शर्मा के विचारों को समझना है तो हमें उनके शोधग्रंथ का गहराई से अध्ययन करना होगा क्योंकि अपनी बात को स्पष्ट करने के लिये कई जगह उन्होंने अन्य इतिहासकारों की तरह सम्भावनाएं रखी हैं तथा आशंकाएं उठाई हैं और फिर उनके उत्तर दिये हैं । अगर हम केवल उन आशंकाओं को ही देखेंगे तो उनके बारे में भ्रान्त धारणा पैदा हो जाएगी । अत: हमें उनके कथन का संदर्भ के साथ अध्ययन करना होगा । उदाहरणार्थ एक स्थान पर शंका व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि "यदि प्रताप मुगलों का साथ देता तो मेवाड़ विनाश से बच सकता था और भारतीय एकता अधिक सुदृढ़ हो सकती थी "(पृष्ठ 80) । प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यह कहकर डॉ० शर्मा महाराणा प्रताप को एकता को भंग करने वाला मान रहे हैं ? क्या उनके विचार से प्रताप भारत की एकता नहीं चाहते थे ? इसका उत्तर शर्मा जी के इस कथन से मिलता है : "ऊपर दी गई समीक्षा राजनीतिक दृष्टि से उपयुक्त हो सकती है परन्तु उसका औचित्य प्रताप के आदर्शो के सामने नगण्य हो जाता है । आज भी प्रताप का नाम स्वतन्त्रता के सेनानी के रूप में अमर है क्योंकि अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए भौतिक लाभों की उपेक्षा करते हुए उसने मुगलों से निरन्तर युद्ध किया और हिन्दुओं के गौरव को ऊँचा उठाया । जब तक हिन्दू जाति जीवित रहेगी तब तक अपना सर्वस्व बलिदान कर विधर्मियों के साथ युद्ध करने वाले के रूप में उनके नाम को आदर्श की दृष्टि से स्मरण करती रहेगी । स्वतन्त्रता के योद्धा, न्याय के पक्षपाती, और नैतिक जीवन के आदर्श के रूप में उनका नाम आज भी लाखों व्यक्तियों के लिये आशा का बादल और रात में ज्योति का स्तम्भ बना हुआ है । " (पृष्ठ–80)।

## स्वतन्त्रता का सेनानी

इस तरह डॉ. गोपीनाथ की दृष्टि में राणा प्रताप स्वतंत्रता के महान सेनानी थे । प्रताप का संघर्ष साम्राज्यवाद के विरुद्ध था । यही कारण है कि डॉ० शर्मा ने अपने इस अध्याय का शीर्षक रखा था "साम्राज्यवाद और स्वतन्त्रता का संघर्ष ।" डॉ. शर्मा प्रताप के चरित्र के इस पक्ष का वर्णन करते हुए

लिखते हैं कि "अकबर अपने राजनीतिक जीवन की दृष्टि से कट्टर साम्राज्यवादी था। इसके विपरीत प्रताप मेवाड़ की स्वतन्त्रता का पोषक था। अकबर का लक्ष्य उस एकीकृत भारत का निर्माण था जिसका सर्वेसर्वा वह स्वय हो। इस स्थिति में मेवाड़ की परतत्रता अवश्यभावी थी। इस नीति का प्रताप विरोधी था क्योंकि वह मेवाड़ की स्वतत्रता की, जो गम्भीर स्थानीय एव जातीय ससरणों पर आधारित थी, रक्षा करना अपना धर्म समझता था। वह भलीभाति जानता था कि यदि वह मुगलों का प्रभुत्व स्वीकार कर लेगा तो उसके राज्य का सार्वभौम अस्तित्व समाप्त हो जायेगा, वह मुगलो का एक जागीरदार बन जायगा और उसका राज्य मुगल सरकार के परगने के रूप मे रह जायेगा। वह अपने राज्य का अधिक महत्व इसमें समझता था कि वह एक सास्कृतिक एव जातीय इकाई के रूप में बना रहे। उसकी दृष्टि में मुगल दरबार मे प्रतिनिधि भेजना या दिल्ली से आदेशो को प्राप्त करना अथवा समाट् से पैतृक अधिकारो की स्वीकृति प्राप्त करना अपमानजनक था।" (पृष्ठ 61 62)। इस प्रकार "प्रताप के सम्बन्ध मे यह कहना अत्युक्ति नही है कि वह स्वतत्रता का ऐसा सेनानी था जिसने आत्मसमर्पण करना सीखा ही नहीं था।

## जननायक के रूप में

डॉ गोपीनाथ शर्मा ने प्रताप के इतिहास का जो विवेचन किया है उससे प्रताप का उदात्त चरित्र प्रकट होता है। उनकी दृष्टि मे प्रताप ऐसा "जननायक, महान् योद्धा, कुशल राजनीतज्ञ एव योग्य प्रशासक था जिसने सम्पूर्ण भूभाग मे सम्पर्क स्थापित कर जनजागरण का कार्य किया।" इस प्रयास को सफल बनाने के लिये उसे सुखमय जीवन को तिलाजलि देनी पड़ी। असुविधाओ और कठिनाइयों को उसने अपने जीवन का अग बना लिया था। महाराणा के इस कठोर व्रत और कष्टपूर्ण जीवन से लोगो को बड़ी प्रेरणा मिली। उनमें महाराणा के प्रति एक सहज भक्ति उत्पन्न हो गई और वे उसके हर कार्य में सहयोगी बन गये।"(पृष्ठ 76)। प्रताप पहले महाराणा थे जिन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग को अपने साथ लिया। यही नहीं वे पहले महाराज थे जिन्होंने भील जाति को न केवल सेना मे उच्च स्थान दिया अपितु उसे अपने राजचिह्न का भी अग बनाया। "प्रताप ने अपनी जीवन शक्ति द्वारा मेवाड़ को उच्च कुलीन समाजो एव विनम्र भीलो के सहयोग से एक सगठित इकाई के रूप में परिणत कर दिया। इसके पश्चात् प्राचीन मेवाड़ में जनजीवन का सचार किया तथा मेवाड़ की प्रशान्त जनता मे साहस और उत्साह भर दिया। इस प्रकार योग्यता एव दक्षता से पल्लवित सतत् प्रयत्नो से उसने अपना एक लक्ष्य निर्धारित कर लिया जिसकी प्रतिध्वनि देश भर मे त्वरित गति से व्याप्त हो गई।" (पृ 61)।

डॉ गोपीनाथ के अनुसार हल्दीघाटी के युद्ध के पश्चात् प्रताप का अधिकाश समय पर्वतीय प्रदेश में व्यतीत हुआ। इन वर्षों की कहानी "उनके जीवन की सच्ची कहानी है। इस कहानी से हमें उसके सच्चे देशप्रेम, रणकौशल, वीरता, सहिष्णुता और नीतिज्ञता के वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। यदि हम प्रताप के महत्व को समझना चाहते है तो हमें उन पहाड़ो के सदर्भ में उसका अध्ययन करना चाहिए जहाँ वर्षों रहकर उसने मुगलों का मुकाबला किया और देश में सुव्यवस्था स्थापित की। यह पर्वतीय स्थिति आज भी प्रताप के सच्चे रूप को हमारे सामने उपस्थित करती है।"(पृ. 75)। जनजागरण का कार्य प्रताप ने राज्यारोहण के बाद ही नहीं किया। यह कार्य तो उसके प्रारम्भिक काल से ही उनके जीवन का अंग था जिसका वर्णन डॉ शर्मा से पुराने इतिहासकारों ने नहीं किया है। उनसे
इतिहासकारों ने प्रताप का वर्णन उसके राज्याभिषेक के बाद किया है जबकि डॉ.
के प्रारम्भिक "पर्वतीय जीवन" को भी आलोकित किया है। वे लिखते हैं कि

घाटियों में भटकते हुए उसके प्रारम्भिक जीवन के चरित्र का निर्माण हुआ था। कष्टों ने उसे धैर्य, शान्ति, साहस और निष्ठा का पाठ पढ़ाया था। उसमें अपने देश के प्रति श्रद्धा और विश्वास सहज ही जाग उठे थे। यही कारण था कि अपने प्रदेश की रक्षा के लिए वह बड़े से बड़ा उत्सर्ग करने के लिये उद्यत रहता था।"(पृष्ठ 59 )।

इस प्रकार ऐसा कोई प्रसंग या घटना नहीं है जहाँ डॉ. गोपीनाथ ने प्रताप के चरित्र को न उभारा हो। उनके विवेचन तथ्यात्मक हैं। उन्होंने मेवाड़ के इतिहास को किंवदन्तियों से अलग करके यथार्थ की भूमि पर प्रस्तुत किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इसके लिए इतिहासवेत्ता और अध्येता डॉ. शर्मा के सदैव ऋणी रहेंगे।

# 6

# राजस्थान में किसान आन्दोलन

अनुराधा श्रीवास्तवा

राजस्थान में ब्रिटिश शासन के परिणामस्वरूप कुछ ऐतिहासिक परिवर्तन हुए। इसके शासक जो अब तक मुगलो के अधीन थे अग्रेजो के हाथो की कठपुतली बन गए। वे अपने उत्तरदायित्वो के प्रति उदासीन होने लगे और अपनी पूरी शक्ति अग्रेजो को सतुष्ट करने मे लगाने लगे क्योकि उनका अस्तित्व अग्रेजो के द्वारा ही सुरक्षित रह सकता था। चूकि भू-लगान उनकी आय का मुख्य साधन था अत किसान वर्ग सबसे पहले उनके शोषण का शिकार हुआ। भू प्रबन्ध की व्यवस्था राजस्थान में देश के अन्य भागो के मुकाबले मे भिन्न थी। यहां किसान भूमि का मालिक न होकर खेतिहर मजदूर के समान होता था। वह अनेक करों के बोझ से दबा रहता था। जिसके परिणामस्वरूप कृषक समुदाय मे उत्तेजना और असतोष की भावनाए घर करने लगीं।

जब किसानो का शोषण हद से बढ़ गया तब वे लोग अपनी प्रार्थना लेकर जागीरदारों के पास और वहा कोई सुनवाई न होने पर राजा, फिर ब्रिटिश रेजिडेण्ट और अन्त मे वाइसरॉय के पास पहुँचने लगे। परन्तु कोई सन्तोषजनक आश्वासन न मिलने पर किसानो ने सगठित होकर पचायतों की स्थापना और शोषण के खिलाफ आदोलन शुरू करने का निश्चय किया। इस प्रकार राजस्थान में राजनैतिक चेतना का प्रारम्भ विभिन्न रियासतो के किसान आन्दोलनों से हुआ। सर्वप्रथम यह अभिव्यक्ति बिजोलिया किसान आन्दोलन के रूप में हुई।

## बिजोलिया किसान आन्दोलन : प्रथम चरण

बिजोलिया जागीर राजस्थान के भीलवाड़ा जिले मे एक ऊचे पठारी प्रदेश ऊपरमाल या उत्तर शिखर में स्थित थी। इसके पूर्व में बूदी राज्य, उत्तर पश्चिम में मेवाड़ राज्य का खालसा प्रदेश और दक्षिण में ग्वालियर की सीमाएँ मिलती थीं। यहाँ के जागीरदार परमार राजपूत थे और यहा धाकड़ जाति की प्रधानता थी। जागीर का कोई लिखित सविधान नही था, अत न्यायायिक, राजस्व और प्रशासनिक शक्तियाँ जागीरदार में ही निहित थी। उसका एकमात्र उद्देश्य प्रजा और विशेषकर किसानों का अधिक से अधिक शोषण कर अपने वैभव और विलास के लिए धन एकत्र करना था। अत वे नए-नए कर और लगाते थे और बड़े पैमाने पर बेगार लेते थे। जब यह शोषण और अत्याचार चरम सीमा पर पहुच गये तो किसानों का धैर्य समाप्त हो गया। वे विद्रोही हो उठे और उनमें विरोध करने का साहस पैदा हुआ।[1]

1897 ई में गिरधरपुरा गाव के गगाराम धाकड़ के पिता के मृत्यु भोज में ऊपरमाल के समस्त किसान उपस्थित हुए। अपने ऊपर होने वाले अत्याचार और शोषण को किसानों ने एक दूसरे के प्रकट किया और इससे छुटकारा पाने के लिए विचार-विमर्श किया। लम्बी और

यह निश्चय हुआ कि किसानों के प्रतिनिधि उदयपुर जाकर महाराणा फतहसिंह तक अपनी कष्ट गाथा पहुंचाएं और उनसे न्याय की भिक्षा मांगें। इसके लिए सर्वसम्मति से बेरीसाल गाँव के निवासी श्री नानजी पटेल और गोपाल निवास के श्री ठाकरी पटेल को चुना गया।[2] महाराणा ने बिजोलिया के किसानों की व्यथा-कथा सुनी और असिस्टेंट माल हाकिम हमीद हुसैन को बिजोलिया में लागत और बेगार सम्बन्धी शिकायतों की जांच करने के लिए भेजा।

असिस्टेंट माल हाकिम ने बिजोलिया जाकर वहां के लागतों की जांच की और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि बिजोलिया के जागीरदार को इतने लागत लगाने का कोई अधिकार नहीं है। तद्नुसार उसने जागीरदार के विरुद्ध रिपोर्ट दी। परन्तु महाराणा ने उस पर अधिक ध्यान नहीं दिया और केवल चेतावनी देकर एक-दो साधारण लागतों को कम कर दिया। बिजोलिया के राव श्री कृष्णसिंह ने ठाकरी पटेल तथा नानजी को, जो महाराणा के पास प्रार्थना करने गए थे, उत्तम शिखर से निर्वासित कर दिया। उन दोनों के खेत भी नष्ट कर दिए गए। उसने (कृष्णराव ने) कुछ किसानों को नम्बरदार और पटेल बनाकर अपनी तरफ मिला लिया। ऐसी विकट स्थिति में ठाकरी और नानजी को कोई सहायक नहीं मिला और कई वर्षो बाद भारी जुर्माना देने के उपरान्त ही उन्हें अपनी मातृभूमि में प्रवेश करने की अनुमति दी गई।

1903 में राव कृष्णसिंह ने चंवरी कर शुरू किया जिसमें किसानों को अपनी पुत्री के विवाह पर ठिकाने को 13 रु. लागत देनी पड़ती थी। इसके विरोध में किसानों ने दो वर्ष तक अपनी पुत्रियों के विवाह नहीं किए। किसानों की स्थिति बद से बदतर होती चली गई। उन्होंने खेत में हल चलाने से इन्कार करके अपना रोष प्रकट किया। उन्होंने राव साहब से लागत कम करने की प्रार्थना भी कई बार की। राव साहब उन्हें कुछ रियायतें देने को तैयार हो गए। 1904 में उन्होंने घोषणा की[3] कि भविष्य में किसानों को ठिकाने के मकानों की खपरैल सुधारने के लिए नहीं बुलाया जाएगा। फसल में ठिकाने का हिस्सा सीमित कर दिया जाएगा। ठिकाना पांच मन में केवल दो मन लेगा। फसल का कूंता न्यायपूर्वक किया जाएगा। कूंता करने वाले अहलकारों के साथ बीसों आदमी नहीं जाया करेंगे। आगे से केवल एक अहलकार, बाजार के दो महाजन, एक रसोइया, सहना और राजा बलाई जाएंगे। चंवरी पर आधा कर लिया जाएगा।[4]

कुछ समय उपरान्त राव कृष्णसिंह की निस्संतान मृत्यु हो गई। उनके निकट सम्बन्धी पृथ्वीसिंह 1906 में गद्दी पर बैठे। गद्दीनशीनी के समय तलवार बधाई के अवसर पर ठिकाने को मेवाड़ दरबार को एक बड़ी रकम देनी थी। ठिकाने ने भूमि कर को बढ़ा कर यह रकम किसानों से प्राप्त करनी चाही। फलत: जो कुछ सुविधाएं राव कृष्णसिंह के समय दी गई थीं, वे समाप्त कर दी गईं। कूंता में फिर बहुत अन्याय किया जाने लगा।[5] इसका संगठित विरोध किसानों ने श्री फतहकरण चारण, ब्रह्मदेव तथा साधु सीताराम दास के नेतृत्व में किया। लगभग एक हजार किसान रावजी से मिलने के लिए उनके महल में गए, किन्तु रावजी उनसे नहीं मिले। किसानों को रावजी का यह व्यवहार बुरा लगा और साधु सीताराम दास के नेतृत्व में उन्होंने वहीं पर यह निश्चय किया कि अगले वर्ष बिजौलिया ठिकाने की भूमि पर कोई किसान खेती नहीं करेगा और अपने खाने के लिए समीपवर्ती ग्वालियर तथा मेवाड़ राज्य की खालसा भूमि को जोता जाएगा। इसका परिणाम यह हुआ कि 1913 में उत्तम शिखर का सारा क्षेत्र बिना जुते पड़ा रहा और अन्न की कमी के कारण भुखमरी का दृश्य उपस्थित हो गया। इससे क्रुद्ध होकर रियासत ने भीषण दमन करना प्रारम्भ कर दिया।[6]

इसी समय राव साहब पृथ्वीसिंह का स्वर्गवास हो गया और उनका ज्येष्ठ पुत्र केसरी सिंह बिजौलिया का स्वामी हुआ। परन्तु केसरी सिंह अल्पवयस्क था, अस्तु मेवाड़ राज्य की ओर से बिजोलिया पर 'कोर्ट

आफ वार्डस्' बैठा दिया गया। मेवाड़ राज्य के महकमा खास ने श्री अमरसिंह राणावत को मुसरिम और मदेशी के श्री डूगरसिंह भाटी को नायब मुंसरिम अर्थात् कोर्ट आर्फ वार्डस् का सहायक प्रबन्धक नियुक्त किया। मुसरिम अमर सिंह राणावत तथा नायब मुंसरिम डूंगरसिंह भाटी ने किसानों को बुलाया और उनसे बातचीत की। किसानो का कहना था उपज मे ठिकाने का हिस्सा बहुत अधिक है। ठिकाने के भोग का बांटा तथा अन्य लागते देकर उनके पास वर्ष भर के लिए खाने को भी नहीं बचता। वे चाहते थे कि ठिकाने का हिस्सा पैदावार का पांचवा भाग कर दिया जाए, अफीम, कपास गन्ने आदि का लगान, जो दुगना कर दिया गया है, वह घटा दिया जाए, तथा कुछ अन्य लागते छोड़ दी जाएं।[7]

## पथिकजी का नेतृत्त्व

श्री विजय सिंह पथिक का पुराना वास्तविक नाम भूपसिंह था। उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले मे मालागढ़ कस्बे के समीप गुठावली ग्राम पथिकजी की जन्मभूमि था। क्रान्तिकारी भावना उन्हे विरासत मे मिली और वे महाविप्लवी नायक रास बिहारी के क्रान्तिकारी दल मे सम्मिलित हो गये। क्रान्तिकारी रास बिहारी बोस ने उन्हे राजस्थान में काम करने के लिए भेजा। उनको यह कार्य खरवा के ठाकुर राष्ट्रवर राव गोपालसिंह, ठाकुर केसरी सिंह बारहट और उनके पुत्र प्रताप सिंह के साथ मिलकर करना था। परन्तु उनकी योजनाओ की खबर सरकार तक पहुंच गई और भूपसिंह को गिरफ्तार कर टाटगढ़ जेल मे नजरबद कर दिया गया। भूपसिंह को जेल मे पड़े रहना पसद नही था। वह साधु का वेष धारण करके पहरेदारो को धोखा देकर टाटगढ़ से निकल गया और अपना नाम विजय सिंह पथिक रख लिया। जंगलो और पहाड़ो मे भटकते हुए उन्हें अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा। चितौड़ के समीप ओछड़ी ग्राम मे उन्होंने विद्या प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इसके द्वारा वह चितौड़ मे देशभक्त और कर्मठ युवको का एक क्रान्तिकारी सगठन खड़ा करना चाहते थे। जल्दी ही उनकी ख्याति चारों तरफ फैल गई और बिजोलिया के किसान नेताओ ने उनसे भेट कर उनसे अपना नेता बनने और उनको शोषण से निजात दिलवाने की प्रार्थना की।[8]

1916 के अन्त मे पथिक बिजोलिया पहुँचे और आन्दोलन का नेतृत्व सम्भाल लिया। बिजोलिया में उन्होंने साधु सीताराम दास और माणिक्य लाल वर्मा की सहायता से एक सेवा समिति, पुस्तकालय और अखाड़े की स्थापना की। उनके कहने पर माणिक्य लाल वर्मा ने ठिकाने की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। उनको पथिकजी ने ऊपरमाल के किसी गाँव मे पाठशाला चलाने और किसानो को सगठित करने के लिए कहा। वर्माजी ने बेरीसाल और उमाजी का खेड़ा मे पाठशाला स्थापित की और पथिकजी ने ऊपरमाल के प्रमुख किसानो से सम्पर्क स्थापित करना आरम्भ किया जिससे वह उनकी समस्याओ से अवगत हो सके। उन्होंने किसानो को परामर्श दिया कि वे महाराणा से मिले और उनसे प्रार्थना करें कि भू-राजस्व मे कुछ रियायत दी जाए और गैर-कानूनी लागतो को पूर्ण रूप से हटा दिया जाए क्योंकि सूखे के कारण उनकी खेती नष्ट हो गई थी और वे इतनी लागतें देने मे समर्थ नही थे। उसी समय पथिकजी के खिलाफ वारंट जारी हो गया। वह गिरफ्तार नही होना चाहते थे। अत: उन्होंने बिजोलिया से पलायन कर दिया यद्यपि गुप्त रूप से किसानो से सम्पर्क बनाए रखा। उनके सहायक माणिक्य लाल वर्मा, साधु सीताराम दास, भँवरलाल सुनार, प्रेमचन्द भील तथा अन्य कार्यकर्ता घूम घूम कर बिजोलिया के किसानों को चन्दा न देने के लिए तैयार करने लगे। वर्माजी, प्रेमचन्द भील तथा साधु सीताराम दास युद्ध का चन्दा न देने तथा सत्याग्रह के लिए स्वयं गीत बना कर गाते और बिजोलिया के किसानों का उद्बोधन करते। माणिक्य लाल वर्मा ने ऐसा घनघोर प्रचार किया कि ऊपरमाल के किसानों में साहस और धैर्य पैदा हो गया।[9]

पथिकजी ने किसानों को शक्तिशाली बनाने के लिए बेरीसाल में पंचायत बोर्ड की स्थापना की। मन्नालाल पटेल को सरपंच नियुक्त किया गया और 13 सदस्यों की समिति बनाई गई जो उनके अधीन कार्य करती थी। किसानों के हस्ताक्षर युक्त आवेदन - पत्र लिखे गये जिसमें किसानों ने अपने कष्टों की गाथा लिखी थी। आवेदन-पत्र उदयपुर के महाराणा को भेजे गये।[10] राज्य को जो आवेदन - पत्र भेजे जाते उनके समर्थन में गांवों में सभा की जाती थी और प्रस्ताव पास किये जाते थे। इन सभाओं में स्त्रियाँ बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होती थीं। एक सभा में यह निश्चय किया गया कि राज्य के चौकीदार को दिया जाने वाला भोजन, ओढ़ना, बिछौना, मकान आदि बंद कर दिये जाएं। लोगों को विश्वास नहीं था कि कभी ऐसा भी हो सकता है किन्तु ठिकाने वालों ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि किसानों ने यह परम्परागत लागत देना बन्द कर दिया है।[11]

सरपंच के पत्रों में राज्य को स्पष्ट चेतावनी दे दी गई कि किसान अनुचित लागतें और बेगारें नहीं देंगे। पंचायत ने यह भी निश्चय किया कि यदि ठिकाना इन्हें समाप्त नहीं करेगा तो पंचायत किसानों को अन्य उचित कर देने से भी मना कर देगी।[12]

लेकिन महाराणा ने इन माँगों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया और जागीरदारों ने महाराणा की शह पर दमनकारी नीति पुनः आरम्भ कर दी। माणिक्य लाल वर्मा, साधु सीताराम दास और अन्य किसान नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। उन लोगों के साथ घोर अत्याचार किए गए, उनके घरों को लूट लिया गया और औरतों को अपमानित किया गया। परन्तु किसान अपनी मांगों पर अड़े रहे। [13] अन्ततः बिजोलिया के किसानों की दृढ़ता को देखकर राज्य को एक आयोग का गठन करना पड़ा जिसका कार्य किसानों का दुख-दर्द सुनना था।[14] बिजोलिया पहुंचने पर आयोग ने सर्वप्रथम माणिक्य लाल वर्मा और साधु सीताराम दास को कैद से मुक्त किया। पथिकजी के आज्ञानुसार किसानों के प्रतिनिधियों ने बढ़ते हुए भूमिकर, अनुचित लागतों तथा अमानवीय बेगारों का कच्चा चिट्ठा आयोग के सामने रखते हुए उन पर हुए जुल्मों का इतिहास बताया और कहा कि यदि हमारे साथ न्याय नहीं हुआ तो हम संघर्ष जारी रखेंगे। आयोग ने किसानों के पक्ष में फैसला दिया। ठिकाने के दमन तथा शोषण का विरोध करते हुए उन्होंने सब कैदियों को छोड़ देने तथा लगान, लागतों तथा बेगार के सम्बन्ध में उचित फैसला किए जाने की सिफारिश की। [15] यद्यपि किसानों को आश्वासन दिया गया कि फैसला उनके हक में होगा परन्तु अन्त में किसानों को न्याय नहीं मिला। पथिकजी ने किसानों को राय दी कि विरोधस्वरूप माल (बिना सिंचाई के गेहूं उत्पन्न करने वाली भूमि) की जमीन को जोतें और अधन भूमि (सींची जाने वाली भूमि) को पड़ती छोड़ दे। पथिकजी की युक्ति थी कि माल की भूमि का लगान नाम मात्र का है। उसको जोतने से ठिकाने की आमदनी बहुत कम होगी। ठिकाने की आर्थिक स्थिति पहले से ही खराब है अतएव उसकी आर्थिक स्थिति डावांडोल हो जाएगी जबकि किसानों के पास खाने को यथेष्ठ अनाज हो जाएगा।[16]

लेकिन इसके उत्तर में किसानों को धमकी दी गई कि यदि वे माल की भूमि जोतेंगे तो उन्हें सींची जाने वाली भूमि का भी लगान देना होगा। एक बार पुनः पंचायत और ठिकाने में संघर्ष छिड़ गया।

किसानों की दुर्दशा को पथिकजी ने ''प्रताप'' के जरिए पूरे भारत में प्रचारित किया। कई राजनैतिक संगठनों के दबाव के कारण महाराणा को 1920 में दूसरे जाँच आयोग का गठन करना पड़ा। इस आयोग के सदस्यों ने स्वयं बिजोलिया न जाकर बिजोलिया की किसान पंचायत के पंचों को ही उदयपुर बुलवा लिया। विजय सिंह पथिक के सुझाव पर बिजोलिया के किसानों के आठ प्रतिनिधि माणिक्य लाल वर्मा के नेतृत्व में उदयपुर पहुंचे। इन प्रतिनिधियों ने आयोग को अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों से अवगत कराया

और अपनी मांगों को उनके समक्ष रखा। गहन विचार-विमर्श के उपरान्त इस आयोग ने भी किसानो के हक में फैसला किया और उनकी स्थिति मे सुधार लाने पर जोर दिया।

परन्तु कमीशन की सिफारिशें स्वीकार नहीं की गईं। किसानो को राहत नहीं मिली। समझौते के सभी प्रयत्न असफल हो गए और किसान पुन सत्याग्रह के लिए तैयार हो गए। दमन का दौर फिर आरम्भ हुआ। अब किसानो ने ठिकाने की आज्ञा न मानना, ठिकाने को मालगुजारी तथा अन्य कोई और कर न देना तथा उनकी प्रशासकीय सत्ता और अधिकार को अस्वीकार करना ही अपना मुख्य कार्यक्रम बना लिया। पथिकजी ने पचायत को आदेश दिया कि सत्याग्रही किसान बिजोलिया को छोड दे, बाहर जगलो मे अपने डेरे डालकर रहे, शराब छोड दे, जब तक आन्दोलन चल रहा है तब तक शादी और मौसर बन्द रखें और बिजोलिया ठिकाने की सारी जमीन को पड़त रखकर मेवाड मे खालसा तथा सीमावर्ती ग्वालियर, बूदी, कोटा तथा इन्दौर रियासतो मे अपने गुजारे लायक खेती करे।[17]

दिसम्बर 1920 मे पथिकजी ने रामनारायण चौधरी को बिजोलिया भेजा जो वर्धा मे राजस्थान सेवा सघ के सक्रिय सदस्य थे। रामनारायण चौधरी ऊपरमाल के सभी गाँवो मे गए और वहा की स्थिति का अध्ययन किया। उन्होने अनुभव किया कि "वन्देमातरम्" का नारा गाँव के कोने-कोने तक पहुच चुका है और अभिवादन का माध्यम बन गया है। गाँव के प्रत्येक व्यक्ति, बच्चे और वृद्ध मे मातृभूमि के प्रति प्रेम पैदा होता दिखाई पड रहा है।[18] उस समय मेवाड के ब्रिटिश रेजीडेण्ट श्री विल्किसन भी वहा दौरे पर आए हुए थे। चौधरीजी रेजीडेण्ट से मिले और उन्हे बिजोलिया के किसानो के कष्टो तथा उनके आन्दोलन से अवगत कराया। लेकिन विल्किसन ने उत्तर दिया कि "रियासत के भीतरी मामलो मे हम हस्तक्षेप नही कर सकते।"

अब बिजोलिया किसान आन्दोलन समीपवर्ती गाँवो मे भी फैलने लगा। विजय सिंह पथिक के मेवाड प्रवेश पर पाबदी लगा दी गई। परन्तु किसान अटल रहे और उन्होंने अपना सत्याग्रह जारी रखा।

बिजोलिया आन्दोलन के परिणामस्वरूप बिजोलिया ठिकाने की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। जागीरदार ने पथिकजी को लिखा कि वह ठिकाने का किसान पचायत के साथ समझौता करा दे। कई दिनो तक सधि वार्ता चलती रही परन्तु कोई समझौता न हो सका।[19]

लेकिन ठिकाने की स्थिति निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। अब ए जी जी की मध्यस्थता से ठिकाने और किसानो के बीच सधि वार्ता शुरू हुई। बिजोलिया के किसान इस शर्त पर सधि वार्ता करने को तैयार हुए कि उनके प्रतिनिधियो को उचित सम्मान दिया जायेगा। किसान पचायत के प्रतिनिधियों में माणिक्य लाल वर्मा, रामनारायण चौधरी तथा किसान पचायत के सरपच थे। ठिकाने का प्रतिनिधित्व तेज सिंह फौजदार, मास्टर जालम सिह तथा कामदार हीरालाल ने किया।[20] यह राजस्थान मे पहला अवसर था जब शोषित और पीड़ित किसानों ने, जो लम्बे समय से राज्य तथा ठिकाने के द्वारा कुचले जा रहे थे, सिर ऊचा कर आत्मविश्वास और गर्व के साथ प्रबल शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार, मेवाड के महाराणा तथा बिजोलिया के राव के प्रतिनिधियों से बराबरी के स्तर पर बातचीत की। काफी विचार-विमर्श के उपरान्त ए जी जी हॉलैण्ड ने किसानों की मागों को स्वीकृति दे दी। किसानो की शर्तें कुछ इस प्रकार थीं -

1. कैदियों को ठिकाने की ओर से भोजन दिया जाए। यदि भोजन न दिया जाए तो उसकी कीमत दी जाए। स्त्रियो के लिए पृथक् हवालात हो और उनके साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जाए।
2. जाति सम्बधी मामलो के अतिरिक्त दूसरे छोटे-मोटे मामले पचायत द्वारा निपटाये जाए। ठिकाना उसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा।

पथिकजी ने किसानों को शक्तिशाली बनाने के लिए बेरीसाल में पंचायत बोर्ड की स्थापना की। मन्नालाल पटेल को सरपंच नियुक्त किया गया और 13 सदस्यों की समिति बनाई गई जो उनके अधीन कार्य करती थी। किसानों के हस्ताक्षर युक्त आवेदन - पत्र लिखे गये जिसमें किसानों ने अपने कष्टों की गाथा लिखी थी। आवेदन-पत्र उदयपुर के महाराणा को भेजे गये।[10] राज्य को जो आवेदन - पत्र भेजे जाते उनके समर्थन में गांवों में सभा की जाती थी और प्रस्ताव पास किये जाते थे। इन सभाओं में स्त्रियाँ बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होती थीं। एक सभा में यह निश्चय किया गया कि राज्य के चौकीदार को दिया जाने वाला भोजन, ओढ़ना, बिछौना, मकान आदि बंद कर दिये जाएं। लोगों को विश्वास नहीं था कि कभी ऐसा भी हो सकता है किन्तु ठिकाने वालों ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि किसानों ने यह परम्परागत लागत देना बन्द कर दिया है।[11]

सरपंच के पत्रों में राज्य को स्पष्ट चेतावनी दे दी गई कि किसान अनुचित लागतें और बेगारें नहीं देंगे। पंचायत ने यह भी निश्चय किया कि यदि ठिकाना इन्हें समाप्त नहीं करेगा तो पंचायत किसानों को अन्य उचित कर देने से भी मना कर देगी।[12]

लेकिन महाराणा ने इन माँगों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया और जागीरदारों ने महाराणा की शह पर दमनकारी नीति पुनः आरम्भ कर दी। माणिक्य लाल वर्मा, साधु सीताराम दास और अन्य किसान नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। उन लोगों के साथ घोर अत्याचार किए गए, उनके घरों को लूट लिया गया और औरतों को अपमानित किया गया। परन्तु किसान अपनी मांगों पर अड़े रहे। [13] अन्ततः बिजोलिया के किसानों की दृढ़ता को देखकर राज्य को एक आयोग का गठन करना पड़ा जिसका कार्य किसानों का दुख-दर्द सुनना था।[14] बिजोलिया पहुंचने पर आयोग ने सर्वप्रथम माणिक्य लाल वर्मा और साधु सीताराम दास को कैद से मुक्त किया। पथिकजी के आज्ञानुसार किसानों के प्रतिनिधियों ने बढ़ते हुए भूमिकर, अनुचित लागतों तथा अमानवीय बेगारों का कच्चा चिट्ठा आयोग के सामने रखते हुए उन पर हुए जुल्मों का इतिहास बताया और कहा कि यदि हमारे साथ न्याय नहीं हुआ तो हम संघर्ष जारी रखेंगे। आयोग ने किसानों के पक्ष में फैसला दिया। ठिकाने के दमन तथा शोषण का विरोध करते हुए उन्होंने सब कैदियों को छोड़ देने तथा लगान, लागतों तथा बेगार के सम्बन्ध में उचित फैसला किए जाने की सिफारिश की। [15] यद्यपि किसानों को आश्वासन दिया गया कि फैसला उनके हक में होगा परन्तु अन्त में किसानों को न्याय नहीं मिला। पथिकजी ने किसानों को राय दी कि विरोधस्वरूप माल (बिना सिंचाई के गेहूं उत्पन्न करने वाली भूमि) की जमीन को जोतें और अधन भूमि (सींची जाने वाली भूमि) को पड़ती छोड़ दें। पथिकजी की युक्ति थी कि माल की भूमि का लगान नाम मात्र का है। उसको जोतने से ठिकाने की आमदनी बहुत कम होगी। ठिकाने की आर्थिक स्थिति पहले से ही खराब है अतएव उसकी आर्थिक स्थिति डावांडोल हो जाएगी जबकि किसानों के पास खाने को यथेष्ठ अनाज हो जाएगा।[16]

लेकिन इसके उत्तर में किसानों को धमकी दी गई कि यदि वे माल की भूमि जोतेंगे तो उन्हें सींची जाने वाली भूमि का भी लगान देना होगा। एक बार पुनः पंचायत और ठिकाने में संघर्ष छिड़ गया।

किसानों की दुर्दशा को पथिकजी ने "प्रताप" के जरिए पूरे भारत में प्रचारित किया। कई राजनैतिक संगठनों के दबाव के कारण महाराणा को 1920 में दूसरे जाँच आयोग का गठन करना पड़ा। इस आयोग के सदस्यों ने स्वयं बिजोलिया न जाकर बिजोलिया की किसान पंचायत के पंचों को ही उदयपुर बुलवा लिया। विजय सिंह पथिक के सुझाव पर बिजोलिया के किसानों के आठ प्रतिनिधि माणिक्य लाल वर्मा के नेतृत्व में उदयपुर पहुंचे। इन प्रतिनिधियों ने आयोग को अपने ऊपर होने वाले अत्याचारों से अवगत कराया

और अपनी मांगों को उनके समक्ष रखा। गहन विचार-विमर्श के उपरान्त इस आयोग ने भी किसानों के हक में फैसला किया और उनकी स्थिति में सुधार लाने पर जोर दिया।

परन्तु कमीशन की सिफारिशें स्वीकार नही की गईं। किसानो को राहत नहीं मिली। समझौते के सभी प्रयत्न असफल हो गए और किसान पुन सत्याग्रह के लिए तैयार हो गए। दमन का दौर फिर आरम्भ हुआ। अब किसानो ने ठिकाने की आज्ञा न मानना, ठिकाने को मालगुजारी तथा अन्य कोई और कर न देना तथा उनकी प्रशासकीय सत्ता और अधिकार को अस्वीकार करना ही अपना मुख्य कार्यक्रम बना लिया। पथिकजी ने पचायत को आदेश दिया कि सत्याग्रही किसान बिजोलिया को छोड़ दें, बाहर जगलो मे अपने डेरे डालकर रहे, शराब छोड दें, जब तक आन्दोलन चल रहा है तब तक शादी और मौसर बन्द रखे और बिजोलिया ठिकाने की सारी जमीन को पड़त रखकर मेवाड़ मे खालसा तथा सीमावर्ती ग्वालियर, बूंदी, कोटा तथा इन्दौर रियासतो मे अपने गुजारे लायक खेती करें।[17]

दिसम्बर 1920 मे पथिकजी ने रामनारायण चौधरी को बिजोलिया भेजा जो वर्धा मे राजस्थान सेवा सघ के सक्रिय सदस्य थे। रामनारायण चौधरी ऊपरमाल के सभी गाँवा मे गए और वहा की स्थिति का अध्ययन किया। उन्होंने अनुभव किया कि ' वन्देमातरम्'' का नारा गाँव के कोने-कोने तक पहुच चुका है और अभिवादन का माध्यम बन गया है। गाँव के प्रत्येक व्यक्ति, बच्चे और वृद्ध मे मातृभूमि के प्रति प्रेम पैदा होता दिखाई पड़ रहा है।[18] उस समय मेवाड़ के ब्रिटिश रेजीडेण्ट श्री विल्किसन भी वहा दौरे पर आए हुए थे। चौधरीजी रेजीडेण्ट से मिले और उन्हे बिजोलिया के किसानो के कष्टो तथा उनके आन्दोलन से अवगत कराया। लेकिन विल्किसन ने उत्तर दिया कि "रियासत के भीतरी मामला मे हम हस्तक्षेप नही कर सकते।"

अब बिजोलिया किसान आन्दोलन समीपवर्ती गाँवो मे भी फैलने लगा। विजय सिंह पथिक के मेवाड़ प्रवेश पर पाबंदी लगा दी गई। परन्तु किसान अटल रहे और उन्होंने अपना सत्याग्रह जारी रखा।

बिजोलिया आन्दोलन के परिणामस्वरूप बिजोलिया ठिकाने की आर्थिक स्थिति दयनीय हो गई। जागीरदार ने पथिकजी को लिखा कि वह ठिकाने का किसान पचायत के साथ समझौता करा दे। कई दिना तक सधि वार्ता चलती रही परन्तु कोई समझौता न हो सका।[19]

लेकिन ठिकाने की स्थिति निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। अब ए जी जी की मध्यस्थता से ठिकाने और किसानो के बीच सधि वार्ता शुरू हुई। बिजोलिया के किसान इस शर्त पर सधि वार्ता करने को तैयार हुए कि उनके प्रतिनिधियो को उचित सम्मान दिया जायेगा। किसान पचायत के प्रतिनिधियों में माणिक्य लाल वर्मा, रामनारायण चौधरी तथा किसान पचायत के सरपच थे। ठिकाने का प्रतिनिधित्व तेज सिंह फौजदार, मास्टर जालम सिह तथा कामदार हीरालाल ने किया।[20] यह राजस्थान मे पहला अवसर था जब शोषित और पीड़ित किसानों ने, जो लम्बे समय से राज्य तथा ठिकाने के द्वारा कुचले जा रहे थे, सिर ऊचा कर आत्मविश्वास और गर्व के साथ प्रबल शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार, मेवाड़ के महाराणा तथा बिजोलिया के राव के प्रतिनिधियों से बराबरी के स्तर पर बातचीत की। काफी विचार-विमर्श के उपरान्त ए जी जी हॉलैण्ड ने किसानो की मागो को स्वीकृति दे दी। किसानो की शर्तें कुछ इस प्रकार थीं -

1. कैदियों को ठिकाने की ओर से भोजन दिया जाए। यदि भोजन न दिया जाए तो उसकी कीमत दी जाए। स्त्रियो के लिए पृथक् हवालात हो और उनके साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार किया जाए।
2. जाति सम्बंधी मामलो के अतिरिक्त दूसरे छोटे-मोटे मामले पचायत द्वारा निपटाये जाए। ठिकाना उसमें हस्तक्षेप नहीं करेगा।

उनकी अनुपस्थिति में किसानों की इस माग पर कि सधि को तुरन्त क्रियान्वित किया जाए, कोई ध्यान नहीं दिया गया। 1923-26 के मध्य किसानो को खराब फसल के कारण अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। वे लोग महाजनों के ऋणी हो गए और भू-राजस्व देने की स्थिति में नहीं रहे। किसान पचायत ने ठिकाने से रियायत की माग की पर उस पर ध्यान नहीं दिया गया।

1926 में मेवाड़ राज्य के सेटिलमेण्ट ऑफीसर श्री ट्रेञ्च बिजोलिया में बन्दोबस्त के लिए आए। 1927 में उन्होंने एक नए बन्दोबस्त की घोषणा की। इस बन्दोबस्त में जो लगान निर्धारित किया गया वह बहुत अधिक था। किसान पचायत ने आवेदन-पत्र भेजे जिनमे उन्होंने बढ़े हुए लगान का विरोध किया और अपनी अन्य कठिनाइयों का वर्णन किया। इस पर ट्रेञ्च ने आश्वासन दिया कि वे इसमे परिवर्तन करेंगे। किसान पचायत समझौते के द्वारा झगड़ा मिटाना चाहती थी जिससे किसानो के कष्ट दूर हो। ठिकाना भी झगड़ा मिटाना चाहता था। अत दोनों पक्षो ने ट्रेञ्च की मध्यस्थता स्वीकार कर ली। सम्पूर्ण मुद्दे पर गौर करने के उपरान्त ट्रेञ्च ने 9 फरवरी 1927 को अपना निर्णय दिया, जिसमे उसने किसानो को निम्न रियायते देने की घोषणा की ,—

1 माल हासिल की कसरात, जो ठिकाने के अनुसार 264320 रुपये थी, ट्रेञ्च ने 64,320 रु निश्चित की। यह रकम बिना ब्याज के दस वर्षों की किश्तों में वसूल की जानी थी
2. राव पृथ्वीसिंह की तलवारबन्दी के 95,000/- रु माफ किए गए।
3 कुए खुदाई का कर्जा 36,000/- माफ किया गया।
4 अगर सूअर किसानो का खेत खराब करे तो किसानो को उनको मारने का अधिकार दिया गया।[21]

लेकिन इस बन्दोबस्त के उपरान्त माल का (सिंचित भूमि का) लगान बहुत अधिक निर्धारित कर दिया गया। किसानों मे इससे बहुत असतोष था । किसान पचायत ने ट्रेञ्च के सामने भी इस प्रश्न को रखा था परन्तु लगान कम नहीं हुआ । किसानो मे अधिकाश इस मत के थे कि माल की भूमि को त्याग दिया जाए। उस समय किसान पचायत का ऊपर माल मे प्रभाव चरम सीमा पर था। उनकी मान्यता थी कि उस दशा में ठिकाने को विवश होकर लगान कम करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। [22] परन्तु ठिकाने ने किसानो का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और इसकी सूचना मेवाड़ सरकार को भेज दी । मेवाड़ सरकार ने ट्रेञ्च को स्थिति सम्भालने के लिए भेजा। 21 जून 1927 को करीब 500 किसानो ने ट्रेञ्च से भेंट की और लिखित विज्ञप्ति के साथ माल भूमि त्याग दी। ट्रेञ्च ने किसानो को इतना कठोर कदम उठाने से मना किया और उन्हे आश्वासन दिया कि महकमा खास उनकी मागों पर गौर करेगा। तत्पश्चात् 15-20 किसान माणिक्य लाल वर्मा के नेतृत्व में महकमा खास, उदयपुर, पहुचे। महकमा खास ने ठिकाने से पूछा कि उन्हें भूमि त्यागने की आज्ञा क्यो नही दी जा रही है। ट्रेञ्च की आज्ञा पर ठिकाने ने सामूहिक इस्तीफे के बजाय व्यक्तिगत इस्तीफे स्वीकार करने की अनुमति दी। इस पर हर किसान ने हस्ताक्षर करके एक ही भाषा और शैली में छपे व्यक्तिगत त्याग-पत्र पेश कर दिए।

लेकिन व्यक्तिगत त्याग-पत्र देकर किसानों ने भयकर भूल की। यदि ठिकाना सामूहिक त्याग-पत्र स्वीकार कर लेता तो वह उसे नीलाम नही कर सकता था। परन्तु अब, जबकि प्रत्येक किसान ने व्यक्तिगत रूप से त्याग-पत्र दे दिया, वह उसे आसानी से बेच सकता था। इस तरह ट्रेञ्च की युक्ति काम कर गई। इस पर किसान पचायत ने मेवाड़ सरकार से माल भूमि उनके मालिको को लौटाने की परन्तु उसकी इस माग को स्वीकार नहीं किया गया। किसानों की

दिखाने वाला भी कोई नहीं था। पथिक का मेवाड़ में प्रवेश निषिद्ध था। तब वर्माजी जमनालाल बजाज तथा हरिभाऊ उपाध्याय से मिले और उनसे प्रार्थना की कि वे बिजोलिया किसान पंचायत का नेतृत्व और मार्गदर्शन करें। उन्होंने वर्माजी को आश्वासन दिया कि यदि पथिकजी किसान पंचायत के नेतृत्व से त्याग-पत्र दे देंगे तो वे किसानों का मार्ग-दर्शन करने को तैयार हैं। पथिक जी ने 1929 में किसान पंचायत से त्याग-पत्र दे दिया।[23]

## हरिभाऊ उपाध्याय का नेतृत्व

हरिभाऊ उपाध्याय ने किसानों से अहिंसा और सत्य का आश्रय लेकर चलने का वायदा कराया। हरिभाऊ ट्रेञ्च से मिले और उनसे लम्बी चर्चा के उपरान्त निम्न समझौते किए—

1. ठिकाना 1922 के समझौते का पूर्ण रूप से पालन करेगा ।
2. छटूंद नाम की लागत लगान में शामिल कर ली जाएगी।
3. अंतिम निर्णय होने तक किसानों को उनकी पुरानी माल भूमि लौटा दी जाएगी।
4. माल भूमि पर लगान 25 प्रतिशत कम कर दिया जाएगा।

इस समझौते को महकमा खास और दरबार ने भी स्वीकृत कर दिया। किसान तथा हरिभाऊ भी इससे संतुष्ट थे।

1930 के मार्च में किसानों ने देखा कि उनके साथ धोखा हुआ है। हरिभाऊ बराबर राज्य सरकार को लिखते रहे परन्तु राज्य सरकार ने उनके पत्रों का उत्तर नहीं दिया। ट्रेञ्च ने भी उनसे मिलने से इंकार कर दिया और उनका मेवाड़ में प्रवेश निषिद्ध कर दिया। हरिभाऊ के आदेश पर किसानों ने माणिक्य लाल वर्मा के नेतृत्व में सत्याग्रह आंदोलन छेड़ने का निर्णय लिया। किसानों ने राज्य सरकार को दस दिन की मोहलत दी परन्तु राज्य सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। ट्रेञ्च ने किसानों को चेतावनी दी कि यदि नीलाम की गई जमीन पर कोई किसान कब्जा करेगा तो उनके साथ सख्ती से निपटा जाएगा।[24]

19 अप्रैल 1931 को किसानों ने लक्ष्मी निवास में एक सभा बुलाई जिसमें तय किया गया कि अक्षय तृतीया के दिन माल भूमि को जोता जाएगा। उसके अनुसार 21 अप्रैल 1931 को करीब 400 किसान सख्त चेतावनी के बावजूद माल भूमि को जोतने के लिए पहुंच गए। लेकिन ठिकाने के अफसर वहां अपनी सेना लेकर पहुंच गए और किसानों को खेदड़ना शुरू कर दिया। माणिक्य लाल वर्मा को भी गिरफ्तार कर लिया गया। दूसरे दिन किसान पंचायत के सरपंच और 17 किसान गिरफ्तार किए गए।[25] इन किसानों को शारीरिक यातनाएं दी गईं । इस अत्याचार के खिलाफ कोई कार्यवाही नहीं की गई और न ही किसानों को चिकित्सा सुविधा उपलब्ध कराई गई।[26] हरिभाऊ उपाध्याय ने मेवाड़ में ब्रिटिश रेजीडेंट से निवेदन किया कि वह महाराणा से अनुरोध करें कि बातचीत द्वारा समस्या का हल निकाल लिया जाए और स्थिति को नियंत्रण से बाहर होने से बचाया जाए। परन्तु इसका कोई परिणाम नहीं निकला। मेवाड़ सरकार ने आंदोलन को दबाने की ठान ली थी। इस पर किसान पंचायत ने निर्णय लिया कि वे 11 मई 1931 तक माल भूमि को नहीं जोतेंगे और ठिकाने के साथ समझौता करने का प्रयत्न करेंगे।

हरिभाऊ ने दुर्गा प्रसाद चौधरी, रमा देवी जोशी, लाडू राम जोशी, अचलेश्वर प्रसाद शर्मा और प्यार चन्द विश्नोई को अजमेर से बिजोलिया के किसानों का मार्ग-दर्शन करने के लिए भेजा। वे लोग गुप्त रूप से लम्बे समय तक किसानों का मार्ग-दर्शन करते रहे। परन्तु इन्हें अन्ततः गिरफ्तार कर लिया

गया और अपमानित करके बिजोलिया से निकाल दिया गया।[27] ठिकाने का अत्याचार इस हद तक बढ़ गया कि गांव में घूमने वाले सवार मनमाने ढंग से किसानों पर जुल्म ढाने लगे। ठिकाना एक बड़े कैदखाने में परिवर्तित हो गया था।[28] पुलिस ने 50 किसान सत्याग्रहियों को गिरफ्तार किया जिनमे से 15 किसानों को तीन महीने का कठोर कारावास तथा सौ रुपये जुर्माने का दण्ड दिया गया। माणिक्य लाल वर्मा को चार महीने का कठोर कारावास तथा 500 रुपये जुर्माने की सजा दी गई।[29] हरिभाऊ ने महकमा खास, उदयपुर, को पत्र लिखकर इन अत्याचारो के विरुद्ध कार्यवाही करने को लिखा। उन्होंने लिखा कि अगर महकमा खास किसानों को उनकी माल भूमि लौटा देते हैं और कैद किये गये किसानों को रिहा कर देते हैं तो वे लोग सत्याग्रह का निर्णय त्याग सकते है। लेकिन हरिभाऊ के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर मेवाड़ राज्य में उनके प्रवेश पर पाबन्दी लगा दी गई।[30]

उसी समय बम्बई मे अखिल भारतीय देशी राज्य प्रजा परिषद् का अधिवेशन हुआ। हरिभाऊ उपाध्याय ने प्रस्ताव रखा कि देशी राज्य प्रजा परिषद् पहले अपनी एक कमेटी को बिजोलिया के किसानो पर ठिकाने और राज्य द्वारा किये जाने वाले दमन और अत्याचार की जाच के लिए भेजे। परिणामत बिजोलिया जाच कमेटी नियुक्त की गई। उसके मत्री अमृतलाल सेठ ने महकमा खास, उदयपुर, को 18 जून 1931 को लिखा कि देशी राज्य प्रजा-परिषद् की जाच कमेटी जांच के लिए बिजोलिया जा रही है। परन्तु उदयपुर सरकार ने कमेटी के सदस्यो के मेवाड़ मे प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस पर महात्मा गांधी ने हरिभाऊ को परामर्श दिया कि सम्मानजनक समझौते के लिए सत्याग्रह बन्द कर दिया जाना चाहिए। महात्मा गाधी के आदेशानुसार बिजोलिया किसान पचायत ने सत्याग्रह बन्द कर दिया। उदयपुर के प्रधानमत्री सर सुखदेव प्रसाद और सेठ जमनालाल बजाज मे बिजोलिया के मामले में समझौते की बात चली। इसको ध्यान में रखते हुए यह निश्चय किया गया कि जाच कमेटी को कुछ समय के लिए अपना कार्यक्रम स्थगित कर देना चाहिए।[31] जमना लाल बजाज कई बार सर सुखदेव प्रसाद से मिले और दोनो निम्न समझौते पर पहुँचे —

1 धीरे-धीरे पुराने बापीदारो को जमीनें वापिस लौटा दी जायेगी।
2 सत्याग्रह के दौरान जो किसान तथा कार्यकर्ता गिरफ्तार और ठिकानों की अदालत से दण्डित हुए हैं, वे अपील करेगे तो राज्य तुरन्त उन्हें छोड़ देने की आज्ञा देगा और उच्च न्यायालय उनको दोषमुक्त कर देगा।
3 जुर्माने मे नीलाम किए हुए पशु वापिस लौटा दिए जाएगे और आगे पशुओ का नीलाम किया जाना रोक दिया जाएगा।
4 1922 के फैसले की शर्तों का पालन किया जाएगा। शिक्षा के लिए पाठशाला स्थापित की जाएगी और चिकित्सा की व्यवस्था की जाएगी।
5 किसानों के साथ जो दुर्व्यवहार किया गया था उसकी जाच कराई जाएगी और दोषी अधिकारियों को दण्डित किया जाएगा।

इस समझौते की जानकारी शोभ लाल गुप्ता ने किसानों को दी जिनको जमनालाल बजाज ने रदूडी से भेजा था। परन्तु शोभलाल को ठिकाने के सिपाहियों ने बुरी तरह से पीटा। शोभलाल ने इस घटना की जानकारी सर सुखदेव प्रसाद को दी। सुखदेव प्रसाद ने लक्ष्मी लाल जोशी को घटना की जाच के लिए नियुक्त किया। लक्ष्मीलाल जोशी की रिपोर्ट पर कोतवाल गजानद को ठिकाने की नौकरी से बरखास्त कर दिया गया और माणिक्य लाल वर्मा और अन्य किसानों को रिहा कर दिया गया।

समस्या का समाधान अभी भी नहीं हो सका।[32] किसानों को उम्मीद थी कि उन्हें माल भूमि लौटा दी जाएगी और दमन भी बन्द हो जाएगा परन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। अतः माणिक्य लाल वर्मा किसान पंचों के साथ उदयपुर गए। वे सुखदेव प्रसाद से मिले और उनसे अनुरोध किया कि माल भूमि नए बापीदारों से लेकर पुराने बापीदारों को लौटा दी जाए। सुखदेव प्रसाद ने माणिक्य लाल वर्मा को उच्च पद का प्रलोभन दिया, परन्तु जब उन्होंने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और उदयपुर से दूर कुम्भलगढ़ में नजरबंद कर दिया गया। [33] डेढ़ साल बाद जब उन्हें रिहा किया गया तो उन्हें मेवाड़ से निष्कासित कर दिया गया और उनके मेवाड़-प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इस प्रकार बिजोलिया में उनके सक्रिय नेतृत्व का अन्त हो गया।[34]

24 अप्रैल 1938 को माणिक्य लाल वर्मा ने मेवाड़ प्रजा-मण्डल की स्थापना की परन्तु मेवाड़ सरकार ने इस संस्था को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। इस प्रतिबन्ध को हटाने का हर-सम्भव प्रयास किया गया परन्तु कोई समाधान नहीं हो सका। 4 अक्टूबर 1938 को प्रजा-मण्डल ने सत्याग्रह आरम्भ कर दिया। जल्दी ही यह आंदोलन पूरे राज्य में फैल गया। मेवाड़ सरकार ने अनुभव किया कि अगर बिजोलिया के किसान इस आंदोलन का समर्थन करने लगे तो स्थिति भयानक रूप ले सकती है। परन्तु किसानों ने इस आंदोलन का समर्थन नहीं किया क्योंकि उन्हें भय था कि कहीं वे माल भूमि से वंचित न हो जायें। [35]

बिजोलिया के किसानों को मेवाड़ प्रजा-मण्डल से पृथक् रखने के लिए मेवाड़ सरकार ने यह आवश्यक समझा कि बची हुई माल भूमि पुराने किसानों को लौटा देनी चाहिए। राज्य यह भी नहीं चाहता था कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान राज्य में किसी तरह का विद्रोह हो। जून 1939 में श्री खेमाजी धाकड़ विक्रमपुरा के नेतृत्व में 41 किसान प्रतिनिधि उदयपुर गए। उन्होंने कहा कि वे दरबार की सेवा में नजराना देने और प्रार्थना करने आए थे। महाराणा ने नजराना स्वीकार कर लिया और किसानों ने भूमि वापिस प्राप्त करने के आदेश ले लिये। मुंसरिम बक्षी गुलाम सिंह ने ठिकाने में काम करने वाले कर्मचारियों को, जिन्होंने जमीनें नीलाम में प्राप्त की थीं, लौटाने की आज्ञा दी। आज्ञा के अनुसार किसान क्षतिपूर्ति के रूप में 6 रुपये प्रति बीघा नए किसानों को देकर अपनी पैतृक जमीन वापिस ले सकते थे। परन्तु अनेक नए किसानों ने, जिन्होंने भूमि को ठिकाने से 3 रुपये नजराने पर लिया था, उस जमीन को या तो बेच दिया था अथवा बंधक रख दिया था। अतः भूमि की वापसी का प्रश्न पुनः उलझ गया।[36]

25 दिसम्बर 1939 से सर टी. विजयराघवाचार्य मेवाड़ के दीवाने बने। जमनालाल बजाज ने पत्र लिखकर विजयराघवाचार्य से बिजोलिया के किसानों की भूमि के प्रश्न को शीघ्र सुलझाने की मांग की। जवाब में विजयराघवाचार्य ने लिखा कि वे माणिक्य लाल वर्मा को आश्वासन दे चुके हैं कि वे किसानों को भूमि दिलाने में हर सम्भव सहायता करेंगे। उन्होंने रेवेन्यू मिनिस्टर डॉ. मनमोहन सिंह को आदेश दिया कि वे मामले का शीघ्र ही संतोषप्रद हल निकालें। सिंह बिजोलिया गए और विचार-विमर्श के उपरान्त भूमि किसानों को लौटा दी। [37] इस तरह 1941 में किसानों के संघर्ष का अन्त हुआ।

बिजोलिया आंदोलन किसानों के संघर्ष के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय है। इस आंदोलन का महत्व इस तथ्य में निहित है कि यह अंग्रजों और रियासती प्रशासन के खिलाफ अहिंसा से जीता गया आंदोलन था। सरकार के साथ असहयोग की नीति का पालन करके वे कई रियायतें प्राप्त करने में सफल हुए थे। कुशल नेतृत्व ने भी इस आन्दोलन की सफलता में महत्वपूर्ण योगदान दिया। विजय सिंह पथिक ने कुशल संगठन की योग्यता का परिचय दिया और आन्दोलन को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निबाही । वे ग्रामीण जनता की मानसिकता जानते थे। उन्होंने गीतों और भजनों के माध्यम से किसानों को

उनकी शक्ति से अवगत कराया और अंग्रेजों के खिलाफ तैयार किया। बिजोलिया किसान पंचायत की स्थापना करके उन्होंने ठिकाने के खिलाफ एक शक्तिशाली संगठन तैयार किया। वे इस आंदोलन के लिए महात्मा गांधी, तिलक, पंडित मालवीय और जमनालाल बजाज जैसे बड़े नेताओं का आशीर्वाद प्राप्त करने में सफल हुए।

बिजोलिया किसान पंचायत ने जिस एकता और दृढ़ता का परिचय दिया उसने भी आंदोलन की सफलता का मार्ग प्रशस्त किया। इस एकता की एक वजह इसके सदस्यो का एक ही जाति का होना हो सकता है। इस एकता के बल पर ये कई रियायते प्राप्त करने मे सफल हुए। उनका सिर्फ एक ही उद्देश्य था—खोई हुई भूमि को फिर से प्राप्त करना जिसमे वे अथक् प्रयलों और सघर्षों के उपरान्त सफल हुए।

## भील आंदोलन

बिजोलिया के किसान आदोलन की सफलता ने राजस्थान की अन्य रियासतो को भी प्रभावित किया। गोविन्द गुरु ने भीलो को सगठित किया। उन्होंने राज्य को बेगार देना बन्द कर दिया। भीलो के खिलाफ सैनिक कार्यवाही की गई और गोविन्द गुरु को बन्दी बना लिया गया।[38] गोविन्द गुरु की अनुपस्थिति मे भीलो को सगठित करने का कार्य मोतीलाल तेजावत ने सम्भाला। अनुचित लगानो के खिलाफ भीलो का एक सम्मेलन नीमड़ा गाव मे आयोजित किया गया। इस सम्मेलन के विरुद्ध तुरन्त सैनिक कार्यवाही की गई। अत्यधिक सख्या मे भील घायल हुए और वे अपने नेता मोतीलाल तेजावत के साथ भूमिगत हो गए।[39]

## बूंदी का किसान आंदोलन

बूंदी के किसान भी बिजोलिया किसान आंदोलन से अप्रभावित नहीं रहे। उन्होंने बूदी के भ्रष्ट एव अकुशल प्रशासन, लागतो और बेगार एवं युद्ध कोष के लिए किसानों से जबरन वसूली के खिलाफ आंदोलन आरम्भ किया। इस आन्दोलन का नेतृत्व नेनूराम शर्मा ने किया। बूदी नरेश द्वारा सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिए जाने के उपरान्त भी किसानो ने सभाओं का आयोजन किया।[40] तब आंदोलन को दबाने के लिए प्रशासन ने दमन चक्र का सहारा लिया। अनेक किसानो को बन्दी बनाया गया और स्त्रियो को भी नही बख्शा गया।[41] अजमेर, हाड़ौती तथा टोक के पोलिटिकल ऐजन्ट के कहने पर बूदी प्रशासन ने बेगारो को समाप्त करने की घोषणा की परन्तु किसानों ने अपना आदोलन जारी रखने का निर्णय किया।[42] आदोलन की गति को रोकने के लिए बूंदी नरेश ने हाड़ौती और टोंक के पोलीटिकल एजेंट से किसानों के साथ किसी तरह समझौते करवा देने की प्रार्थना की। गिरफ्तार किए गए आदोलनकारियो को रिहा कर दिया गया। किसानों को इस बात का भी आश्वासन दिया गया कि प्रत्येक गाव के दो प्रतिनिधि अपनी शिकायते बूंदी नरेश तक पहुँचा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कई और रियायतें देने की घोषणा की गई। परन्तु किसानों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। 2 अप्रैल 1923 को डाबी गाव में एक सभा हुई जिसमें किसानों ने निश्चय किया कि वे राज्याधिकारियों को खाद्य-सामग्री नहीं देंगे। सभा को अस्तव्यस्त करने के लिए पुलिस की सहायता ली गई। पुलिस की गोलियों से दो किसान नानक और देवीलाल गूजर की घटना-स्थल पर ही मृत्यु हो गई और अनेक किसान घायल हो गए। कुछ समय पश्चात् किसान नेता नेनूराम शर्मा को भी गिरफ्तार कर लिया गया।[43] इसके अतिरिक्त [illegible]
रामनारायण चौधरी, हरिजी ब्रह्मचारी, सत्य भक्त तथा अंजना देवी के बूदी प्रवेश पर

इसके साथ ही दो अखबारों, 'तरुण राजस्थान' और 'नवीन भारत', पर प्रतिबंध लगा दिया गया।[44]

कुशल नेतृत्व के अभाव में किसान आंदोलन मंद पड़ने लगा, परन्तु इससे पहले कि आंदोलन का अस्तित्व खतरे में पड़ता, 24 सितम्बर 1924 को नेनू राम शर्मा जेल से रिहा कर दिए गए।[45] नेनू राम शर्मा ने किसानों की शिकायतों को दूर करने के लिए कई आवेदन-पत्र बूंदी नरेश के पास भेजे, परन्तु राजस्थान सेवा संघ का ध्यान इस समय बिजोलिया किसान आंदोलन पर केन्द्रित था। आपसी मतभेद के कारण भी आंदोलन मंद पड़ गया।

1936 से 1945 तक गूजरों का आंदोलन चला जिसका उद्देश्य भू-राजस्व तथा गैर-कानूनी लाग बाग का विरोध करना था। परन्तु नेतृत्वहीनता के कारण इसे सफलता नहीं मिली।[46]

## शेखावाटी किसान आंदोलन

1932 में जाट किसान सभा ने शेखावाटी किसान आंदोलन आरम्भ किया। 1934 में 200 किसानों के शिष्ट मण्डल ने जयपुर नरेश से भेंट की और उनको अपनी मांगों और शिकायतों से अवगत कराया। परन्तु किसानों के साथ अमानवीय व्यवहार किया गया। इसके विरोध में किसानों ने ठिकाने को लगान न देने का निर्णय लिया। 23 अगस्त, 1934 को सीकर के वरिष्ठ अधिकारी वेब और किसानों के मध्य समझौता हुआ। इसके द्वारा लगान में कई रियायतें दी गई और लागतें और बेगार बन्द कर दिए गए।[47] 1936 में पं. तारकेश्वर शर्मा ने सीकर और झुन्झनू की जाट किसान सभा का पुन: गठन किया और उसका नाम बदल कर किसान सभा रखा। उन्होंने हस्तलिखित 'ग्राम-समाचार' नामक समाचार पत्र शुरू किया जिसके द्वारा आंदोलन को गति मिली। 1939 में इस आंदोलन को दबा दिया गया और इसके नेता तारकेश्वर शर्मा, हीरालाल शास्त्री, देशराज तथा बाबा नरसिंह दास को कैद कर लिया गया अथवा राज्य में उनके प्रवेश पर पांबदी लगा दी गई। देशराज और तारकेश्वर शर्मा आगरा पहुंचे और वहां उन्होंने "गणेश" नामक समाचार पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इसके माध्यम से उन्होने आंदोलन का प्रचार-प्रसार किया।[48]

## दूधवा खारा आंदोलन

1945-46 के मध्य बीकानेर राज्य के दूधवा खारा गांव में किसान आंदोलन हुआ जो किसानों पर पुलिस अत्याचारों का परिणाम था।[49] ठा. सूरज मल सिंह ने बकाया लगान वसूल करने के लिए किसानों के खेत और मकान जब्त कर लिए। किसान नेता हनुमान सिंह आर्य ने ठाकुर के अत्याचारों का विरोध किया। इस पर उनको कैद कर लिया गया और उनके साथ अमानवीय व्यवहार किया गया। ठाकुर के इस कुकृत्य से किसानों में राजनैतिक चेतना फैली और संगठन के प्रचार-प्रसार का उत्साह जागा।[50]

हालांकि इन राज्यों की किसान समस्याओं का समाधान 1950 में जागीरदारी और जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के पश्चात् ही हो सका, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उपर्युक्त किसान आन्दोलनों ने राजस्थान में राजनैतिक जागरण फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निबाही।

## सन्दर्भ-सूची

1. माणिक्यलाल वर्मा के बिजोलिया संबंधी कागजात—पथिकजी का बयान ।

2. शंकर सहाय सक्सेना, स्वतन्त्रता संग्राम के लोकनायक श्री माणिक्य लाल वर्मा की यशोगाथा, पृ 21
3. प्रेमाराम, एग्रेरियन मूवमेंट इन राजस्थान, पृ 16.
4. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आन्दोलन का इतिहास, पृ 40
5. शंकर सहाय सक्सेना, श्री माणिक्य लाल वर्मा की यशोगाथा, पृ 22.
6. शंकर सहाय सक्सेना, महान् क्रांतिकारी विजय सिंह पथिक, पृ 129
7. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, पृ 52 53
8. शंकर सहाय सक्सेना, वही, पृ 59-65
9. शंकर सहाय सक्सेना, श्री माणिक्य लाल वर्मा की यशोगाथा, पृ 28
10. नवीन राजस्थान, रविवार, 2 जुलाई 1992.
11. वही।
12. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, पृ 86-87
13. बूंदी अंग्रेजी रिकार्ड, फाइल स 9, बिजोलिया आंदोलन से संबंधित पृ 922, आर एस ए बी
14. वही।
15. शंकर सहाय सक्सेना, विजय सिंह पथिक, पृ 156
16. वही, पृ 159-60
17. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, पृ 109 10
18. आर एन चौधरी, आधुनिक राजस्थान का इतिहास, पृ 449
19. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, पृ 125
20. नवीन राजस्थान, 2 जुलाई, 1922.
21. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, पृ 218 19
22. वही, पृ 223
23. वही, पृ 236
24. हरिभाऊ उपाध्याय, साधना के पथ पर, पृ 191
25. पेमाराम, एग्रेरियन मूवमेंट इन राजस्थान, पृ 41
26. द लीडर, 5 जुलाई, 1931
27. पेमाराम, पूर्वो , पृ 42-43.
28. त्यागभूमि, 29 मई, 1931, पृ 37 38
29. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, पृ 257
30. द लीडर, दिनांक 5 जुलाई, 1931
31. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास, पृ 260-61
32. शंकर सहाय सक्सेना, वही, पृ 266
33. द लीडर, 3 जुलाई, 1932.
34. शंकर सहाय सक्सेना, जो देश के लिए जिए, माणिक्य लाल वर्मा, पृ 78
35. पेमाराम, पूर्वो., पृ 42
36. शंकर सहाय सक्सेना, बिजोलिया किसान आंदोलन का इतिहास,

# 7

# मेवाड़ में स्वतंत्रता आन्दोलन के विविध आयाम

के. एस. गुप्त

यह मान्यता सामान्य रही है कि स्वतत्रता आन्दोलन मुख्यत भारत के उन क्षेत्रो मे हुआ जिनका प्रशासन सीधा अंग्रेजों के पास था। इन क्षेत्रो को ब्रिटिश भारत के रूप मे जाना जाता था और ये विभिन्न प्रान्तों में बटे हुए थे। स्वाभाविक रूप से इन प्रान्तों मे हुए आन्दोलनो पर विस्तृत रूप से लिखा गया है। परन्तु लेखकों का ध्यान भारत के दूसरे भाग अर्थात् देशी रियासतो मे हो रहे आन्दोलन की ओर उतना नहीं गया है। फिर भी इस क्षेत्र मे हुए आन्दोलनों का महत्व कम नहीं है। वास्तव मे देखा जाय तो रियासती प्रजा को गुलामी की दोहरी तथा कहीं-कहीं तीहरी जजीरों को तोड़ने का प्रयास करना पड़ रहा था। अंग्रेजों के साथ-साथ उनका सघर्ष देशी शासको के विरुद्ध भी था तथा प्रजा का अधिकाश भाग जागीरदारी इलाको में रहता था। अत उन क्षेत्रो मे रहने वाली जनता को सामन्तो के विरुद्ध भी बगावत का झडा खड़ा करना पड़ा। इसलिए रियासती जनता का सघर्ष कठिनतर और विशेष महत्व का था। इनको अपनी स्वतत्रता की प्राप्ति के लिए कितनी विपदाओ, शासको एव सामन्तों का कितना दमन सहना पड़ा, इसका सही मूल्याकन अभी नहीं हुआ है।

## 1857 की क्रान्ति एवं मेवाड़

भारतीय इतिहास में स्वतत्रता एव सस्कृति की रक्षा हेतु मेवाड़ की भूमिका अनुपम रही है। यहाँ के सपूतों का आजादी के लिए मर-मिटने का एक गौरवशाली इतिहास रहा है। विशेषत मध्यकाल मे किये गये त्याग तथा बलिदान के फलस्वरूप मेवाड़ भारत के स्वतत्रता प्रेमियो को सदैव प्रेरणा देता रहा। यह भू भाग आजादी के दीवानो के लिए केवल तीर्थस्थल ही नही था परन्तु स्वतत्रता का पर्याय हो गया था। परन्तु अट्ठारहवीं शताब्दी की दु खद घटनाओ ने मेवाड़ की दशा को इतना जर्जरित तथा विपन्न कर दिया कि उसको उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सधि करने को बाध्य होना पड़ा। 1818 में हुई इस सधि से मेवाड़ में बाह्य रूप से शाति स्थापित हो गई परन्तु वहाँ के किसी भी वर्ग ने इस सधि को मन से स्वीकार नहीं किया। इस पराधीनता से सब बेचैन थे तथा गुलामी के जुए को उतार फेंकने की प्रतीक्षा में थे। दु ख और आश्चर्य है कि 1857 में जब अवसर आया तो उसका समुचित उपयोग नहीं किया गया। परन्तु उत्साह का अभाव जनता में नहीं, नेतृत्व में था। मेरठ विप्लव, नसीराबाद के छावनी विद्रोह तथा नीमच छावनी में विद्रोह की सम्भावना ने मेवाड़ की जनता में हलचल उत्पन्न कर दी। इसका प्रमाण 30 मई को प्रस्तुत हुआ। उस दिन पोलिटिकल एजेन्ट कप्तान शावर्स महाराणा का
[illegible] करने के लिए जब शहर से होता हुआ राजमहल की ओर जा रहा था तो जनता ने
[illegible] किया।[1] इस बीच 3 जून को नीमच में सेना ने विद्रोह कर दिया। इसकी

हुई। अंग्रेज विरोधी वातावरण ने न केवल अंग्रेजों को अपितु महाराणा को भी आश्चर्यचकित कर दिया। एक बार तो वह भी अंग्रेजों से सहयोग की नीति पर पुनः विचार करने लगा। [2] नीमच छावनी पर अधिकार करने के पश्चात् विद्रोही दिल्ली की ओर जाने के लिये मेवाड़ में आए। यहां उन्हें सभी स्थानों पर जनता का समर्थन मिला। चित्तौड़, बनेड़ा में सरकारी डाक तथा लारेन्स आदि अंग्रेज पदाधिकारियों की निजी सम्पत्ति लूटते हुए जब वे शाहपुरा पहुँचे तो वहाँ के राजा लक्ष्मणसिंह ने उन्हें दो दिन ठहराया। उनके लिए रसद आदि का प्रबन्ध किया। [3] इसके विपरीत जब विद्रोहियों का पीछा करता हुआ शावर्स वहाँ आया तो न तो उसकी पेशवाई की गई, न उसे आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध करवाई गईं । ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जब धन का प्रलोभन देकर अंग्रेजों ने मेवाड़ की जनता से विद्रोहियों को पकड़ने में सहयोग प्राप्त करना चाहा।[4] परन्तु ऐसे प्रयास भी विफल रहे। 1857 की क्रान्ति के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री से स्पष्ट है कि महाराणा ने अपना समस्त नैतिक व सैनिक बल अंग्रेजों की सहायता व क्रान्ति का निरंकुशतापूर्वक दमन करने में समर्पित कर दिया। महाराणा ने तो अन्य शासकों को भी अंग्रेजों से सहयोग करने के लिए प्रेरित किया। इसी प्रकार सामन्तों के एक बड़े भाग ने, ब्रिटिश विरोधी कुछ अपवादों को छोड़, महाराणा का अनुसरण किया। एक लम्बे समय से सामन्तशाही पद्धति में जीवन-यापन करने के कारण मेवाड़ की जनता नेतृत्व हेतु अपने शासकों एवं सामन्तों की ओर देख रही थी, परन्तु उनका इरादा दूसरा ही था। [5] वे अपनी संकीर्ण स्वार्थपरता के वशीभूत होकर अंग्रेजों के प्रति भक्ति प्रदर्शित करने में लगे रहे। जितना सहयोग उन्होंने अंग्रेजों को दिया अगर उतना ही सक्रिय समर्थन क्रान्तिकारियों को प्राप्त हो जाता तो 1857 का महासमर कुछ दूसरे ही परिणामों के साथ इतिहास के पृष्ठों पर सुशोभित होता। इस प्रकार प्रथम स्वतंत्रता आन्दोलन एक ऐसे सर्वमान्य साहसी नेता के अभाव में, जो जन आक्रोश व असन्तोष को अपनी प्रतिभा से संगठित कर सके, असफल हुआ। [6] स्वाभाविक रूप से जनता में घोर निराशा हुई। उनमें परम्परागत नेतृत्व के प्रति अविश्वास भी उत्पन्न हुआ प्रतीत होता है। हताश नेतृत्व के स्थान पर नये नेतृत्व की खोज होने लगी ताकि स्वतंत्रता के अगले आन्दोलन के सूत्र विश्वसनीय हाथों में हों। अत: 1857 की क्रांति की असफलता ने मध्यम वर्ग में नेतृत्व विकसित होने के लिए आधार बनाया।

## पुनर्जागरण काल

1857 ई. के स्वतंत्रता संग्राम की असफलता के कारण देश के अन्य भागों की तरह मेवाड़ में भी अंग्रेजों का पूर्ण वर्चस्व स्थापित हो गया। जनता में विवशता का घना कोहरा छाया हुआ था। इस हताश और निराशामय वातावरण में शनैः शनैः आशा की किरण जाग्रत होने लगी। देश के साथ- साथ मेवाड़ में भी नवचेतना और नव-उत्साह का प्रवाह बहने लगा। इस संदर्भ में 19 वीं शताब्दी में हुए सामाजिक व धार्मिक आन्दोलनों का, विशेषत: आर्य समाज का, योगदान महत्वपूर्ण है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती की मेवाड़ में विभिन्न स्थानों की यात्रा और उनके सन्देश ने जनता में स्वतंत्रता की भावना को प्रज्ज्वलित कर दिया। दयानन्द अपनी मेवाड़ यात्रा के दौरान उदयपुर, चित्तौड़, शाहपुरा, बनेड़ा आदि स्थानों पर गये तथा स्वराज्य, स्वदेशी, स्वधर्म व स्वभाषा पर जोर दिया। [7] स्वामी दयानन्द के उपदेशों ने नवयुवकों के हृदय में जातीय आत्मविश्वास जगाया ।

इसी प्रकार क्रान्तिकारियों ने भी राजनैतिक चेतना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। मेवाड़ के केसरीसिंह बारहठ तथा उसके पूरे परिवार ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद को समाप्त करने के लिये अपना जीवन समर्पित कर दिया। केसरीसिंह का पुत्र प्रतापसिंह तो रासबिहारी बोस का सबसे अधिक विश्वस्त सहायक

था। 1912 ई. के हार्डिंग्स बम काड में उसको उत्तरदायी मानकर बन्दी बना लिया था। परन्तु ठोस प्रमाण के अभाव में उसे छोड़ना पड़ा। पांच वर्ष बाद वह पुनः बनारस षड्यन्त्र के अभियोग में बन्दी बना लिया गया। क्रान्तिकारियों के बारे में जानने के लिए उस पर अमानुषिक अत्याचार किये गये , किन्तु वह विचलित नहीं हुआ। अन्त मे अंग्रेजों के इन निर्मम अत्याचारो के कारण वह जेल में केवल 22 वर्ष की अवस्था में शहीद हो गया।[8] क्रान्तिकारियों के त्याग, देशप्रेम और कष्ट-सहिष्णुता के अनेक उदाहरण हैं। निस्सन्देह क्रान्तिकारियों ने जागृति उत्पन्न करने में यथेष्ठ सहयोग दिया।

महाराणा फतहसिंह की ब्रिटिश विरोधी भावना ने भी मेवाड़ में स्फूर्ति की लहर दौड़ा दी। अंग्रेजों के विश्वासपात्रों को महत्वपूर्ण पदों से हटा देना, श्यामजी वर्मा जैसे क्रान्तिकारी को अपना मुख्य सलाहकार नियुक्त करना, 1903 मे दिल्ली मे होते हुए भी दरबार मे न जाना, खुले आम अंग्रेजो को दुष्ट कहना, क्रान्तिकारियो से निकट सम्बन्ध रखना, 1914-15 मे क्रान्तिकारियो द्वारा महाराणा को दिल्ली की गद्दी पर बैठाने की योजना तथा 1921 मे अंग्रेजों द्वारा महाराणा के अधिकार छीन लेना–इन सब घटनाओ ने मेवाड़ में ब्रिटिश विरोधी वातावरण का निर्माण किया।

मेवाड़ मे स्वतंत्रता के लिये आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त करने के और भी अनेक कारण थे परन्तु हमने उपर्युक्त तीन कारणो का ही उल्लेख इसलिए किया है क्योंकि इन बिन्दुओ पर अभी तक विशेष नहीं लिखा गया है और इनके गहन अध्ययन की आवश्यकता है।

## किसान एवं भील आन्दोलन

मेवाड़ मे जन-जागरण का प्रमाण यहाँ हुए किसान एव भील आन्दोलन हैं। वैसे राजस्थान मे मेवाड़ एक और विशेषता लिए हुए है। राजस्थान के अन्य भागो में स्वतंत्रता संग्राम सामान्य रूप से शहरी क्षेत्र तक ही सीमित था परन्तु मेवाड़ मे आन्दोलन का प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों तक था। बिजोलिया व अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में हुए आन्दोलन से यह स्पष्ट है। बिजोलिया आन्दोलन 1897 से प्रारम्भ हो कर करीब अर्द्ध शताब्दी तक चलता रहा। जिस प्रकार इस आन्दोलन में किसानो ने त्याग एव बलिदान की भावना प्रस्तुत की उसके उदाहरण अपवाद स्वरूप ही प्राप्त होते हैं। इसके सैनिको ने जिस प्रकार निरंकुश नौकरशाही एवं स्वेच्छाचारी सामन्तों के दानवी दमन का वीरतापूर्वक मुकाबला किया वह एक इतिहास बन गया है। पचायतों के माध्यम से समानान्तर सरकार स्थापित कर देना एव उसका सफलतापूर्वक संचालन करना अपने आप में आज भी अनोखी घटना प्रतीत होती है।

इस आन्दोलन की और भी महत्वपूर्ण विशेषताएं हैं। यह एक पूर्ण स्वावलम्बी आन्दोलन था। इसनें धन के लिए किसी भी प्रकार से बाह्य सहायता नहीं ली गई। इस आन्दोलन में सभी स्तर के किसान–अमीर और गरीब–सक्रिय थे । गाँव का पटेल तो आन्दोलन का अगुवा था। यह आंदोलन केवल पुरुषों तक ही सीमित नहीं था अपितु स्त्रियों और बच्चो ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आन्दोलन का दीर्घकालीन स्वरूप भी अपने आप में महत्वपूर्ण विशेषता थी।[9] इनके अतिरिक्त इस आन्दोलन की और भी अनेक विशेषतायें थीं। यहाँ हम इससे सम्बन्धित कुछ प्रश्नो पर विचार करेंगे।

1. सबसे पहला प्रश्न आंदोलन के स्वरूप के बारे में है। क्या यह केवल आर्थिक आंदोलन था अथवा सामाजिक और राजनैतिक भी था? कतिपय विद्वानों ने इसे केवल आर्थिक माना है। उनका मानना है कि लाग बाग को कम कराना मात्र ही किसानों का विपरीत अन्य लेखकों ने इसे आर्थिक के साथ सामाजिक एवं राजनैतिक

नहीं पहुंच पाई क्योंकि स्वयं भारत संघ के संविधान को लेकर अनिश्चितता का वातावरण बना हुआ था। पर इस वैठक में संघ के निर्माण के संबंध में सुझाव रखे गए। कुछ प्रधानमंत्री यह चाहते थे कि सामान्य कम्पनी कानून और वैंकों के कानूनों के आधार पर संघ का निर्माण किया जाये। कुछ प्रधानमंत्रियों ने राजनीति को आर्थिक आधार से अधिक महत्व दिया। कुछ प्रधानमंत्रियों का विचार था कि जो संघ बने, वह सर्वोच्च सत्ता के कार्यों को करें। कुछ प्रधानमंत्रियों का विचार था कि अगर आर्थिक कार्यों के लिए संघ का निर्माण किया जाता है तो उस संघ को जब भी आवश्यकता हो उन कार्यों को ग्रहण कर लेना चाहिये।[50] इन विभिन्न तथा पारस्परिक विरोधी विचारों तथा स्वार्थों के कारण संघ के निर्माण पर निर्णय लेना कठिन हो गया तथा यह भी निश्चित नहीं हो पाया कि उन्हें एक अलग संघ बनाना है या भारत संघ से वाहर रह कर स्वतन्त्र संघ का निर्माण करना है। राजपूताना के देशी रियासतों के प्रधान मंत्रियों की यह वैठक विना किसी निर्णय के समाप्त हो गई।[51]

3 मई 1947 को नई दिल्ली में राजपूताना के देशी राज्यों और अजमेर-मेरवाड़ा के प्रतिनिधियों की वैठक प्रशासनिक सुविधा हेतु संघ निर्माण के लिये हुई। राजपूताना संविधान सभा के एक दर्जन सदस्यों ने इस वैठक में भाग लिया। उनमें प्रमुख सदस्य थे उदयपुर के प्रधानमंत्री सर टी. विजयराघवाचार्य, वीकानेर के प्रधान मंत्री सरदार के. एम. पणिक्कर, जोधपुर के प्रधानमंत्री सी. एस. वेंकटाचार्य, अखिल भारतीय प्रजा परिषद् के महासचिव जयनारायण व्यास,वृजलाल बयाणी, सेठ गोविन्ददास और हीरालाल शास्त्री। इस वैठक में भी कोई अन्तिम निर्णय नहीं लिया जा सका लेकिन राजपूताना की देशी रियासतों के समूहों के निर्माण तथा उसके प्रशासन पर विचार - विर्मश हुआ था। इस विषय पर और अधिक गहन विचार करने हेतु वी. टी. कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस बैठक का महत्व इस वात में है कि पहली वार रियासतों के प्रधानमंत्रियों के साथ जनता के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।[52] इस समय तक देश के लोगों में विभाजन पर अधिक चर्चा चल रही थी। इसके परिणामस्वरूप राजपूताना के कुछ शासकों ने यह सोचना प्रारम्भ कर दिया कि अगर ब्रिटिश सरकार ने विभाजन की मांग को स्वीकार कर लिया है तो वे स्वतन्त्र राजस्थान और अलग संविधान सभा की मांग पर जोर दे सकते हैं।

जयपुर के प्रधानमंत्री वी. टी. कृष्णामाचारी की अध्यक्षता में राजपूताना संघ के निर्माण के संबंध में जो समिति गठित की गई थी उसने अपना कार्य मई 25, 1947[53] को पूरा कर लिया। प्रथम, ब्रिटिश रेजीडेन्सी जिन प्रशासनिक कार्यो को किया करती थी उसे अब कौन पूरा करेगा। द्वितीय, राजपूताना के राज्यों के विभिन्न समूह किस प्रकार से वनाये जा सकते हैं। तृतीय, भारत में सार्वभौम सत्ता के अभाव में जो समस्यायें उत्पन्न होगी उन्हें किस प्रकार से सुलझाया जायेगा।[54] इस कमेटी ने अपनी सिफारिशों में कहा कि राजपूताना के देशी राज्य एक उचित स्थान पर संयुक्त सचिवालय की स्थापना करें जो केन्द्रीय सरकार और राज्यों के समूह के साथ पत्र-व्यवहार करें।[55] इस कमेटी ने यह भी सुझाव दिया कि राजपूताना के राज्य अजमेर-मेरवाड़ा के केन्द्रीय अधिकारियों से संबंध स्थापित करें। इसने यह भी सुझाव दिया कि प्रधानमंत्रियों की काउन्सिल सत्ताहस्तान्तरण पर नियुक्त की जाये। इस समिति ने राजपूताना राज्यों के समूह भी वनाये।[56] इस कमेटी की मान्यता थी कि मंत्रिमण्डल संविधान निमार्ण के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। वह रेजीडेन्ट और केन्द्रीय सरकार के साथ महत्वपूर्ण प्रश्नों पर सही ढंग से बातचीत कर सकते है।[57]

मेवाड़ के महाराणा भूपालसिंह ने जून 25 और 26, 1946 को राजस्थान,गुजरात और मालवा के शासकों का सम्मेलन उदयपुर में वुलाया। इस सम्मेलन में 22 राजा व महाराजा उपस्थित थे। इस

सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए महाराणा ने कहा कि 'हम सब मिलकर एक राजस्थान यूनियन का निर्माण करें ताकि वह भावी भारतीय संघ की सुदृढ इकाई बन सके'। महाराणा ने सुझाव दिया कि राजस्थान यूनियन का निर्माण भारतीय संघ में एक उपसंघ के रूप में किया जाये जिसमें रियासतें अपना पृथक अस्तित्व रखते हुए कतिपय विषय यूनियन को सौंप दे। मई 30,1947 को उदयपुर के महाराणा ने महाराजाओं का सम्मेलन पुनः बुलाया। इससे पहिले प्रताप जयन्ती समारोह में बोलते हुए महाराणा ने शासकों का आह्वान किया कि जिन्होंने अभी तक संविधान सभा की सदस्यता ग्रहण नहीं की है, उन्हें तुरंत सदस्यता ग्रहण कर लेनी चाहिये और जो शक्तिशाली और संयुक्त भारत के निर्माण के लिये कार्य कर रहे है, उन्हें सहायता देनी चाहिये।[58] मई 30 को शासकों के सम्मेलन में उन्होंने राजस्थान यूनियन की स्थापना पर बल दिया। उनके अनुसार यूनियन की स्थापना आवश्यक थी क्योंकि जो रियासतें आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़ी हुई थी, वे स्वतन्त्र भारत में अपना महत्व बनाये नही रख सकेंगी। इस बात की संभावना थी कि स्वतन्त्र भारत में देशी रियासतों को स्वायतता प्रदान की जायेगी, लेकिन पिछड़ी रियासतें उस स्वायतता का लाभ नही उठा सकेंगी। महाराणा के अनुसार राजपूताना की बड़ी रियासतों के साधन भी प्रान्तों के समान प्रशासन चलाने हेतु कम पड़ेंगे जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक स्थिति में सुधार तथा जनता के लाभार्थ कार्य सम्पन्न नही हो सकेंगे।[59] इसलिये रियासतों को अपने सभी साधन एक कर देने चाहिये। उन्होंने शासकों को चेतावनी दी, यदि 'हम लोगों ने अपनी रियासतों की यूनियन नहीं बनाई तो सभी रियासतें जो प्रान्तों के समकक्ष नही है, निश्चित रूप से समाप्त हो जायेगी'।[60] महाराणा के संवैधानिक सलाहकार के. एम. मुंशी ने इस सम्मेलन में महाराणा की योजना का जोरदार समर्थन किया। फलस्वरूप एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसके अन्तर्गत राजस्थान यूनियन की योजना को स्वीकार किया गया। जयपुर, जोधपुर, और बीकानेर आदि बड़ी रियासतों को छोड़कर[61] उदयपुर के महाराणा, बूंदी के राव राजा, कोटा के महाराव, डूंगरपुर के महारावल, विजयनगर, करौली, प्रतापगढ, रतलाम, बांसवाड़ा और किशनगढ़ के महाराजा, झालावाड़ के महाराजा, शाहपुरा के राजाधिराज, जैसलमेर के महाराजकुमार, ईडर के महाराजा के प्रतिनिधि, पालनपुर के नवाब और दांता के महाराणा ने सिद्धान्त रूप से राजस्थान यूनियन की स्थापना का निर्णय लिया।[62] इस बैठक के तुरंत पश्चात् मेवाड़ के प्रधानमंत्री से अन्य राज्यों के प्रधानमंत्रियों ने प्रार्थना की कि वे यूनियन की स्थापना के सिद्धान्त पर विचार–विमर्श करें। जयपुर, जोधपुर और बीकानेर के प्रधानमंत्रियों को भी आमन्त्रित किया गया ताकि सम्पूर्ण राजस्थान यूनियन का निर्माण संभव हो सके।[63]

सरदार पणिक्कर और वी. टी कृष्णमाचारी दोनों इस बात को मानते थे कि रियासतों की यूनियन अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि उसी से राजपूताना की रियासतों का भविष्य सुरक्षित रह सकेगा। लेकिन वे दोनों 'उदयपुर योजना' से सहमत नहीं थे जिसे वे अव्यावहारिक और रियासतों के लिये खतरनाक मानते थे।[64]

अगस्त 15,1947 के पहिले एकीकरण से सबंधित दो प्रयत्न चल रहे थे। प्रथम, राजस्थान यूनियन का निर्माण तथा द्वितीय, एक कार्यकारिणी की स्थापना जो राजपूताना की सभी रियासतों के कार्यों को समन्वित कर सके। लेकिन यह प्रयत्न असफल रहे। उदयपुर में पारित प्रस्ताव अथवा योजना को लागू नहीं किया जा सका। इस बीच कुछ शासकों ने साम्प्रदायिक और प्रतिक्रियावादी संगठनों से संबध स्थापित करना आरम्भ कर दिया। कुछ शासकों ने राजपूताना के विभिन्न राज्यों के प्रजा मण्डलों के आन्दोलनों का दमन करने हेतु संगठनों का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। यहाँ के प्रधानमंत्रियों ने खुले रूप से जनता के संगठनों की आलोचना प्रारम्भ कर दी। उनके अनुसार ये संगठन न तो संगठित थे न शक्तिशाली

हुए साम्प्रदायिक तनाव और गाँधी जी की हत्या में अलवर राज्य के योगदान में संदेह के कारण वहाँ का प्रशासन भारत सरकार को अपने अधीन कर लेना चाहिए।[69] अलवर के महाराजा और डा. खरे जाँच के पूरी होने तक दिल्ली में रहे।[70] अलवर के महाराजा को 7 फरवरी 1948 को यह आदेश दे दिया गया[71] तथा अलवर के प्रशासन को भारत सरकार के अधीन कर दिया गया। डा. खरे को पद से हटा दिया गया तथा यह आदेश दिया किया कि जब तक जाँच समाप्त न हो तब तक वह दिल्ली में रहेंगे। बाद में जाँच समाप्त होने पर अलवर के महाराजा और डा. खरे पर लगे आरोपों से उन्हें मुक्त कर दिया गया।

भारत सरकार ने वी. पी. मेनन के सुझावों को स्वीकार कर लिया और अलवर मे उन सुझावों के अनुसार कार्यवाही कर दी गई।[72] अलवर मे प्रशासक की नियुक्ति कर दी गई। अलवर के शासक ने अपने राजकीय, प्रशासनिक और सैनिक अधिकारियों को आदेश दिया कि वे प्रशासकीय अधिकारी के साथ पूर्ण सहयोग करें। अलवर के महाराजा ने स्वयं यह स्वीकार कर लिया कि वे जाँच के समय अलवर मे नहीं रहेंगे।[73] सी. एस. वेंकटाचार्य को, जो उन दिनो इन्दौर के कमीश्नर थे, भारत सरकार ने आदेश दिये कि अलवर राज्य का कार्यभार सम्भाल लें। के बी. लाल को अस्थायी राज्य प्रशासकीय अधिकारी नियुक्त किया गया। इन राजनैतिक गतिविधियो ने अलवर के महाराजा को निराश कर दिया। उसी समय यह भी अफवाह फैली कि गोडसे ने अलवर की यात्रा की।[74]

भारत सरकार भरतपुर राज्य से भी अप्रसन्न थी। रियासती विभाग ने भरतपुर की सरकार पर ये आरोप लगाये —

(1) भरतपुर के महाराजा ने 15 अगस्त को स्वतन्त्रता दिवस नहीं मनाया जिसकी सूचना गोविन्द वल्लभ पंत ने 26 अक्टूबर 1947 को अपने पत्र द्वारा भारत सरकार को दी। भरतपुर के शासक ने अपने राज्य के समाचार-पत्रों में लेखो के द्वारा राष्ट्रीय नेताओ की आलोचना करने की अनुमति दी। इन समाचार पत्रों में नवजागृति प्रमुख था।

(2) महाराजा ने जानबूझकर मुसलमानों को सताने, लूटने, उनकी हत्या करने और राज्य के बाहर निकालने की नीति अपनाई। राज्य के छ. लाख मुसलमानो में से एक लाख मुसलमान इस नीति से प्रभावित हुए। महाराजा ने इस बात पर संतोष व्यक्त किया। इसलिये उन पर आरोप लगाया गया कि समाज के एक वर्ग को उन्होंने सुरक्षा प्रदान नहीं की जो कि एक शासक का कर्तव्य था।

(3) भरतपुर के शासक उनके राज्य से गुजरती हुई रेल लाइन की सुरक्षा करने मे असमर्थ रहे। आगरा से बांदीकुई की रेलवे लाइन की सुरक्षा में भी असफल रहे।

(4) वे राज्य के सैनिकों को नियन्त्रित करने तथा उनमें अनुशासन स्थापित करने मे असफल रहे।

(5) महाराजा ने जाटों के प्रति पक्षपातपूर्ण नीति को अपनायी तथा अन्य जातियो से दुर्व्यवहार किया।

(6) शासक ने अपने राज्य में अस्त्र - शस्त्र निर्माण का कारखाना स्थापित किया जो समझौते के विरुद्ध था। इसमें निर्मित अस्त्र - शस्त्र जाटों को तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ताओं को दिये गये जो अपनी गतिविधियो से भरतपुर राज्य तथा गुड़गाँव, मथुरा और आगरा के मुसलमानों को भयभीत कर रहे थे।

(7) भरतपुर का शासक साम्प्रदायिक गतिविधियों में भाग लेता था और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को प्रोत्साहित करता था जिससे राज्य मे साम्प्रदायिक गतिविधियाँ और तेज हो सकीं।[75]

जवाहरलाल नेहरू ने जनवरी 28, 1948 को सरदार पटेल को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने भरतपुर मे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ को अस्त्र - शस्त्र के साथ प्रशिक्षण दिये जाने की ओर उनका ध्यान

किया ।[76] राजनैतिक अस्थिरता तथा तनाव के कारण भरतपुर के महाराजा को फरवरी 10, 1948 को दिल्ली बुलाया गया । वी. पी. मेनन ने महाराजा को भरतपुर राज्य में हो रही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की गतिविधियों के संबंध में बताया और उन्हें सुझाव दिया कि वे भरतपुर राज्य का प्रशासन भारत सरकार के अधीन कर दें ।[77]

इस निर्णय के अन्तर्गत भरतपुर राज्य के मंत्रिमंडल ने रायबहादुर सूरजमल के नेतृत्व में 14 फरवरी 1948 को त्यागपत्र दे दिया । भारत सरकार ने एस. एन. सप्रू को भरतपुर राज्य का प्रशासक, और कर्नल ढिल्लों को राज्य की सेना का नेतृत्व सौंपा । भारत सरकार ने भरतपुर के महाराजा के भाई रावराजा गिरीराज शरण सिंह उर्फ बच्चूसिंह को भरतपुर छोड़ने के आदेश दिये । वे तुरंत फरवरी 19, 1948 को इंगलैण्ड चले गये ।[78] भरतपुर के शासक को जाँच के पश्चात् आरोपों से मुक्त कर दिया गया ।

अलवर और भरतपुर के समान धौलपुर की राजनैतिक स्थिति भी अस्थिर थी । वहाँ साम्प्रदायिक झगड़े चल रहे थे । यह आवश्यकता महसूस की जा रही थी कि स्थिति में सुधार हेतु तुरंत कदम उठाने चाहिये । जागीरदार और किसानों के बीच मतभेद थे । इन जाट राज्यों में प्रजा परिषद् के गैर जाट नेता एकीकरण के पक्ष में आन्दोलन कर रहे थे।

भारत सरकार ने अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली रियासतों को मिलाकर एक संघ बनाने का निश्चय कर लिया ।[79] चारों राज्यों के शासकों को फरवरी 27, 1948 को दिल्ली बुलाया गया । वी. पी. मेनन ने इन चारों रियासतों को मिलाकर संघ बनाने का प्रस्ताव रखा तथा यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस संघ को भविष्य में राजस्थान संघ में सम्मिलित किया जायेगा । के. एम. मुन्शी ने प्रस्तावित संघ के लिये प्राचीन जनपद के आधार पर मत्स्य संघ का नाम प्रस्तावित किया ।[80] अलवर और भरतपुर के शासकों के विरुद्ध जाँच चल रही थी, इस कारण धौलपुर के महाराजा को, जो चारों शासकों में सबसे अधिक वृद्ध थे, राजप्रमुख बनाया गया । फरवरी 28, 1948 को इस संघ की प्रसंविदा पर हस्ताक्षर किये गये।[81] मार्च 18, 1948 को भारत सरकार के खान मंत्री नरहरि विष्णु गाडगिल ने इस संघ का उद्घाटन किया। इस संघ का क्षेत्र, जनसंख्या 7589 वर्ग मील 18,37,994 लाख तथा आय कुल 183 लाख रुपये थी।

प्रसंविदा के अन्तर्गत चारों रियासतों के प्रशासन को मिला कर उसे एक प्रशासक के अधीन कर दिया गया । प्रशासक की नियुक्ति भारत सरकार ने की । इस प्रशासक को अन्तरिम मंत्रिमण्डल की सलाह से संघ का कार्य चलाना था । इसमें यह भी लिखा गया कि इस संघ का एक संविधान होगा जिसका निर्माण संविधान सभा करेगी जिसमें प्रत्येक रियासत के 20 सदस्य होंगे ।[82] अलवर, भरतपुर, धौलपुर और करौली के शासकों का प्रिवी पर्स क्रमशः 5,20,000 रुपये, 5,02,000 रुपये, 2,64,000 रुपये तथा 1,05,000 रुपये होगा।[83]

भरतपुर शासक के छोटे भाई राजा मानसिंह ने भरतपुर के विलय के विरोध में उग्र आन्दोलन आरम्भ कर दिया । जाट समुदाय की भावनाओं को भड़काने के लिये यह नारा दिया गया कि जाटों का झण्डा [84] खतरे में है। ऐसी सूचनाएँ प्राप्त हो रही थीं कि भरतपुर में जाटों ने अपनी 'हुकूमत' स्थापित कर ली है । उन्होंने सरकारी अधिकारियों तथा कर्मचारियों को धमकाया कि अगर उन्होंने विलय का समर्थन किया तो उन्हें उसकी भारी कीमत चुकानी होगी। यह भी सूचना प्राप्त हो रही थी कि जाट अस्त्र-शस्त्र और धन एकत्र कर भरतपुर पर अधिकार करने की योजना बना रहे हैं । भरतपुर के पुलिस इन्सपेक्टर जनरल की सूचना के अनुसार मार्च 12, 1948 को राजा मानसिंह ने हेलेना तथा अन्य गाँवों की यात्रा की तथा जाटों को उकसाया कि वे मत्स्य सरकार की स्थापना के विरुद्ध प्रदर्शन करें । उन्होंने वारी गाँव में यह कहा कि डेढ़ लाख लोग अस्त्र - शस्त्र सहित अन्तिम संघर्ष के लिये मार्च 17 को भरतपुर पहुँचे और

नये मत्स्य सघ उद्घाटन समारोह मे गड़बड़ी उत्पन्न करें । राजा मानसिह ने यह भी कहा कि होली का त्यौहार खून से खेला जाए और अगर भरतपुर के दुर्ग पर काग्रेस का झण्डा फहराया जाए तो उसे नीचे खींच लिया जाए।[85] किसान सभा के अध्यक्ष ठाकुर देशराज ने भी राजा मानसिह का समर्थन किया। किसान सभा इसलिये असतुष्ट थी कि मत्स्य मत्रिमण्डल मे किसानों को स्थान नहीं दिया गया था। मार्च 14 को राजा मानसिह को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया गया। मार्च 15 को राज्य मे धारा 144 लागू कर दी गई । सेना और पुलिस को राज्य के विभिन्न प्रमुख स्थानो पर नियुक्त कर दिया गया । मार्च 16 को ठाकुर देशराज और अन्य जाट नेताओ को बन्दी बना कर भरतपुर की केन्द्रीय जेल में डाल दिया गया । जो नेता भूमिगत हो गये थे, उनके नाम वारन्ट जारी कर दिये गये।[86]

मार्च 17 को हजारों की सख्या में जाट भरतपुर के दुर्ग के बाहर एकत्रित हुए। वे माँग कर रहे थे कि भारत का झण्डा भरतपुर के किसी भी सरकारी भवन पर नही फहराया जाए। वहाँ सिर्फ भरतपुर राज्य का झण्डा ही फहराया जाए। भरतपुर राज्य से कम से कम दो मत्री लिये जाये जिनमे से एक किसान सभा का हो। राजा मानसिह और ठाकुर देशराज सहित अन्य लोगों को रिहा कि जाये। अन्य लोगो के विरुद्ध जारी किये गये वारण्टों को निरस्त किया जाए।[87] अलवर, भरतपुर और धौलपुर के शासकों, मत्स्य सघ के प्रशासक के बी एल सेठ और भरतपुर के प्रशासक एस एन. सप्रु ने भीड़ को समझाने का असफल प्रयास किया। सेना और पुलिस को घटना स्थल पर बुला लिया गया। अन्त में ठाकुर देशराज को किले में बुलाया गया जहाँ से उन्होंने जनता को सम्बोधित किया और जनता को वहाँ से चले जाने को कहा, लेकिन उन्होंने किसान सभा को नये मत्रिमण्डल में प्रतिनिधित्व देने की माँग का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि अगर उनकी माँगो पर एक सप्ताह के भीतर निर्णय नहीं लिया गया तो इससे भी अधिक शक्तिशाली प्रर्दशन तथा आन्दोलन आरम्भ किया जायेगा। अन्त में यह तय किया गया कि भारत का झण्डा उन सरकारी भवनों पर फहराया जायेगा जिन पर रियासत का झण्डा नही फहरा रहा है। उनकी अन्तिम दो माँगों पर राजप्रमुख ने यह आश्वासन दिया कि उन्हें भारत सरकार के समुख रखा जायेगा तथा यह प्रयत्न किया जायेगा कि उन्हे स्वीकार कर लिया जाए । देशराज की अपील का जनता पर अच्छा प्रभाव पड़ा तथा जनता वहाँ से चली गई । देशराज को वापस जेल भेज दिया गया । इस घटना के कारण उद्घाटन समारोह में ?? घण्टे का विलम्ब हुआ और यह एक बजकर 15 मिनट पर दोपहर में आरम्भ हुआ । धौलपुर के महाराजा उदयभानसिह को राजप्रमुख की शपथ दिलवाई गयी ।[88]

मत्स्य सघ की सरकार ने मार्च 18, 1948 से कार्य करना प्रारम्भ किया । शोभाराम को सघ का मुख्यमत्री नियुक्त किया गया । इसके अतिरिक्त जुगलकिशोर चतुर्वेदी, भोलानाथ, गोपीलाल यादव, डा०मगल सिंह और चिरजीव लाल शर्मा को मत्री नियुक्त किया गया था।[89] प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने हेतु भारत सरकार ने के बी एल. सेठ को मत्स्य सघ का प्रशासक, एच.के टण्डन को मुख्य सचिव और यू.सी. मल्होत्रा को इन्सपेक्टर जनरल पुलिस नियुक्त किया । बृजवल्लभ शर्मा, सूर्यस्वरूप, आर एन. सक्सेना और कैप्टिन रामसिह को मत्स्य सरकार के विभिन्न विभागों में सचिव नियुक्त किया ।

जब मत्स्य सघ के निर्माण की बातचीत चल रही थी उस समय राजपूताने की छोटी-छोटी रियासतों के सम्बन्ध में भी वार्ता आरम्भ हो गई ।[90] किशनगढ और शाहपुरा का अजमेर में विलय का प्रस्ताव रद्द हो चुका था । मत्स्य सघ की स्थापना के ग्यारह माह के भीतर भरतपुर और धौलपुर की जनता वहाँ के अन्तरिम मत्रिमण्डल से असतुष्ट तथा निराश होकर अन्य योजनाओं पर विचार करने लगी । काग्रेस के अधिकांश सदस्य या तो सयुक्त प्रान्त में या दिल्ली में सम्मलित होना चाहते थे जबकि इन दोनों देशी रियासतों के जागीरदार जयपुर में विलय चाहते थे। वहाँ की किसान सभा यह चाहती थी कि

और भरतपुर दोनों को मिला कर अलग प्रान्त बनाया जायें जिसका नाम 'ब्रज प्रदेश' हों। अलवर और भरतपुर के मेव मुसलमान 'मेवस्थान' के निर्माण का स्वप्न देख रहे थे। इसके अतिरिक्त मत्स्य संघ आर्थिक दृष्टि से भी कमजोर था। विभाजन की सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने अलवर, भरतपुर, धौलपुर, करौली और मत्स्य संघ के मंत्रियों को दिल्ली बुलाया। रियासती विभाग ने दक्षिणी राजस्थान की छोटी-छोटी रियासतों का मध्य भारत और गुजरात की रियासतों के साथ एकीकरण का प्रस्ताव रखा। यह प्रस्ताव न तो देशी शासकों को स्वीकार था और न ही जन प्रतिनिधियों को क्योंकि वे चाहते थे कि राजपूताना की रियासतों का एकीकरण इस प्रकार हो कि उनकी सदियों पुरानी सामाजिक और सांस्कृतिक एकता बनी रहे। 3 मार्च 1948 को कोटा, बूँदी, झालावाड़, टौंक, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, किशनगढ़ और शाहपुरा की रियासतों को मिलाकर 'संयुक्त राजस्थान संघ' के निर्माण का प्रस्ताव रखा गया। महारावल डूंगरपुर ने पहिले डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ की रियासतों का संघ बनाना चाहा। परन्तु वे अपने प्रयास में असफल रहे।[91] केन्द्रीय रियासती मंत्रालय का विचार था कि प्राकृतिक संबंधों के कारण ये रियासतें मध्य भारत की अपेक्षा राजपूताना से अधिक संबंधित थीं।[92] रियासतों के प्रजा मण्डलों और इन तीनों शासकों ने मध्य भारत की अपेक्षा राजपूताना के राज्यों के साथ विलय अधिक अच्छा समझा। इसका कारण यह भी था कि राजपूताना के शासक मध्य भारत और मालवा में मराठों द्वारा सदियों पूर्व की गई लूटपाट को अभी तक भूले नहीं थे। वे मराठों का वर्चस्व स्वीकार करना पसन्द नहीं करते थे।[93] बांसवाडा और प्रतापगढ़ विलिनीकरण के पक्ष में थे। किशनगढ और शाहपुरा जो अजमेर-मेरवाड़ा प्रान्तों से घिरे हुए थे, संघ में मिलना चाहते थे जबकि रियासती विभाग उन्हें अजमेर में मिलाना चाहता था। लेकिन इन रियासतों के जन-प्रतिनिधियों तथा शासकों के विरोध के कारण रियासती विभाग को यह योजना रद्द करनी पड़ी। टौंक का कुछ भाग मालवा क्षेत्र में पड़ता था जिसे भविष्य में मध्य भारत संघ में मिलाया जा सकता था।

इस 'संयुक्त राजस्थान' में करौली और अलवर राज्य सम्मलित होने को तैयार हो गये लेकिन धौलपुर और भरतपुर राज्यों में कुछ हिचहिचाहट थी। कुछ मंत्रियों ने राजस्थान में सम्मिलित होने का पक्ष लिया तो कुछ ने भाषा के कारण संयुक्त प्रान्त में विलय का। भरतपुर के महाराजा ने यह स्पष्ट किया कि उसकी अधिकांश जनता संयुक्त राजस्थान में सम्मिलित होने के पक्ष में है। धौलपुर के महाराज राणा ने भी कहा कि अगर उसकी प्रजा संयुक्त राजस्थान में विलय के पक्ष में है तो उनका राज्य का संयुक्त राजस्थान में विलय होना चाहिये। रियासती विभाग ने इन दोनों राज्यों में जनमत का पता लगाने हेतु शंकरराव देव की अध्यक्षता में दो सदस्य, आर. के. सिधवा और प्रभु दयाल हिम्मतसिंहका की कमेटी अप्रैल 4, 1949 को नियुक्त की। इस कमेटी ने यह रिपोर्ट दी कि इन दोनों राज्यों की जनता का बहुमत संयुक्त प्रान्त के स्थान पर संयुक्त राजस्थान में सम्मिलित होना चाहता है। इस समिति ने यह भी सिफारिश की कि कुछ समय पश्चात् इन दोनों राज्यों की ज़नता को अपनी राय देने का अन्य अवसर भी दिया जायें। भारत सरकार ने इस कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और मत्स्य संघ को संयुक्त राजस्थान में मिलाने का निर्णय ले लिया। इस प्रकार नौ राज्यों को मिलाकर संयुक्त राजस्थान की स्थापना की गई। इस समय वी.पी. मेनन ने उदयपुर के दीवान एस.वी. रामामूर्ति से विचार-विमर्श किया। रियासती विभाग की नीति के अन्तर्गत उदयपुर अपना अलग अस्तित्व बनाये रखने का अधिकारी था। रियासती विभाग उस पर विलय के लिये दबाव नहीं डाल सकता था। संयुक्त राजस्थान में सम्मिलित होने वाले शासकों के आग्रह पर उदयपुर के संयुक्त राजस्थान में समिमलित होने के प्रश्न पर वी.पी. मेनन उदयपुर के दीवान से मिले। दीवान रामामूर्ति और उदयपुर के महाराणा ने रियासती विभाग के प्रस्ताव का विरोध किया और

यह तर्क दिया कि उदयपुर का पुराना राजवंश अपनी गौरवशाली परम्पराओ को त्याग कर भारत के मानचित्र पर अपना अस्तित्व समाप्त नही कर सकता। रामामूर्ति ने यह सुझाव दिया कि राजपूताना की दक्षिणी-पूर्वी रियासतों को उदयपुर में मिला दिया जाए। दक्षिण-पूर्वी राज्यों के शासको को यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं था।[94] मेवाड़ प्रजा-मण्डल ने उदयपुर के महाराणा और दीवान के विचारों का तीव्र विरोध किया। मेवाड़ प्रजामण्डल के प्रमुख नेता और सविधान निर्मात्री सभा के सदस्य माणिक्यलाल वर्मा ने कहा कि मेवाड़ की 20 लाख जनता के भाग्य का फैसला अकेले महाराणा और दीवान रामामूर्ति नहीं कर सकते। प्रजा मडल की यह स्पष्ट नीति है कि मेवाड़ अपना अस्तित्व समाप्त कर राजपूताना प्रान्त का अग बन जाए।[95]

मेवाड़ प्रजा-मण्डल ने अपने पत्र 'मेवाड़ प्रजा मण्डल पत्रिका' में सम्पादकीय लेखो मे पूर्ण शक्ति के साथ स्पष्ट किया कि आधुनिक युग मे मेवाड़ पृथक् इकाई के रूप मे विकास नहीं कर सकता । जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए उसे अविलम्ब सयुक्त राजस्थान मे सम्मिलित हो जाना चाहिये । लेकिन मेवाड़ सरकार अपने निश्चय को बदलने को तैयार नहीं थी। इस कारण रियासती विभाग ने उदयपुर के बिना सयुक्त राजस्थान राज्य के निर्माण का फैसला किया ।

सयुक्त राजस्थान मे कोटा सबसे बड़ी रियासत थी, अत रियासती विभाग ने निर्णय लिया कि नये राज्य के राजप्रमुख का पद कोटा के महाराव भीमसिह को दिया जाए। यह प्रस्ताव बूदी के महाराव बहादुरसिह को मान्य नही था । इसका कारण यह था कि वश परम्परा के अनुसार कोटा के महाराव बूदी के महाराव के छुटभैया थे । बूदी के महाराव ने उदयपुर जाकर महाराणा से प्रार्थना की कि यदि वे इस नये राज्य में सम्मिलित हो जाते है तो वे राजप्रमुख बन जायेंगे और उनकी कठिनाई का समाधान हो जायेगा । लेकिन उदयपुर के महाराणा का वही उत्तर था जो उन्होने रियासती विभाग भारत सरकार को दिया था। परिणामस्वरूप कोटा के महाराव को राजप्रमुख बनाने का प्रस्ताव बूँदी को स्वीकार करना पड़ा। इस राज्य में सम्मिलित होने वाली सभी रियासतो के शासको ने विलय पत्र (प्रसविदा) पर हस्ताक्षर कर दिये। बाँसवाड़ा के महारावल चन्द्रवीरसिह ने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करने मे हिचकिचाहट दिखाई । लेकिन अन्य शासकों की सलाह पर उन्होने विलय-पत्र पर यह कहते हुए हस्ताक्षर कर दिये कि " मैं अपने मृत्यु पत्र पर हस्ताक्षर कर रहा हू ।"

सयुक्त राजस्थान सघ का उद्घाटन वी एन गाडगिल ने मार्च 25, 1948 को किया तथा गोकुल लाल असावा को मुख्यमत्री बनाया गया । इस सघ का क्षेत्रफल 17,000 वर्ग मील, जनसख्या लगभग 24 00,000 और राजस्व दो करोड़ था । इस सघ के लिये एक सविधान भी तैयार किया गया। इसकी सविधान सभा के लिए 24 निर्वाचित सदस्य होने थे जो एक लाख जन सख्या पर एक सदस्य के अनुपात से चुने जाने थे । राजप्रमुख को चार सदस्य मनोनीत करने का अधिकार था जो विशेष हितो का प्रतिनिधित्व करें ।[96]

उदयपुर के महाराणा ने 23 मार्च को राजस्थान सघ में सम्मिलित होने की इच्छा व्यक्त की तथा सघ के उद्घाटन को स्थगित करने की प्रार्थना की । लेकिन उदयपुर राज्य किन शर्तों पर नये राज्य में सम्मिलित होगा यह तय नही हुआ था । कोटा के महाराव के सुझाव पर सभी तैयारियाँ पूर्ण हो जाने के कारण राजस्थान सघ का उद्घाटन 25 मार्च को हो गया। यह महत्वपूर्ण बात है कि अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद् के जनसख्या और वार्षिक आय के मापदण्डों के अनुसार मेवाड़ एकल्योग्य राज्य था।[97] इसलिये इस राज्य को विलय के लिये केन्द्र सरकार दबाव नहीं डाल सकती थी ।

महाराणा के विचारों में परिवर्तन का कारण था वहाँ की राजनैतिक परिस्थितियों में अन्तर। महाराणा की 6 मार्च 1948 की घोषणा के अनुसार मेवाड़ प्रजा

बनाया गया था। एक नई प्रसविदा तैयार की गई तथा अप्रैल 11, 1948 को शासको ने इस पर हस्ताक्षर किये। इसके अन्तर्गत नई शक्तियाँ राजप्रमुख को दी गई। सयुक्त राजस्थान मे उदयपुर, कोटा, बूदी, डूगरपुर, बासवाडा, कुशलगढ, प्रतापगढ, शाहपुरा, झालावाड, टोंक और किशनगढ सम्मिलित हुए। यह निश्चित किया गया कि उदयपुर के महाराणा राजप्रमुख, कोटा के महाराव वरिष्ठ उपराजप्रमुख तथा बूदी और डूगरपुर के शासक कनिष्ठ उपराजप्रमुख होगे। अप्रैल 18,1948 को पडित जवाहरलाल नेहरू ने राजस्थान सघ का उद्घाटन किया।[100] सयुक्त राजस्थान के उद्घाटन के अवसर पर जवाहरलाल नेहरू ने सरदार पटेल को लिखा कि माणिक्यलाल वर्मा मुख्यमत्री के पद की शपथ ग्रहण करने को तैयार नही थे क्योकि उन्हे भय है कि महाराणा कुछ सामन्तो को मत्री नियुक्त करेंगे। रियासती विभाग ने माणिक्यलाल वर्मा को नवनिर्मित सयुक्त राजस्थान की शासन व्यवस्था के सबध मे विचार विमर्श करने हेतु दिल्ली बुलाया। उसने उनको बताया कि राज्य के राजनैतिक कार्यकर्ताओ को प्रशासन का अनुभव नही है। इसलिये उनके मत्री मण्डल को सलाह देने के लिये प्रशासको की सलाहकार परिषद् बनाई जायेगी जिसने मेवाड के दीवान रामामूर्ति, वित्तमत्री डा मोहनसिह मेहता और राजपूताना के रीजनल कमीश्नर पी एस राव होंगे। रियासती विभाग ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मत्री मण्डल का कोई भी निर्णय उस समय तक क्रियान्वित नही होगा जब तक सलाहकार परिषद् उस निर्णय को स्वीकार नही कर ले। माणिक्यलाल वर्मा सलाहकार परिषद के इस अधिकार को स्वीकार करने को तैयार नही थे। उन्होंने रियासती विभाग को स्पष्ट रूप से बता दिया कि जिस नौकरशाही के विरुद्ध वे आजन्म लडे थे, उसका वर्चस्व वह स्वीकार नही करेंगे। माणिक्यलाल वर्मा सरदार पटेल से मिले तथा उन्हे स्पष्ट बता दिया कि रियासती विभाग द्वारा निश्चित प्रक्रिया के अनुसार सयुक्त राजस्थान का भार वे उठाने को तैयार नहीं है। मेवाड और अन्य रियासतो मे राजतन्त्र समाप्त हो चुका है और इसी के साथ प्रजामडल का उद्देश्य भी पूरा हो चुका है। अब भारत सरकार जैसे चाहे इस राज्य का शासन चलाए। वे तथा प्रजामण्डल के अन्य सदस्य बाहर रह कर ही जनता की सेवा करना पसन्द करेगे। सरदार पटेल माणिक्यलाल वर्मा की भावनाओ को समझ गये और उन्होंने सलाहकार परिषद बनाने के निर्णय को रद्द कर दिया। उन्होंने यह निश्चय किया कि सयुक्त राजस्थान के निर्माण के ऐतिहासिक महत्व को ध्यान मे रखते हुए स्वतन्त्र भारत के प्रधानमत्री जवाहरलाल नेहरू इस राज्य का उद्घाटन करेंगे।

माणिक्यलाल वर्मा ने उदयपुर लौट कर राजप्रमुख महाराणा भूपालसिह से मत्री-मण्डल निर्माण सम्बन्धी चर्चा की। उदयपुर के महाराणा ने माणिक्यलाल वर्मा से जागीरदारो को प्रतिनिधित्व देने का आग्रह किया। लेकिन उन्होने राजप्रमुख का सुझाव मानने से इन्कार कर दिया। जब जवाहरलाल नेहरू सयुक्त राजस्थान का उद्घाटन करने उदयपुर पहुँचे तब माणिक्यलाल वर्मा ने महाराणा से हुई अपनी वार्ता का जिक्र करते हुए नेहरू से कहा कि वे ऐसे किसी भी मत्रीमण्डल की अध्यक्षता करने को तैयार नहीं है जिसमे जागीरदारो का प्रतिनिधित्व हो। पण्डित जवाहरलाल नेहरु ने माणिक्यलाल वर्मा की बात का समर्थन किया तथा कहा था कि सिद्धान्तत इस सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय प्रधानमत्री का ही होगा। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने महाराणा के सलाहकार सर राममूर्ति को अपने विचारो से अवगत करवा दिया। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने माणिक्यलाल वर्मा को सलाह दी कि वे अपने पद की शपथ ले ले और अगर मत्री मण्डल के गठन में कोई कठिनाई उत्पन्न हो तो वे और सर राममूर्ति दिल्ली जाकर रियासती विभाग से सलाह कर लें। नेहरू की सलाह पर राजप्रमुख के साथ माणिक्यलाल वर्मा ने भी प्रधानमत्री के पद की शपथ ले ली।[101]

प्रधानमत्री का पद संभालने के पश्चात् माणिक्यलाल वर्मा दिल्ली गये और सरदार पटेल से मिले।

पण्डित जवाहर लाल नेहरू पहले ही सरदार पटेल को माणिक्यलाल वर्मा के विचारों से अवगत करा चुके थे । सरदार पटेल ने महाराणा को पत्र लिख कर सलाह दी और महाराणा ने माणिक्यलाल वर्मा द्वारा दी गई विशुद्ध प्रजामंडलीय सूची के अनुसार मन्त्रियों की नियुक्ति कर दी ।[102]

मंत्री-मण्डल निर्माण की समस्या को सुलझाने के तुरंत पश्चात् माणिक्यलाल वर्मा के सम्मुख एक और समस्या उत्पन्न हो गई । भगवतसिंह मेहता को नये प्रान्त का मुख्य सचिव तथा रामामूर्ति को राजप्रमुख का स्वयं का एवं संयुक्त राजस्थान का सलाहकार नियुक्त कर दिया गया था ।[103] अप्रैल 29 को वी. पी. मेनन उदयपुर आये और उन्होंने बगैर माणिक्यलाल वर्मा को विश्वास में लिये राजप्रमुख की इस बात को स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि रामामूर्ति ने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि राजप्रमुख के सलाहकार होने के कारण वे मंत्री-मण्डल से ऊपर हैं । माणिक्यलाल वर्मा ने पत्र लिख कर रामामूर्ति को सूचित कर दिया कि जो अधिकारी सरकार का सलाहकार होगा, वह मंत्री मण्डल के अधीन रह कर कार्य करेगा । राजप्रमुख को राज्य संबंधी कार्यों के लिये सलाह देने का दायित्व मंत्री-मण्डल का ही है। यदि सलाहकार जैसी अन्य एजेन्सी राजप्रमुख को सलाह देना प्रारम्भ कर देगी तो संयुक्त राजस्थान में दोहरा शासन आरम्भ हो जायेगा जो जनतन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। माणिक्यलाल वर्मा ने रामामूर्ति को यह भी लिखा कि वे प्रधानमंत्री के लिये आवंटित निवास स्थान खाली कर दें क्योंकि उनके लिये दूसरा स्थान आवंटित कर दिया गया है।[104] रामामूर्ति ने माणिक्यलाल वर्मा का पत्र राजप्रमुख के सम्मुख रखा । राजप्रमुख ने सरदार पटेल को लिखा कि रामामूर्त्रि की सलाहकार पद पर की गई नियुक्ति में किसी तरह का दखल नहीं होना चाहिये ।[105] सरदार पटेल के कहने पर माणिक्यलाल वर्मा ने अपना पत्र वापस ले लिया। सरदार पटेल ने महाराणा को लिखा कि निवास स्थान को प्रतिष्ठा का प्रश्न नहीं बनाना चाहिये। ऐसा लगता है कि रामामूर्ति बदले हुए हालात में अपने को नहीं ढाल पाये हैं। रामामूर्ति को स्पष्ट बता दिया जाए कि वह अपने व्यवहार में परिवर्तन करें अन्यथा इस बात की संभावना है कि उनकी गलतियों के कारण महाराणा और मंत्री-मण्डल के संबंध बिगड़ जायेंगे और महाराणा की प्रतिष्ठा को आँच पहुँचेगी । इस पत्र का प्रभाव यह पड़ा कि जब तक संयुक्त राजस्थान रहा तब तक न तो महाराणा ने न ही रामामूर्ति ने मंत्री-मण्डल के काम में दखल दिया।

रियासती विभाग प्रत्येक नये राज्य में एक या दो आई.सी.एस.अधिकारी मुख्य सचिव या सलाहकार के रूप में भेजा करता था। माणिक्यलाल वर्मा ने भगवतसिंह मेहता को मुख्य सचिव नियुक्त कर दिया। रियासती विभाग ने इस कार्य को पसन्द नहीं किया। उन्होंने कुछ समय पश्चात् एक वरिष्ठ आई.सी.एस. अधिकारी एल.सी. जैन को संयुक्त राजस्थान का मुख्य सचिव नियुक्त कर उदयुपर भेजा । यह अधिकारी कई दिनों तक अपनी रेलवे सैलून में उदयपुर के रेलवे स्टेशन पर ही रहा। उसे मुख्य सचिव का पदभार नहीं दिया गया । सरदार पटेल ने माणिक्यलाल वर्मा को दिल्ली बुलाया । उन्होंने पटेल को स्पष्ट रूप से बता दिया कि अगर उनकी इच्छा के विपरीत संयुक्त राजस्थान पर आई. सी. एस. अधिकारी थोपा गया तो उन्हें अन्य प्रधानमंत्री की तलाश करनी होगी । एल. सी. जैन को उदयपुर से जाना पड़ा। माणिक्यलाल वर्मा की मान्यता थी कि स्थानीय अधिकारी ही इस पद पर कार्य करें क्योंकि प्राचीन परम्पराओं से प्रभावित राजस्थानी रियासतों की परिस्थितियों और समस्याओं को वही सुलझा सकता है ।

संयुक्त राजस्थान के प्रथम चरण के पश्चात् भारत सरकार ने जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर की ओर ध्यान केन्द्रित किया। अखिल भारतीय देशी रियासत लोक परिषद् की राजपूताना प्रान्तीय सभा ने जनवरी 20, 1948 को प्रस्ताव पारित कर राजस्थान की सभी रियासतों को मिला कर वृहद् राजस्थान के निर्माण की मांग की । भारत सरकार के सम्मुख इस प्रस्ताव को व्यावहारिक स्वरूप देने के मार्ग में कुछ

कठिनाइयां थी। जोधपुर, जयपुर और बीकानेर जैसी रियासतें भारत सरकार के निर्धारित मापदण्डों के अनुसार अपना पृथक् अस्तित्व रख सकती थीं। इन तीनों देशी रियासतों के शासक इसी भ्रम में थे कि उनकी रियासतों के अस्तित्व को बनाये रखा जायेगा। लेकिन जब इनसे भी बड़ी रियासतों का भारत में विलिनीकरण कर दिया गया तब यहाँ के शासकों का वह भ्रम टूट गया तथा वे महसूस करने लगे कि उनकी रियासतों का भी विलिनीकरण किया जा सकता है। भारत के प्रथम गवर्नर जनरल लार्ड माउन्टबेटन जनवरी 7, 1948 को भारत सरकार की ओर से देशी शासकों को यह आश्वासन दे चुके थे कि विलय का सिद्धान्त बड़ी रियासतों पर लागू नहीं होगा। सरदार पटेल ने फरवरी 20, 1948 को बीकानेर के महाराजा को आश्वासन दिया कि बड़ी रियासतों का विलय तब ही किया जायेगा जब वहाँ की जनता और शासक विलय के पक्ष में होंगे।[106] इन्हीं दिनों राजपूताना के विभिन्न भागों में जागीरदार वर्ग सशस्त्र रैलियाँ निकाल कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे। इस वर्ग के बारे में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से भारत सरकार की यह धारणा बनती जा रही थी कि राजपूताना की रियासतो के एकीकरण से सामन्तवादी शक्तियो को सगठित होने का अवसर मिलेगा। बीकानेर, जोधपुर और जैसलमेर की सीमाएँ पाकिस्तान से मिली हुई तथा सदैव आक्रमण का भय बना रहता था। ये रियासतें थार के विशाल रेगिस्तान का अग थी। इस कारण भारत सरकार दुविधा मे थी कि इन रियासतो का विलय सयुक्त राजस्थान में किया जाए या एक अलग सीमान्त राज्य की स्थापना की जाए। जैसलमेर, बीकानेर और जोधपुर राज्यो की सात सौ मील सीमा पाकिस्तान की सीमा से मिली हुई थी। आर्थिक विकास इन रियासतो की सामर्थ्य के बाहर था। भारत सरकार की सहायता के बिना ये रियासते न तो आर्थिक विकास कर सकती थीं न ही अपनी सीमाओं को सुरक्षित रख सकती थीं। रियासती विभाग ने इन तीनों रियासतों को काठियावाड़ की रियासतों के साथ मिलाकर केन्द्र शासित राज्य बनाने की योजना बनाई।[107] मेनन के अनुसार इस योजना के मित्र कम थे और शत्रु अनेक। देशी रियासतों के शासको और जनता के नेताओ ने योजना का विरोध किया जिसके परिणामस्वरूप रियासती विभाग ने यह योजना त्याग दी।[108]

मई 1948 में मध्य भारत यूनियन का निर्माण हुआ जिसमें इन्दौर और ग्वालियर जैसी बड़ी और प्रभावशाली रियासतें सम्मलित हुईं। इसी बीच समाजवादी दल ने बृहद् राजस्थान के निर्माण का नारा दिया। उसने अखिल भारतीय स्तर पर 'राजस्थान आन्दोलन समिति' की स्थापना की। समाजवादी नेता जयप्रकाश नारायण ने नवम्बर 9 को उदयपुर की सभा में शीघ्र बृहद् राजस्थान के निर्माण की माग की। राजस्थान आन्दोलन समिति ने दिसम्बर 1 को दिल्ली मे अपनी बैठक में एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें कहा गया कि राजपूताना प्रदेश की रियासतों और अजमेर के विलय द्वारा अविलम्ब बृहद् राजस्थान का निर्माण करना चाहिये। समिति के अध्यक्ष राममनोहर लोहिया ने अपने वक्तव्य में जयपुर, बीकानेर, जैसलमेर और मत्स्य सघ को सयुक्त राजस्थान में मिलाकर भारतीय सघ को सुदृढ बनाने की माग की।[109] समाजवादियों की इन गतिविधियों से बृहद् राजस्थान के निर्माण की माग को बल मिला था।

रियासती विभाग के सचिव वी.पी मेनन ने जयपुर के दीवान वी टी कृष्णमाचारी और बीकानेर के दीवान सी एस वेंकटाचारी से बृहद् राजस्थान के निर्माण के सबध में विचार-विमर्श किया। इस बैठक में सर वी.टी. कृष्णमाचारी ने राजपूताना की सभी रियासतों की एक इकाई बनाने के सुझाव का विरोध किया। उनका मत था कि ऐसा करने से राजपूताना में राजपूतों का प्रभुत्व कायम हो जाएगा जो देश के हित में नहीं होगा। उन्होंने सुझाव दिया कि राजपूताना की रियासतों को तीन इकाइयों में विभाजित किया जाना चाहिये। पहली इकाई सयुक्त राजस्थान बना रहे, दूसरी इकाई जयपुर, अलवर, और करौली को विलय कर बनाई जाये तथा तीसरी इकाई जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर क।...

यूनियन के नाम से बनाई जायें। सर वी.टी.कृष्णमाचारी ने यह भी सुझाव दिया कि भरतपुर और धौलपुर रियासतों को उत्तरप्रदेश में मिला दिया जाये। वी.पी. मेनन और सी. एस. वेंकटाचारी का मत था कि जन भावना को देखते हुए राजपूताना की रियासतों की एक ही इकाई बनाने के अलावा कोई मार्ग नहीं है। उनका यह भी मत था कि समाजवादियों के आन्दोलनों से मजबूर होकर वृहद राजस्थान का निर्माण करना ही होगा।

दिसम्बर 1948 के प्रथम सप्ताह में सरदार पटेल की सहमति से वी. पी. मेनन ने जोधपुर, बीकानेर और जयपुर के शासकों से वृहद् राजस्थान के निर्माण के लिये विचार-विमर्श प्रारम्भ किया था। इन तीनों शासकों की आन्तरिक इच्छा थी कि वे अपनी रियासतों को पृथक् इकाई के रूप में रखें। बीकानेर के महाराजा ने अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा कि बीकानेर एक पृथक् इकाई के रूप में रहने का हकदार है तब उसे विलय के लिये क्यों दबाया जा रहा है?[110] लेकिन उदयपुर के राजस्थान संघ में सम्मिलित हो जाने से अब तीनों रियासतें अधिक समय तक स्वतन्त्र नहीं रह सकती थीं। जयपुर के अतिरिक्त अन्य रियासतों की सीमाएँ पाकिस्तान से जुड़ी हुई। ये रियासतें आर्थिक दृष्टिकोण से भी पिछड़ी हुई थीं। इन रियासतों के लोकनेता और संस्थाएँ इस समय इस प्रश्न पर चुप हो गई क्योंकि देश की सुरक्षा और पाकिस्तान के विरोधी रुख के जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों के सम्मुख एक राज्य की आन्तरिक शासन प्रणाली के लिये संघर्ष गौण हो गया था। अन्ततोगत्वा अनेक बैठकों के पश्चात् वी. पी. मेनन इन शासकों को विलय के मनवाने में सफल हो गये। विलय का मसविदा जयपुर के महाराजा और वी. टी. कृष्णमाचारी की देखरेख में तैयार किया गया। जनवरी 11, 1950 को बीकानेर और जयपुर के महाराजा को तार देकर सूचित कर दिया गया तथा दोनों ने विलय के लिए सहमति दे दी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् मोहम्मद अली जिन्ना का यह प्रयास था कि अधिकांश देशी रियासतें स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दें अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित हो जायें जिससे भारत संघ दुर्बल बन जाये। जिन्ना मारवाड़ (जोधपुर) की रियासत को पाकिस्तान में मिलवाना चाहता था। जोधपुर के शासक हनवन्त सिंह पाकिस्तान में सम्मलित होकर अपनी स्वतंत्रता का स्वप्न देख रहे थे। महाराजा उम्मेदसिंह ने 1946 में अपने दो प्रतिनिधि सी. एस. वेंकटाचारी और जयनारायण व्यास को विधान निर्मात्री परिषद् में भेजकर भारत में जोधपुर राज्य की विलय की सहमति दे दी थी। महाराजा हनवन्तसिंह भी जोधपुर राज्य को भारत संघ में मिलाने की स्वीकृति दो बार दे चुके थे। फिर भी वे अपनी रियासत को पाकिस्तान में मिलाकर स्वतंत्रता का स्वप्न देख रहे थे। महाराजा हनवन्तसिंह कांग्रेस विरोधी होने के कारण भारत सरकार के प्रति शंकालु थे।[111] वह भारत संघ में सम्मिलित होने के प्रस्ताव को स्वीकार करने के पश्चात् भी किसी न किसी तरीके से अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखना चाहते थे। अतः महाराजा हनवन्तसिंह धोलपुर के महाराजा के सहयोग से अगस्त 6, 1947 को दिल्ली में भोपाल के नवाब से मिले तथा इच्छा प्रकट की कि वे अपने राज्य के संबंध पाकिस्तान के साथ स्थापित करने हेतु जिन्ना से मिलना चाहते थे।[112] यह तथ्य भोपाल के नवाब के एक पत्र से स्पष्ट होता है जो उन्होंने वायसराय को लिखा था —

"6 अगस्त को महाराजा धौलपुर तथा अन्य दो राजाओं ने मुझे सूचना दी कि महाराजा जोधपुर उनसे मिलना चाहते है। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि मुझें उनसे मिल कर प्रसन्नता होगी। जब महाराजा मेरे पास आये तो मुझे कहा कि वे जिन्ना से शीघ्र मिलकर उनकी शर्तो का ब्यौरा जानना चाहते हैं।

"जिन्ना दिल्ली छोड़कर हमेशा के लिये कराची जाने वाले थे, इस वजह से अत्यन्त व्यस्त थे। फिर भी मैंने महाराजा के लिये साक्षात्कार का । हमें दोपहर बाद का समय दिया गया जिसकी सूचना महाराजा को दे दी गई। महाराजा पर तीसरे प्रहर आये और हम जिन्ना से मिलने

के लिये गये। इस साक्षात्कार के समय महाराजा ने जिन्ना से पूछा कि जो राजा पाकिस्तान से संबंध स्थापित करना चाहते है उनको वे क्या रियायतें देंगे। जिन्ना ने उत्तर दिया कि - 'मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि हम उन राज्यों से सन्धि करेंगे और उन्हें अच्छी शर्तें दे कर स्वतन्त्र राज्य की मान्यता देंगे।' इसके बाद महाराजा ने बन्दरगाह की सुविधा, रेलवे का अधिकार, अनाज तथा शस्त्रों के आयात के विषय में बातचीत की।[113]

"महाराजा हनवन्तसिंह जिन्ना से मुलाकात के समय अपने साथ जैसलमेर के महाराजकुमार को भी अपने साथ ले गये क्योंकि जोधपुर के समान जैसलमेर की सीमा पाकिस्तान से जुड़ी हुई थी। उन्हें देखकर जिन्ना प्रसन्न हुए क्योंकि यदि ये दो रियासतें पाकिस्तान में सम्मलित हो जायें तो अन्य रियासतें भी पाकिस्तान में शामिल हो जायेंगी। इसके साथ ही पंजाब और बंगाल के बंटवारे की कमी भी पूरी हो जायेगी। महाराजा हनवन्त सिंह ने जिन्ना से स्पष्ट पूछा कि पाकिस्तान विलय के पश्चात् उन्हें क्या रियायतें देंगें। जिन्ना ने महाराजा को कहा था कि वे जिन शर्तों पर पाकिस्तान में सम्मिलित होना चाहते है उन्हें लिखकर दे दें, वे हस्ताक्षर कर देंगे। इतना ही नहीं जिन्ना ने महाराजा को इस हेतु हस्ताक्षर युक्त खाली कागज स्वयं ही कलम सहित दे दिया।[115]

"जोधपुर महाराजा हनवन्तसिंह ने जैसलमेर के महाराजकुमार से प्रश्न किया कि 'क्या आप मेरा साथ देंगे?" जैसलमेर के महाराजकुमार ने उत्तर दिया कि वह 'एक शर्त पर हस्ताक्षर करने को तैयार हैं यदि उन्हें यह लिखित आश्वासन दिया जाये कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच कोई झगड़ा उत्पन्न हुआ तो उनकी रियासत को एकदम निष्पक्ष रहने दिया जायेगा वह हिन्दुओं के विरुद्ध मुसलमानों का पक्ष नहीं लेंगे। इस बातचीत के समय महाराजा हनवन्त सिंह ने यह महसूस किया कि एक हिन्दू शासक हिन्दू रियासत को मुसलमानों के साथ शामिल कर रहा है। इस बारे में वे और सोचना चाहते थे। वे तत्काल फैसला करने की स्थिति में नहीं थे। अत: उन्होंने जिन्ना से कहा कि वे जोधपुर जाकर अगले दिन अपने निर्णय से अवगत करायेंगे।"[116]

महाराजा हनवन्तसिंह ने भोपाल के नवाब के प्रभाव में आकर उदयपुर के महाराणा से पाकिस्तान में सम्मिलित होने का आग्रह किया। महाराणा भूपालसिंह ने जोधपुर के शासक को स्पष्ट कहा कि उनका पाकिस्तान में मिलना उचित नहीं है। जोधपुर और भारत के हित में यही उचित है कि वे भारत में सम्मिलित हों। महाराणा भूपालसिंह ने स्वयं के लिये कहा कि उनके पूर्वजों ने मुस्लिम राज्य के साथ होना या उसके अधीन होना कभी स्वीकार नहीं किया। मेवाड़ सदैव भारत के साथ रहा है। अत. पाकिस्तान के संबंध में विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। उदयपुर के महाराणा ने जोधपुर के शासक को पाकिस्तान में न मिलने के लिए पुन: विचार करने को मजबूर कर दिया।[117]

महाराजा हनवन्तसिंह जोधपुर की जनता की भावना को जानने के उद्देश्य से दिल्ली से जोधपुर आये। पाकिस्तान में सम्मिलित होने के प्रश्न पर जोधपुर का वातावरण दूषित तथा तनावपूर्ण हो चुका था। महाराजा हनवन्तसिंह ने यह महसूस किया कि जनमत, एक दो जागीरदारों को छोड़कर शेष जागीरदार, उच्च अधिकारी, सरदार तथा मुत्सद्दी जोधपुर के पाकिस्तान में विलय के विरुद्ध हैं। अगस्त 8, 1947 को महाराजा हनवन्तसिंह अपने गुरु स्वामी माधवानन्द को लेकर दिल्ली पहुंचे। यहाँ उन्होंने धौलपुर हाउस में भोपाल के नवाब से विचार-विमर्श किया किन्तु वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये।

भारत सरकार मोहम्मद अली जिन्ना तथा महाराजा हनवन्तसिंह की गतिविधियों के प्रति सतर्क थी। रियासती विभाग को इसकी पूर्ण जानकारी थी। वी. पी. मेनन को गुप्तचर विभाग से यह जानकारी मिली थी कि महाराजा हनवन्तसिंह 'इम्पीरियल होटल' में ठहरे हुए थे। वी. पी. मेनन ने

यूनियन के नाम से बनाई जायें। सर वी.टी.कृष्णमाचारी ने यह भी सुझाव दिया कि भरतपुर और धौलपुर रियासतों को उत्तरप्रदेश में मिला दिया जाये। वी.पी. मेनन और सी. एस. वेंकटाचारी का मत था कि जन भावना को देखते हुए राजपूताना की रियासतों की एक ही इकाई बनाने के अलावा कोई मार्ग नहीं है। उनका यह भी मत था कि समाजवादियों के आन्दोलनों से मजबूर होकर वृहद राजस्थान का निर्माण करना ही होगा।

दिसम्बर 1948 के प्रथम सप्ताह में सरदार पटेल की सहमति से वी. पी. मेनन ने जोधपुर, बीकानेर और जयपुर के शासकों से वृहद् राजस्थान के निर्माण के लिये विचार-विमर्श प्रारम्भ किया था। इन तीनों शासकों की आन्तरिक इच्छा थी कि वे अपनी रियासतों को पृथक् इकाई के रूप में रखें। बीकानेर के महाराजा ने अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहा कि बीकानेर एक पृथक् इकाई के रूप में रहने का हकदार है तब उसे विलय के लिये क्यों दबाया जा रहा है ?[110] लेकिन उदयपुर के राजस्थान संघ में सम्मिलित हो जाने से अब तीनों रियासतें अधिक समय तक स्वतन्त्र नहीं रह सकती थीं। जयपुर के अतिरिक्त अन्य रियासतों की सीमाएँ पाकिस्तान से जुड़ी हुई। ये रियासतें आर्थिक दृष्टिकोण से भी पिछड़ी हुई थीं। इन रियासतों के लोकनेता और संस्थाएँ इस समय इस प्रश्न पर चुप हो गई क्योंकि देश की सुरक्षा और पाकिस्तान के विरोधी रुख के जैसे महत्वपूर्ण प्रश्नों के सम्मुख एक राज्य की आन्तरिक शासन प्रणाली के लिये संघर्ष गौण हो गया था। अन्ततोगत्वा अनेक बैठकों के पश्चात् वी. पी. मेनन इन शासकों को विलय के मनवाने में सफल हो गये। विलय का मसविदा जयपुर के महाराजा और वी. टी. कृष्णमाचारी की देखरेख में तैयार किया गया। जनवरी 11, 1950 को बीकानेर और जयपुर के महाराजा को तार देकर सूचित कर दिया गया तथा दोनों ने विलय के लिए सहमति दे दी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् मोहम्मद अली जिन्ना का यह प्रयास था कि अधिकांश देशी रियासतें स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर दें अथवा पाकिस्तान में सम्मिलित हो जायें जिससे भारत संघ दुर्बल बन जाये। जिन्ना मारवाड़ (जोधपुर) की रियासत को पाकिस्तान में मिलवाना चाहता था। जोधपुर के शासक हनवन्त सिंह पाकिस्तान में सम्मलित होकर अपनी स्वतंत्रता का स्वप्न देख रहे थे। महाराजा उम्मेदसिंह ने 1946 में अपने दो प्रतिनिधि सी. एस. वेंकटाचारी और जयनारायण व्यास को विधान निर्मात्री परिषद् में भेजकर भारत में जोधपुर राज्य की विलय की सहमति दे दी थी। महाराजा हनवन्तसिंह भी जोधपुर राज्य को भारत संघ में मिलाने की स्वीकृति दो बार दे चुके थे। फिर भी वे अपनी रियासत को पाकिस्तान में मिलाकर स्वतंत्रता का स्वप्न देख रहे थे। महाराजा हनवन्तसिंह कांग्रेस विरोधी होने के कारण भारत सरकार के प्रति शंकालु थे।[111] वह भारत संघ में सम्मिलित होने के प्रस्ताव को स्वीकार करने के पश्चात् भी किसी न किसी तरीके से अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखना चाहते थे। अतः महाराजा हनवन्तसिंह धौलपुर के महाराजा के सहयोग से अगस्त 6, 1947 को दिल्ली में भोपाल के नवाब से मिले तथा इच्छा प्रकट की कि वे अपने राज्य के संबंध पाकिस्तान के साथ स्थापित करने हेतु जिन्ना से मिलना चाहते थे।[112] यह तथ्य भोपाल के नवाब के एक पत्र से स्पष्ट होता है जो उन्होंने वायसराय को लिखा था —

"6 अगस्त को महाराजा धौलपुर तथा अन्य दो राजाओं ने मुझे सूचना दी कि महाराजा जोधपुर उनसे मिलना चाहते है। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि मुझे उनसे मिल कर प्रसन्नता होगी। जब महाराजा मेरे पास आये तो मुझे कहा कि वे जिन्ना से शीघ्र मिलकर उनकी शर्तों का ब्यौरा जानना चाहते हैं।

"जिन्ना दिल्ली छोड़कर हमेशा के लिये कराची जाने वाले थे, इस वजह से अत्यन्त व्यस्त थे। फिर भी मैंने महाराजा के लिये साक्षात्कार का समय लिया। हमें दोपहर बाद का समय दिया गया जिसकी सूचना महाराजा को दे दी गई। महाराजा मेरे निवास स्थान पर तीसरे प्रहर आये और हम जिन्ना से मिलने

के लिये गये । इस साक्षात्कार के समय महाराजा ने जिन्ना से पूछा कि जो राजा पाकिस्तान से सबंध स्थापित करना चाहते है उनको वे क्या रियायतें देंगे। जिन्ना ने उत्तर दिया कि - 'मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ कि हम उन राज्यों से सन्धि करेंगे और उन्हें अच्छी शर्तें दे कर स्वतन्त्र राज्य की मान्यता देंगे।' इसके बाद महाराजा ने बन्दरगाह की सुविधा, रेलवे का अधिकार, अनाज तथा शस्त्रों के आयात के विषय में बातचीत की।[113]

"महाराजा हनवन्तसिंह जिन्ना से मुलाकात के समय अपने साथ जैसलमेर के महाराजकुमार को भी अपने साथ ले गये क्योंकि जोधपुर के समान जैसलमेर की सीमा पाकिस्तान से जुड़ी हुई थी । उन्हें देखकर जिन्ना प्रसन्न हुए क्योंकि यदि ये दो रियासतें पाकिस्तान मे सम्मिलित हो जायें तो अन्य रियासतें भी पाकिस्तान में शामिल हो जायेगी । इसके साथ ही पजाब और बगाल के बटवारे की कमी भी पूरी हो जायेगी । महाराजा हनवन्त सिंह ने जिन्ना से स्पष्ट पूछा कि पाकिस्तान विलय के पश्चात् उन्हें क्या रियायतें देंगे । जिन्ना ने महाराजा को कहा था कि वे जिन शर्तो पर पाकिस्तान में सम्मिलित होना चाहते है उन्हें लिखकर दे दें, वे हस्ताक्षर कर देंगे । इतना ही नहीं जिन्ना ने महाराजा को इस हेतु हस्ताक्षर युक्त खाली कागज स्वय ही कलम सहित दे दिया ।[115]

"जोधपुर महाराजा हनवन्तसिंह ने जैसलमेर के महाराजकुमार से प्रश्न किया कि 'क्या आप मेरा साथ देंगे?" जैसलमेर के महाराजकुमार ने उत्तर दिया कि वह 'एक शर्त पर हस्ताक्षर करने को तैयार है यदि उन्हें यह लिखित आश्वासन दिया जाये कि हिन्दू और मुसलमानो के बीच कोई झगड़ा उत्पन्न हुआ तो उनकी रियासत को एकदम निष्पक्ष रहने दिया जायेगा वह हिन्दुओ के विरुद्ध मुसलमानो का पक्ष नहीं लेंगे। इस बातचीत के समय महाराजा हनवन्त सिंह ने यह महसूस किया कि एक हिन्दू शासक हिन्दू रियासत को मुसलमानो के साथ शामिल कर रहा है । इस बारे मे वे और सोचना चाहते थे । वे तत्काल फैसला करने की स्थिति में नहीं थे । अत उन्होने जिन्ना से कहा कि वे जोधपुर जाकर अगले दिन अपने निर्णय से अवगत करायेंगे ।"[116]

महाराजा हनवन्तसिंह ने भोपाल के नवाब के प्रभाव में आकर उदयपुर के महाराणा से पाकिस्तान में सम्मिलित होने का आग्रह किया । महाराणा भूपालसिंह ने जोधपुर के शासक को स्पष्ट कहा कि उनका पाकिस्तान में मिलना उचित नहीं है। जोधपुर और भारत के हित में यही उचित है कि वे भारत में सम्मिलित हों । महाराणा भूपालसिंह ने स्वय के लिये कहा कि उनके पूर्वजों ने मुस्लिम राज्य के साथ होना या उसके अधीन होना कभी स्वीकार नहीं किया। मेवाड़ सदैव भारत के साथ रहा है । अत पाकिस्तान के सबंध में विचार करने का प्रश्न ही नहीं उठता । उदयपुर के महाराणा ने जोधपुर के शासक को पाकिस्तान में न मिलने के लिए पुन विचार करने को मजबूर कर दिया ।[117]

महाराजा हनवन्तसिंह जोधपुर की जनता की भावना को जानने के उद्देश्य से दिल्ली से जोधपुर आये। पाकिस्तान में सम्मिलित होने के प्रश्न पर जोधपुर का वातावरण दूषित तथा तनावपूर्न हो चुका था। महाराजा हनवन्तसिंह ने यह महसूस किया कि जनमत, एक दो जागीरदारो को छोड़कर शेष जागीरदार, उच्च अधिकारी, सरदार तथा मुत्सद्दी जोधपुर के पाकिस्तान में विलय के विरुद्ध हैं । अगस्त 8, 1947 को महाराजा हनवन्तसिंह अपने गुरु स्वामी माधवानन्द को लेकर दिल्ली पहुचे । वहाँ उन्होने धौलपुर हाऊस में भोपाल के नवाब से विचार-विमर्श किया किन्तु वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये ।

भारत सरकार मोहम्मद अली जिन्ना तथा महाराजा हनवन्तसिंह की गतिविधियों के प्रति सतर्क थी । रियासती विभाग को इसकी पूर्ण जानकारी थी । वी पी. मेनन को गुप्तचर विभाग से यह जानकारी मिली थी कि महाराजा हनवन्तसिंह 'इम्पीरियल होटल' में ठहरे हुए थे । [illegible] महाराजा को

लेकर वायसराय भवन गये। वायसराय माउन्टबेटन को महाराजा के पाकिस्तान में मिलने और जिन्ना की राजपूत रियासतों को हड़पने की नीति की जानकारी थी। उन्होंने महाराजा से अनुरोध किया कि वह पाकिस्तान में नहीं मिलें।[119] माउन्टबेटन ने महाराजा से स्पष्ट शब्दों में कहा कि वह पाकिस्तान में मिलने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं लेकिन इस पर विचार करलें कि एक हिन्दू बहुमत वाली रियासत के हिन्दू शासक की हैसियत से वे इस सिद्धान्त का उल्लंघन कर रहे हैं कि भारत को मुस्लिम और गैर-मुस्लिम हिस्सों में बांटा जा रहा है। पाकिस्तान के सम्मिलित होने पर जोधपुर की जनता में साम्प्रदायिक प्रतिक्रिया हो सकती है। मारवाड़ में शक्तिशाली आन्दोलन चल रहा है। इन सबका परिणाम कुछ भी हो सकता है।[120] महाराजा ने उत्तर दिया कि पाकिस्तान में सम्मिलित होने के लिये जिन्ना ने शर्तें लिखने के लिये सादा कागज उनके सामने रख दिया था। महाराजा ने प्रश्न किया कि मुझे भारतीय संघ में मिलने के लिये आप क्या देंगे ? मेनन ने अपने उत्तर में कहा कि सादा कागज तो वे भी दे सकते हैं लेकिन वादों के अतिरिक्त उनके हाथ कुछ नहीं आयेगा।

आरम्भ में जोधपुर के शासक हनवन्तसिंह ने भारत सरकार के रियासती मंत्रालय से यह मांग की कि सीमान्त रियासत होने के कारण जोधपुर रियासत को अस्त्र-शस्त्र रखने तथा बनाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये तथा जागीरदारों को भी यह अधिकार मिलना चाहिये। सरदार पटेल ने महाराजा की इस मांग को अस्वीकार कर दिया था।[121] अगस्त 8, 1947 को माउन्टबेटन ने भारत-सचिव को एक पत्र लिखा था जिससे यह प्रतीत होता है कि जोधपुर के महाराजा इन रियायतों को पाने और स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिये प्रयत्लशील थे। माउन्टबेटन ने लिखा —'धौलपुर महाराजा ने जोधपुर महाराजा को दबाया कि वे भारत संघ में सम्मिलित न हों तथा जोधपुर महाराजा को जिन्ना के पास ले जाया गया। भोपाल के नवाब तथा नवाब के संवैधानिक सलाहकार जफरुल्ला खाँ की उपस्थिति में जिन्ना ने यह कहा, यदि महाराजा 15 अगस्त को अपने राज्य को स्वतन्त्र घोषित कर दें तो इन्हें ये रियायतें दी जाएं—

(1) कराची बन्दरगाह की सभी सुविधाएं जोधपुर राज्य को दी जाएंगी।
(2) जोधपुर राज्य को शस्त्रों का आयात करने दिया जायेगा।
(3) जोधपुर - हैदराबाद सिन्ध रेलवे पर जोधपुर का अधिकार होगा।
(4) जोधपुर राज्य के अकाल ग्रस्त जिलों के लिये अनाज उपलब्ध कराया जायेगा।[122]

परन्तु राजपरिवार, सामन्तों और सरदारों के पाकिस्तान में विलय के विरोध करने पर अंगीकार-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं हुए। सरदार पटेल जोधपुर जैसी बड़ी और हिन्दू बहुमत वाली रियासत को हाथ से नहीं निकलने दे सकते थे। वे किसी भी मूल्य पर जोधपुर को स्वतन्त्र अथवा पाकिस्तान से संबंधित नहीं देखना चाहते थे। उन्होंने जोधपुर के महाराजा की शर्तें स्वीकार कर लीं कि जोधपुर रियासत के महाराजा—

(1) बिना किसी रुकावट के शस्त्रों का आयात कर सकेंगे।
(2) राज्य के अकालग्रस्त जिलों को खाद्यान्न की पूर्ति की जायेगी। इसके लिए आवश्यक हुआ तो भारत के अन्य क्षेत्रों की अवहेलना की जायेगी।
(3) महाराजा द्वारा जोधपुर रेलवे लाइन को कच्छ राज्य के बन्दरगाह तक मिलाने में कोई रुकावट पैदा नहीं की जायेगी।[123]

महाराजा हनवन्तसिंह पटेल के इन आश्वासनों से सन्तुष्ट हो गये तथा उन्होंने निश्चय किया कि वे तथा उनकी रियासत भारत संघ में ही रहेंगे।[124] वी. पी. मेनन ने भारत सरकार की ओर से अगस्त 11, 1947 को अपने पत्र द्वारा महाराजा हनवन्तसिंह को आश्वासन दिया कि —

(1) भारत सरकार जोधपुर से कच्छ तक के रेल मार्ग निर्माण को सर्वोच्च प्राथमिकता देने को तैयार

तथा उन्हें वे सभी सम्मान प्राप्त हों जो जयपुर के महाराजा को प्रदान किये जायेंगे। यह भी तय किया गया कि जोधपुर और कोटा के शासक वरिष्ठ उपराजप्रमुख होंगे तथा बूंदी और डूंगरपुर के शासक कनिष्ठ उपराजप्रमुख। इनका कार्यकाल पांच वर्ष का होगा। यह भी निर्णय लिया गया कि बीकानेर का प्रिवीपर्स 17 लाख प्रतिवर्ष, जोधपुर का 17.5 लाख प्रति वर्ष और जयपुर का 18 लाख प्रति वर्ष होगा। जयपुर के शासक को इसके अतिरिक्त राजप्रमुख के पद के कारण 5.5 लाख रुपये प्रति वर्ष भत्ते के रूप में अतिरिक्त दिये जायेंगे।[130]

राजधानी के सम्बन्ध में भारत सरकरार ने तीन विशेषज्ञों की जांच समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने विभिन्न रियासतों का अध्ययन किया और वहाँ के प्रमुख नागरिकों से विचार-विमर्श किया। इस समिति ने सरदार पटेल के सम्मुख अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की तथा यह सिफारिश की कि राजस्थान संघ की राजधानी के लिये जयपुर ही सबसे उपयुक्त स्थान है।

मत्स्य संघ के निर्माण के समय वहां के शासकों को स्पष्ट बता दिया गया था कि राजस्थान संघ के निर्माण पर मत्स्य संघ को उसमें मिला दिया जायेगा। मत्स्य संघ की रियासतों में इस प्रश्न पर मतभेद था। अलवर और करौली राजस्थान संघ में मिलना चाहते थे जबकि भरतपुर और धौलपुर भाषा के आधार पर संयुक्त प्रान्त में मिलना चाहते थे। मई 10 को इन चारों शासकों की बैठक दिल्ली में बुलाई गई जिसमें राजस्थान के राजप्रमुख और प्रधानमंत्री को भी आमंत्रित किया गया। इन चारों शासकों ने राजस्थान संघ में शामिल होने के समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये तथा राजस्थान के राजप्रमुख ने राजस्थान संघ की ओर से इस पर हस्ताक्षर किए।

मार्च 1948 में गुजरात के शासक अपनी रियासतों को बम्बई प्रान्त में सम्मिलित करने को तैयार हो गये। सिरोही को इस वार्ता से बिल्कुल अलग रखा गया क्योंकि वहां का शासक नाबालिग था तथा वहाँ के शासन प्रबन्ध की देखभाल दोवागढ की महारानी की अध्यक्षता में रिजेन्सी काउँसिल कर रही थी। उत्तराधिकार के प्रश्न पर भी विवाद था। सिरोही राजपूताने की अन्य रियासतों के समान 'राजपूताना एजेन्सी' के अन्तर्गत आती थी। देश की स्वतन्त्रता के कुछ समय पश्चात् रियासती विभाग ने सिरोही को 'राजपूताना एजन्सी' से हटा कर 'वेस्टर्न इण्डिया एण्ड गुजरात स्टेट्स एजेन्सी' के अधीन कर दिया था। सिरोही की जनता ने रियासती विभाग के निर्णय का विरोध किया। उनका मत था कि सिरोही राजस्थान की है और राजस्थान की ही रहेगी। सिरोही को गुजरात के साथ मिलाना अप्राकृतिक है। रियासती विभाग के इस निर्णय को जनतन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध बताया गया।[131] सिरोही के वकील संघ ने भी सिरोही को राजस्थान संघ में मिलाने की मांग का समर्थन किया।[132]

जब गुजरात की रियासतों ने बम्बई में मिलने का निर्णय लिया तब सिरोही को अलग छोड़ दिया गया। गोकुल भाई भट्ट दोवागढ़ महारानी के सिर्फ सलाहाकार ही नहीं बल्कि राजस्थान कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष भी थे। वी. पी. मेनन ने उनसे यह पूछा कि सिरोही को बम्बई राज्य में मिलाया जाय या राजस्थान संघ में ? गोकुलभाई भट्ट ने कहा कि सिरोही के भाग्य के विषय में इस समय निर्णय करना उचित नहीं है, इसलिये उसे केन्द्र शासन के अन्तर्गत ले लिया जाये। इसलिये भारत सरकार ने नवम्बर 8, 1948 को एक समझौते के अन्तर्गत सिरोही को केन्द्र शासित बना दिया। दो माह पश्चात् जनवरी 5, 1949 को भारत सरकार ने सिरोही को अपनी ओर से शासन चलाने के लिये बम्बई को सौंप दिया।[133]

गुजराती समाज चाहता था कि सिरोही का विलय बम्बई में हो जबकि राजपूताना की जनता के प्रतिनिधि सिरोही को राजस्थान में सम्मिलित करना चाहते थे। गुजराती यह दावा पेश कर रहे थे कि माउन्ट आबू परम्परा तथा इतिहास की दृष्टि से गुजराती सभ्यता से जुड़ा है। माउन्ट आबू के प्रसिद्ध जैन

मंदिर देलवाड़ा में प्रत्येक वर्ष गुजरात के काठियावाड़ की जैन जनता जाती है। अतः सिरोही राजस्थान की अपेक्षा गुजरात से अधिक जुड़ा हुआ है। राजपूताना के जननेता इन तर्कों का कड़ा विरोध कर रहे थे। वे ये तर्क दे रहे थे कि सिरोही की अधिकांश जनता गुजराती नहीं राजस्थानी भाषा बोलती है। राजपूताना के अनेक शासकों ने गर्मियों में अपने निवास हेतु अनेक विशाल भवनों का निर्माण आबू में किया है। राजस्थान में माउन्ट आबू ही एक मात्र पहाड़ी स्थान है। सिरोही की जनता और वहाँ के नेता विलय के प्रश्न पर एक मत नहीं थे। स्थिति का अध्ययन करने तथा सिरोही के नेताओं से विचार विमर्श करने के पश्चात् मेनन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सिरोही का बम्बई में विलय करना उचित नहीं होगा।

हीरालाल शास्त्री ने अप्रैल 10, 1948 को सरदार पटेल को तार भेजा जिसमें उन्होंने लिखा 'यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उदयपुर संयुक्त राजस्थान में सम्मिलित हो रहा है। इससे सिरोही का राजस्थान में शामिल होना और भी अवश्यम्भावी हो गया है। हमारे लिये सिरोही का अर्थ है गोकुल भाई। बगैर गोकुल भाई के हम राजस्थान को नही चला सकते।''[134] हीरालाल शास्त्री ने अप्रैल 14 को लिखा 'हम लोग कोई कारण नहीं देखते कि क्षण मात्र के लिये भी सिरोही को राजस्थान के बजाय रियासतो के किसी अन्य समूह में मिलाने की दिशा में सोचा जा सकता है। इस प्रश्न पर मैं आपसे निवेदन करना चाहूँगा कि आप राजस्थान की जनता की भावना को अनदेखी ना करें। मुझे विश्वास है कि आप हमारी सर्वसम्मत प्रार्थना को स्वीकार कर हमारी सहायता करेंगे।''[135]

संयुक्त राजस्थान के उद्घाटन के अवसर पर 18 अप्रैल 1948 को राजपूताने के कार्यकर्त्ताओं का शिष्टमण्डल जवाहरलाल नेहरू से उदयपुर में मिला। इस शिष्टमण्डल ने सिरोही के संबंध में जनता की भावनाओं से उन्हें अवगत कराया। जवाहरलाल नेहरू ने दिल्ली लौटते ही सरदार पटेल को सिरोही के प्रश्न पर कार्यकर्त्ताओं के रोष की जानकारी देते हुए लिखा 'मुझसे बार-बार कहा गया कि गत 300 वर्षो से भाषा और अन्य प्रकार से सिरोही राजस्थान प्रदेश का अंग रहा है। अतः उसे राजस्थान में मिलाना चाहिये। मैंने उनसे कहा कि मुझे इस विषय के विभिन्न पहलुओं की जानकारी नहीं है। अतः मैं इस संबंध में कुछ कहने की स्थिति में नही हूँ। साधारणतया जहाँ मतभेद हो वहाँ जनता की राय ही मान्य होनी चाहिये।'[136]

पण्डित नेहरू के पत्र का उत्तर देते हुए सरदार पटेल ने 22 अप्रैल 1948 को लिखा 'सिरोही के संबंध में मेरी इन लोगों से कई बार बातचीत हुई है। सभी संबंधित मुद्दों पर विचार करने के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि सिरोही गुजरात को जाना चाहिये। उन्हें सिरोही नहीं चाहिये। उन्हें तो गोकुल भाई भट्ट चाहिये। उनकी यह मांग सिरोही को राजस्थान को दिये बिना ही पूरी की जा सकती है'।[137] सरदार पटेल ने चतुराई से सिरोही राज्य का विभाजन कर दिया जिसे सिरोही के नेताओं ने कुछ हिचकिचाहट के पश्चात् स्वीकार कर लिया। इस विभाजन के अनुसार आबूरोड और देलवाड़ा तहसील को जनता की भावनाओं के विरुद्ध बम्बई में और गोकुल भाई सहित शेष राज्य को राजस्थान में मिला दिया गया।

इस निर्णय के विरुद्ध सिरोही में आन्दोलन आरम्भ हो गया। इस आन्दोलन में गोकुलभाई भट्ट और बलवन्त सिंह मेहता ने महत्वपूर्ण भाग लिया। राजपूताना प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष जयनारायण व्यास ने भारत सरकार के इस निर्णय पर आपत्ति प्रकट की और कहा कि सिरोही की जनता रियासत के बम्बई में विलय के विरुद्ध है। कुंवर जसवन्तसिंह ने कहा कि विभाजन करके राजस्थान के साथ बड़ा अन्याय किया गया है। इस रियासत का मामला अन्य रियासतों के समान भी नहीं है क्योंकि उसका राजा अल्पवयस्क।[138] राजबहादुर ने कहा कि आबू पर्वत ही विवाद की जड़ है जो राजस्थान का एक

मात्र सुन्दर पहाड़ी स्थान है । अतः यह स्पष्ट किया जाना चाहिये कि आबू बम्बई में रहेगा या राजस्थान में ।[139] सरदार पटेल ने इन प्रश्नों का स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि राजस्थान के कुछ प्रतिनिधि यह मानते है कि आबू पर्वत एक सुन्दर स्थान है, इसलिये राजस्थान का उस पर अवश्य अधिकार होना चाहिये । किन्तु भारत में सुन्दर स्थान बहुत से है इसलिये इसी आधार पर किसी का दावा उस पर निश्चित नहीं हो सकता । यदि राजस्थान के लोग सिरोही का विभाजन नहीं चाहते तो समस्त सिरोही को बम्बई में मिला दिया जायेगा ।[140] पटेल के इस स्पष्टीकरण के बावजूद सिरोही के प्रश्न पर आन्दोलन शान्त नहीं हुआ। भारत सरकार द्वारा अपने निर्णय पर पुनः विचार करने का आश्वासन देने पर ही आन्दोलन समाप्त हुआ था।

इस संघ के निर्माण के साथ ही अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हो गये । लेकिन पटेल ने अपनी कार्यकुशलता से उन प्रश्नों को समाप्त कर दिया । राजस्थान के प्रधानमंत्री की नियुक्ति का प्रश्न सबसे अधिक महत्वपूर्ण था । जयपुर के हीरालाल शास्त्री इस पद के उम्मीदवार थे । उन्होंने प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष गोकुल भाई भट्ट के सहयोग से पटेल को आश्वस्त कर दिया कि वही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो राजस्थान का प्रशासन कुशलता से चला सकते हैं। दूसरी ओर राजस्थान प्रदेश कांग्रेस के आम कार्यकर्त्ता जयनारायण व्यास को प्रधान मंत्री बनाने के पक्ष में थे । रियासती विभाग जयनारायण व्यास के पक्ष में नहीं था। रियासती विभाग जयनारायण व्यास तथा उनके सहयोगी मथुरादास माथुर और द्वारकादास पुरोहित के विरुद्ध आरोपों को लेकर मुकदमा चलाने की तैयारी कर रहा था । माणिक्यलाल वर्मा ने स्पष्ट कह दिया था कि वे भविष्य में कोई सरकारी पद ग्रहण नहीं करेंगे । इस राजनैतिक स्थिति में जयनारायण व्यास और माणिक्यलाल वर्मा ने गोकुल भाई भट्ट का नाम सुझाया । रियासती विभाग ने इस सुझाव को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट कर दिया कि वो हीरालाल शास्त्री को ही इस पद के लिये उपयुक्त मानता है। राजस्थान प्रदेश कांग्रेस समिति ने अपनी दिल्ली की बैठक में रियासती विभाग के निर्णय का डटकर विरोध किया। लेकिन नेतृत्व को इस बैठक में हीरालाल शास्त्री को प्रधानमंत्री बनाने संबंधी प्रस्ताव पारित करवाने में सफलता प्राप्त हो गई थी ।[141]

जयपुर के महाराजा वृहद् राजस्थान के निर्माण संबंधी वार्ता में भाग लेने के लिये दिल्ली प्रस्थान करने वाले थे कि एक वायुयान दुर्घटना में फंस गये । उनका वायुयान जलकर राख हो गया तथा वे गम्भीर रूप से घायल हो गये । इससे बृहद् राजस्थान के निर्माण में विलम्ब हुआ । जब बृहद् राजस्थान के निर्माण का निर्णय हो गया तब सरदार पटेल मार्च 29, 1948 की शाम को एक विशेष वायुयान द्वारा जयपुर के लिये रवाना हुए। वायुयान में खराबी हो गई लेकिन चालक की होशियारी के कारण जयपुर से कुछ किलोमीटर दूर एक शुष्क नदी में कुशलता से उतार दिया। जयपुर के महाराजा , वी. पी. मेनन और राजस्थान के नेता सरदार पटेल का इन्तजार कर रहे थे । सरदार पटेल और उनका दल रात्रि को 10 बजे जयपुर पहुंचा । मार्च 30, 1948 को सरदार पटेल ने राजस्थान राज्य का उद्घाटन किया। इस ऐतिहासिक अवसर पर जयनारायण व्यास और माणिक्यलाल वर्मा को आमन्त्रित किया गया। इन नेताओं ने समारोह स्थल पर यह पाया कि उनके बैठने की व्यवस्था सामन्तों और अधिकारियों से पीछे की गई है। परिणामस्वरूप विभिन्न रियासतों से आये नेताओं और कार्यकर्त्ताओं ने उद्घाटन समारोह का बहिष्कार किया। इन बहिर्गमन करने वाले नेताओं पर दोषारोपण किया गया कि उन्होंने गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार किया था ।

अब तक स्वतन्त्र भारत में जो संघ बने थे राजस्थान उनमें सबसे बड़ा था । इसका क्षेत्रफल 1,28,429 वर्गमील, जनसंख्या लगभग 153 लाख और वार्षिक राजस्व 18 करोड़ था ।[142] प्रदेश कांग्रेस समिति ने सर्वसम्मति से हीरालाल शास्त्री को नेता चुना था। मार्च 30, 1949 को उन्हें प्रधानमंत्री पद की शपथ दिलवाई गई। इस अवसर पर सरदार पटेल ने टिप्पणी की थी कि 'अगर तुमने सच्चे कांग्रेसी

जैसा व्यवहार किया तो स्वयं जनता उन्हें आगे धकेल देगी, उन्हें किसी पद या शक्ति के लिये ऐसा पीटना नहीं चाहिये।' उन्होंने यह भी कहा कि 'मैं उन्हें मुबारकबाद देता हूँ परन्तु जब मैं उनके कन्धों पर पड़े उत्तरदायित्व को देखता हूँ तो मुझे दया आती है। भगवान इनकी सहायता करे और इनको शक्ति प्रदान करें।'[143]

हीरालाल शास्त्री के मंत्री-मण्डल में उनके अतिरिक्त नौ मंत्री थे।[144] जयपुर के महाराजा सवाई मानसिंह को राजप्रमुख और कोटा के महाराव भीमसिंह को उपराजप्रमुख नियुक्त किया गया, डी आर प्रधान को राज्य सरकार का परामर्शदाता और आरम्भिक अवस्था मे मुख्य सचिव का काम भी सौंपा गया। उसी दिन राजप्रमुख ने राजस्थान यूनियन आर्मी के सर्वोच्च पद को भी ग्रहण किया।

भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात राज्यों के पुनर्गठन की माँग वर्ष प्रतिवर्ष जोर पकड़ रही थी। 1954 में भारत सरकार ने एक उच्चस्तरीय आयोग की नियुक्ति की तथा उसे विभिन्न प्रान्तों की सीमाओं के पुनर्गठन का कार्य सौंपा गया।[145] इस कमीशन ने सभी प्रान्तों को सूचित किया कि अप्रैल 24 1954 तक वे पुनर्गठन के प्रश्न पर विचार प्रस्तुत करें। राजस्थान सरकार ने अपने विचार इस कमीशन के सम्मुख रखे। यह कहा गया कि राजस्थान का निर्माण ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। इस प्रान्त के सम्पूर्ण भू भाग में गंगानगर से बाँसवाड़ा और जैसलमेर से धौलपुर तक एक ही प्रकार की भावना, परम्परा और संस्कृति है। कुछ साधारण परिवर्तनों के अतिरिक्त, जो प्रशासनिक कारणों की वजह से जरूरी है प्रान्त की सीमाओं में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। सुरक्षा और प्रशासनिक कुशलता यहाँ की भाषा सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और परम्पराओं पर निर्भर नहीं करती बल्कि प्रान्त के आर्थिक और औद्योगिक विकास पर निर्भर करती है इसलिए प्रान्त की आर्थिक स्थिति और संचार के साधनों पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।[146]

अजमेर का विलिनीकरण नही हुआ था। यह राजस्थान के मध्य स्थित था, चारों ओर से राजस्थान से घिरा हुआ था तथा राजस्थान को दो भागों में बाट रहा था। इसका क्षेत्रफल 2,417 वर्ग मील तथा इसकी जनसंख्या 7 लाख थी। इस छोटे से राज्य का प्रशासन बगैर केन्द्र की आर्थिक सहायता के नही चलाया जा सकता था। इसकी राजस्थान मे विलय की माग जोरों पर थी। कुछ स्वार्थों की वजह से लोग इसे अलग राज्य रखने के पक्ष मे थे। लेकिन यह राज्य केन्द्र सरकार पर स्थायी बोझ था। इसका कोई उचित स्पष्टीकरण नहीं था कि इसका चारों ओर घेरे हुए प्रदेश से भिन्न प्रशासन क्यो हो। भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और भाषा सभी दृष्टिकोण से अजमेर राजस्थान का एक भाग था। ब्रिटिश राज्य में यह प्रान्त केन्द्र सरकार के अधीन इसलिये रखा गया था जिससे राजस्थान में ब्रिटिश सर्वोच्चता को बनाये रखा जा सके। अब परिस्थितियाँ बदल चुकी थी। राजपूताना की रियासतों को मिलाकर राजस्थान संघ बनाया जा चुका था। इस स्थिति में उसे अलग रखने का कोई अर्थ नहीं था।

राजस्थान सरकार अजमेर के विलय के प्रश्न पर भारत सरकार से समय समय पर पत्र-व्यवहार कर रही थी।[147] राजस्थान सरकार को यह आश्वासन दिया जा रहा था कि अजमेर में संविधान सभा और लोकप्रिय मंत्रीमण्डल की स्थापना का अर्थ यह नहीं है कि उसे राजस्थान में नहीं मिलाया जायेगा। भारत सरकार छोटे राज्यों के नजदीक के प्रान्तों में विलिनीकरण करने पर गम्भीरता से विचार कर रही है।

1952 के आम चुनावों के पश्चात् अजमेर में हरिभाऊ उपाध्याय के नेतृत्व में कांग्रेस मंत्री-मण्डल बन गया था। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अजमेर के नेताओं के इस तर्क को कि प्रशासन की दृष्टि से छोटे राज्य को बनाये रखना उचित है, स्वीकार नहीं किया और सिफारिश की कि अजमेर और माउन्ट आबू को राजस्थान मे मिला दिया जावे। राजस्थान निर्माण की प्रक्रिया मार्च 1947 में प्रारम्भ

और 1 नवम्बर 1956 को समाप्त हुई। अब राजस्थान का क्षेत्रफल 1,32,212 वर्गमील हो गया और यह देश का तीसरा बड़ा प्रान्त बन गया। राजप्रमुख और उपराजप्रमुख के पद को समाप्त कर गवर्नर के पद का सर्जन किया गया। नवम्बर 1, 1956 को सरदार गुरुमुख निहालसिंह ने प्रथम गवर्नर के रूप में पद ग्रहण किया।

## संदर्भ-सूची


1. मेनन, वी.पी., दि ट्रांसफर ऑफ पावर इन इण्डिया, पृ०102
2. व्हाइट पेपर्स ऑन इण्डियन स्टेट्स, पृ०27
3. रामेश्वर, एस.एम., रिसरजेन्ट राजस्थान,पृ०98
4. वैवल, दी वायसरायज जर्नल, पृ०20 ए
5. प्रजासेवक,जून 28. 1947, पृ० 7
6. ह्वाइट पेपर्स ऑन इण्डियन स्टेट्स, 1948. पृ० 28
7. वही।
8. वही।
9. प्रजा सेवक, जून 22. 1946. पृ० 30
10. हांडा, आर०एल०, देशी रियासतों में स्वाधीनता संग्राम का इतिहास, पृ० 175
11. अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद् के पेपर्स, फाइल न० 191-92, पृ० 51 से 53
12. दुर्गादास, स०, सरदार पटेल कोरस्पोन्डेन्स, भाग 5, पृ० 527
13. देशी शासकों की मांगें— वंश परम्परागत उत्तराधिकार में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाए; रियासत के आन्तरिक प्रश्नों पर दखल न किया जाय ; रियासतों की सीमाओं में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये और रियासतों की अनुमति के बगैर संधियों में एकतरफा परिवर्तन नहीं किये जाएं।
14. माथुर, सोभाग, स्ट्रगल फोर रेस्पोन्सीबल गवर्नमेंट इन मारवाड़, पृ०153
15. प्रजासेवक, मई 16. 1947. पृ० 8
16. दि फ्री प्रेस जरनल, अप्रैल 3. 1947
17. दुर्गादास, वही, खण्ड 5,पृ० 518-24
18. दि फ्रि प्रेस जरनल, अप्रैल 3. 1947.
19. प्रजासेवक, अप्रैल 20, 1947. पृ० 8
20. दि डॉन, अप्रैल 27, 1947
21. ह्वाइट पेपर्स ऑन इण्डियन स्टेट्स, 1948, पृ० 158
22. हाण्डा, आर. एल., वही, पृ० 158
23. राठौड़, एल. एस., पोलिटिकल एण्ड कान्स्टीट्यूशनल डवलपमेन्ट इन राजस्थान, पृ० 128
24. ये बड़े सात थे कांग्रेस की ओर से जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, आचार्य कृपलानी, मुस्लिम लीग की ओर से मोहम्मद अली जिन्ना, लियाकत अली खाँ, अब्दुरंख निस्तर और सिक्खों की ओर से सरदार बलदेव सिंह।
25. हाण्डा, आर. एल., वही, पृ० 25
26. मेनन, वी. पी., दी स्टोरी ऑफ इन्टीग्रेशन ऑफ दि इण्डियन स्टेट्स, पृ० 64
27. हाण्डा, आर. एल., वही, पृ. 249-250
28. वही, पृ० 252
29. मेनन, वी.पी., वही, पृ० 99
30. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, जुलाई 26, 1947, लार्ड माउण्टबेटन के भाषण, भारत सरकार, 1947-48, पृ० 24

राठौड़, एल एस., वही, पृ॰ 132
मोसले लियोनार्ड, दी लास्ट डेज ऑफ दि ब्रिटिश राज, पृ 192
मेनन, वी पी, दी ट्रांसफर ऑफ पावर इन इण्डिया, पृ 414
मोसले लियोनार्ड, वही, पृ 192
वही।
कोटा के प्रधानमंत्री श्री सी शर्मा का बीकानेर के प्रधानमंत्री के एम पणिक्कर को पत्र, 1946
वही।
कोटा में प्रधानमंत्रियों की रिपोर्ट, पत्र स 1 1946, संवैधानिक विभाग, बीकानेर राज्य, राजस्थान अभिलेखागार, बीकानेर।
वही सेक्शन सी, आर्टिकल 2
वही, आर्टिकल 4
सरदार के एम पणिक्कर का बीकानेर के महाराजा को नोट, पत्र स 1, संवैधानिक विभाग, बीकानेर रियासत, 1946
सरदार के एम पणिक्कर का उदयपुर रियासत के संवैधानिक सलाहकार के एम मुंशी को पत्र, अगस्त 5 1946
के एम मुंशी का बीकानेर के महाराजा को नोट, अगस्त 1, 1946
यशवन्तराव पवार का सरदार के एम पणिक्कर को पत्र, अगस्त 28, 1946
सरदार के एम पणिक्कर का यशवन्तराव पवार को पत्र, सितम्बर 21, 1946
दि हिन्दुस्तान टाइम्स, जून 9 1947
जयनारायण व्यास का डा पट्टाभि सीतारमैया को पत्र, जुलाई 8 1947, अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद् बुलेटिन, संख्या 2, 1947-48 पृ॰ 3
राजपूताना राज्यों के प्रधानमंत्रियों की जयपुर बैठक की कार्यवाही, मार्च 15, 1947
जयपुर महकमा खास, पत्र स 24 1946
राजपूताना राज्यों के प्रधानमंत्रियों की जयपुर बैठक की कार्यवाही, मार्च 15 1947
सरदार के एम पणिक्कर का महाराजा अजीतसिंह, जोधपुर को पत्र, जनवरी 18, 1947, जोधपुर पत्र स सी बी - १७ बी खण्ड 1, 1946
दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 5 1947
वी टी कृष्णामाचारी का सरदार के एम पणिक्कर को पत्र, मई 23 1947
वी टी कृष्णामाचारी की रिपोर्ट, धारा १,२ और ३, जयपुर महकमा खास, पत्र स 24
वी टी कृष्णामाचारी का परिपत्र, धारा 4
वही, धारा 6
दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मई 30, 1947
वही, मई 7 1947
उदयपुर पत्र सं एच 7-8 पी एम., 1946-47
मेवाड़ गजट, असाधारण अंक, मई 23 1947
पश्चिमी राजपूताना एजेन्सी के रेजीडेन्ट का सरदार पणिक्कर को पत्र, जुलाई 22, 1947, [illegible] विभाग, पत्र,स, 11, 1947
दि हिन्दुस्तान टाइम्स, जून 28, 1947
पश्चिमी राजपूताना एजेन्सी के रेजीडेन्ट का सरदार पणिक्कर को पत्र, जुलाई, 22, 1947, [illegible] विभाग, पत्र सं 11, 1947

64. महाराजाधिराज अजीतसिंह व प्रधानमंत्री जोधपुर का सरदार के. एम. पाणिक्कर प्रधान मंत्री बीकानेर को पत्र, पत्र संख्या 108-सी-925, दिसम्बर 13, 1947
65. रामेश्वर, एस.एम., वही, पृ. 96
66. हाण्डा, आर. एल., वही, पृ . 272
67. वही ।
68. दि हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (सम्पादकीय), कलकत्ता, फरवरी 9, 1948
69 अलवर राज्य पर यह आरोप लगाया गया कि वह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का प्रचार तथा प्रशिक्षण का प्रमुख केन्द्र है और गांधी जी की हत्या से संबंधित लोगों को राज्य में शरण दी गई थी — मेनन, वी. पी., वही, पृ. 253 अलवर की हिन्दू महासभा के कार्यकर्त्ता पन्नालाल चौबे तथा पुलिस ने 'कपूर कमीशन' को जो गांधी जी की हत्या के षडयन्त्र की जांच कर रहा था, बतलाया की गांधीजी की हत्या का षड्यन्त्र अलवर में बनाया गया था जिसमें अलवर के प्रधानमंत्री डा. खरे ने महत्वपूर्ण योगदान दिया था। इन्होंने यह भी बताया कि रायजादा हकीमराय, जो पाकिस्तान से आया शरणार्थी तथा डा. खरे का विश्वासपात्र था, गोडसे व पंचोरी को प्रधानमंत्री के पास हत्या के तीन माह पूर्व लाया था। एक गुप्त बैठक में गवाही देने वाला स्वयं उपस्थित था। उसने यह बताया कि पंचौरी ने कहा था कि गोडसे अकेला महात्मा गांधी की हत्या कर सकता है तथा यह .श के हित में नहीं है कि गांधी जी लम्बे समय तक जीवित रहें क्योंकि उनकी नीतियां हिन्दू विरोधी है। गोडसे ने उत्तर दिया था कि उन्हें चिंता करने की आवश्यकता नही है, वह सभी कार्य पूर्ण कर देगा। पन्नालाल चौबे ने अपनी गवाही में आगे कहा कि महात्मा गांधी की हत्या के पीछे डा. खरे का प्रमुख हाथ था और गोडसे केवल उसके हाथ का खिलौना था। गोडसे, पांचौरी और डा. खरे एक ही स्थान के हैं। — दि हिन्दुस्तान टाइम्स "गोडसे वाज ओनली ए टूल", अक्टूबर 21, 1967
70. वी. पी. मेनन, वही , पृ. 253-54, दि हिन्दुस्तान टाइम्स, फरवरी 9, 1948
71. वी. पी. मेनन, वही ।
72. गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्स्ट्राऑर्डिनरी गजट, फरवरी 9, 1948
73. अलवर के महाराजा तेजसिंह ने वी. पी. मेनन को पत्र लिखा कि 7 फरवरी 1948 को भारत सरकार का पत्र संख्या नम्बर एफ 200- पी —48, दि. फरवरी 7, 1948 को भारत सरकार में रियासती विभाग के सचिव ने गर्वनर जनरल और आदरणीय मंत्री की उपस्थिति में मुझे सौंपा था। इस पत्र में अलवर राज्य में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की गतिवधियों के संबंध में जो कुछ लिखा था उसे पढकर दुख: पहुंचा। यह दुख की बात है कि महात्मा गांधी की हत्या तथा अन्य घटनाओं का संबंध उनके राज्य के साथ जोड़ा गया। ये आरोप गम्भीर है तथा वे इसकी जांच में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते इसलिये वे डा. खरे को प्रधानमंत्री के पद से हटा रहे है। अलवर राज्य का प्रशासन जांच पूरी होने तक प्रशासनिक अधिकारी चलायंगे, उसे उनके राज्य के प्रशासनिक व सैनिक अधिकारी सहयोग देंगे तथा वे अपनी इच्छा से जांच पूरी होने तक अलवर राज्य के बाहर रहेंगे। अलवर के महाराजा तेजसिंह का पत्र वी. पी. मेनन, सचिव रियासती विभाग, भारत सरकार को, फरवरी 7, 1948, फा.सं. 114 अलवर।
74. दि स्टेट्समेन, फरवरी 9, 1948
75. सी. सी. देसाई, जाइन्ट सेक्रेट्री, स्टेट मिनिस्ट्री गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया का नोट "भरतपुर अफेयर्स - ऐलीगेशन्स अगेंनस्ट एच. एच. भरतपुर" नवम्बर 28, 1947, फा. सं. 11(17) पी - 47
76. जवाहरलाल नेहरू ने सरदार पटेल को लिखा कि उत्तर प्रदेश सरकार के मंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने उन्हें बताया है कि उन्हें ऐसी सूचनाएं मिली हैं कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के स्वयंसेवकों को भरतपुर राज्य में अस्त्र-शस्त्र के साथ प्रशिक्षण दिया जा रहा है। उत्तर प्रदेश से अनेक व्यक्ति प्रशिक्षण लेने हेतु वहाँ जाते हैं तथा प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् अस्त्र-शस्त्र के साथ लौट आते है। हमने पहले भी भरतपुर राज्य में चल रहे प्रशिक्षण केन्द्र के संबंध में सुना था। — प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू का सरदार पटेल, मंत्री, गृह विभाग को पत्र, जनवरी 28, 1948, फा.सं. वही
77. भरतपुर के महाराजा बिजेन्द्र सिंह ने वी. पी. मेनन को लिखा कि इस समाचार से उन्हें सदमा पहुँचा है। उन्होंने आश्वासन दिया कि राज्य के प्रशासन का देशद्रोही और साम्प्रदायिक गतिविधियों में हाथ नहीं हैं। इसलिये अपने राज्य तथा अपने स्वयं की स्थिति को स्पष्ट करने हेतु उन्होंने राज्य में प्रशासक की नियुक्ति को स्वीकार कर लिया था। प्रशासक के किसी भी काम में हस्तक्षेप करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। उन्होनें यह भी स्वीकार किया कि भारत सरकार राज्य के पुलिस प्रमुख के पद पर किसी भी पुलिस अधिकारी को नियुक्त कर सकती है। राज्य

[illegible]

जाये। — भरतपुर के महाराजा बिजेन्द्र सिंह का वी पी मेनन को पत्र, फरवरी 10, 1948, फा सं 1- ए डी - 48-I

वही।

दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 1, 1948

मेनन, वी पी., वही, पृ 255

व्हाइट पेपर ऑन इण्डियन स्टेट्स, 1950, पृ 84

आर्टीकल 9(2) ऑफ दि कोवेनेन्ट ऑफ दी युनाइटेड स्टेट्स ऑफ मत्स्य।

शेड्यूल I ऑफ दि गवर्नमेन्ट ऑफ दी युनाइटेड स्टेटस आफ मत्स्य।

दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 1 1948

किसान सभा के दस्तावेज, भरतपुर राज्य के विलय से सबंधित, फा स सीडी - बाएल 5/37

एस एन सप्रू, प्रशासक भरतपुर का के बी एल सेठ, प्रशासक यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ मत्स्य को पत्र गुप्त पत्र, मार्च 19 1948 फा सं, वही।

वही।

दि हिन्दुस्तान टाइम्स, मार्च 20 1948

मत्री मण्डल के विभागों का बटवारा -

(1) शोभाराम (अलवर) मुख्यमत्री, वित, सीमा शुल्क और आबकारी

(2) रेलराम, (अलवर) सार्वजनिक निर्माण विभाग, सचार, विद्युत, नगर आयोजन

(3) जुगल किशोर चतुर्वेदी (भरतपुर) शिक्षा, लेखन सामग्री व मुद्रण प्रचार और जेल

(4) गोपीलाल यादव (भरतपुर) राजस्व, पुनर्वास, रसद, न्याय और रेलवे

(5) डा मगल सिंह (धौलपुर) वाणिज्य, व्यापार, उद्योग, खान, चिकित्सा व स्वास्थ्य

(6) चिरंजीव लाल शर्मा (करौली), कृषि, वन, और ग्रामीण पुनर्निर्माण

रिपोर्ट ऑन एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ राजस्थान, 1950 51 पृ० 2

मेवाड़ प्रजा मडल पत्रिका, फरवरी, 1948, पृ 1

व्हाइट पेपर्स ऑन इण्डियन स्टेट्स, 1948, पृ० 57

[illegible], वी एल, राजस्थान का इतिहास, पृ० 317

मेनन, वी पी वही, पृ 244

मेवाड प्रजा मण्डल पत्रिका, मार्च 8 1948

मेनन, वी पी., वही, पृ 245

भारत सरकार द्वारा निर्धारित नियम कि स्वतन्त्र भारत म वे ही रियासतें अपना अस्तित्व रख सकेंगी जिनकी आय एक करोड़ रुपये वार्षिक और जनसख्या एक लाख होगी।

मेनन, वी पी, वही, पृ 247

व्हाइट पेपर्स ऑन इण्डियन स्टेट्स, 1948, पृ 54

वही।

दुर्गादास, वही भाग 6 पृ 396 97, सयुक्त राजस्थान गजट, भाग 1, संख्या 2, अप्रैल 30 1948

(1) माणिक्यलाल वर्मा,(उदयपुर) मुख्यमत्री,गृह, राजस्व, पुनर्व्यवस्था और [illegible] विभाग

(2) गोकुललाल असावा, (शाहपुरा) स्वास्थ्य एवं चिकित्सा पिछड़ी वर्ग जातियां, देवस्थान और जेल

(3) प्रेमनारायण माथुर (उदयपुर) शिक्षा और वित्त

(4) मोहनलाल सुखाड़िया (उदयपुर) उद्योग

(5) भागीलाल पांड्या (डूंगरपुर) समाज कल्याण
(6) पं. अभिन्न हरि (कोटा) कृषि, वन, मुद्रण, प्रचार और पशु पालन
(7) बृज सुन्दर (बूंदी) स्वायत शासन, न्याय, सीमा निर्धारण
(8) भूरेलाल बया (उदयपुर) जागीर
(9) दलेल सिंह - यातायात, संचार , सीमा शुल्क व आबकारी

103. नोटिस संख्या 8, अप्रैल 30, 1948 पृ. 8, संयुक्त राजस्थान गजट, भाग प्रथम, संख्या 1
104. दुर्गादास, वही, पृ, 400-01
105. दुर्गादास, वही,पृ० 398-99
106. करणीसिंह, दि रिलेशन ऑफ दि हाउस ऑफ बीकानेर विथ सेन्ट्रल पावर्स, पृ०337
107. मेनन, वी. पी ., दी स्टोरी ऑफ इन्टीग्रेशन ऑफ दी इण्डियन स्टेट्स, पृ.263
108. फा.सं.49, प्रधानमंत्री बीकानेर का कार्यालय ।
109. दुर्गादास, वही, भाग 7, वृ.पृ. 422-28
110. करणीसिंह, वही, पृ०340
111. मोस्ले लियोनार्ड, दि लास्ट डेज ऑफ दि ब्रिटिश राज, पृ.145
112. दुर्गादास, वही, भाग 5 परिशिष्ट -1, पृ० 515-17
113 दि ट्रान्सफर ऑफ पावर, 1942-7, भाग XII, पृ. 767
114. मोस्ले लियोनार्ड, वही, पृ. 145
115. मेनन, वी. पी., वही, पृ. 112
116. वही ।
117. वसुन्धरा (उदयपुर), अंक 13, सितम्बर 1947 प्रजासेवक, सितम्बर 22, 1947, पृ. 10
118. मोस्ले लियोनार्ड, वही, पृ. 146
119. वही ।
120. मेनन, वी. पी., वही, पृ. 112-13
121. प्रजासेवक, सितम्बर 22, 1947, ट्रान्सफर ऑफ पावर, पृ. 767
122. ट्रान्सफर ऑफ पावर, पृ. 603
123. माउन्टवेटन का अन्तिम प्रतिवेदन, अनुच्छेद 41, अगस्त 16, 1947, वही, पृ० 767
124. वही ।
125. वी. पी. मेनन, सचिव रियासती विभाग, भारत सरकार का महाराजा हनवन्त सिंह को पत्र, अगस्त 11, 1947
126. प्रजा सेवक (सम्पादकीय) मई 8, 1948
127. वही ।
128. वही ।
129. मोस्ले लियोनार्ड, वही, पृ० 201-04 मेनन, वी. पी., वही, पृ० 412-13
130. मेनन, वी. पी., वही, पृ० 252
131. प्रजा सेवक, फरवरी 2, 1949, पृ० 5
132. सिरोही के वकील संघ ने सिरोही का राजस्थान राज्य में विलय करने को मांग करते हुए सर्वसम्मति से प्रस्ताव पारित किया कि 'सिरोही राज्य वार एसोशियन वृहत् राजस्थान का स्वागत करता है और सिरोही राज्य के विलिनीकरण के विषय में अपनी निश्चित राय रखता है कि सिरोही और राजपूताना भाषा, वेशभूषा, संस्कृति, भूगोल व इतिहास की दृष्टि से एक है। इसलिये राजमातुश्री तथा स्टेट मिनिस्ट्री से अनुरोध करता है, कि सिरोही राज्य को वृहत् राजस्थान में सम्मिलित किया जाये। —प्रजा सेवक, फरवरी 16, 1949 पृ.11
133. मेनन, वी. पी., वही, पृ० 258

134. दुर्गादास, वही, भाग 7, पृ 397
135. शास्त्री, हीरालाल, प्रत्यक्ष जीवन शास्त्र, पृ 334
136. दुर्गादास, वही, पृ०, 395 96
137 प्रजा सेवक, नवम्बर 23, 1949, पृ०, 5
138. वही।
139 वही।
140 वही।
141 राजस्थान प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का बुलेटिन, वर्ष -2, संख्या 4 —प्रजा सेवक, फरवरी 16, 1949, पृ 11
142. मेनन, वी पी, वही, पृ०, 260
143 दि हिन्दुस्तान टाइम्स (सम्पादकीय), जून 13, 1949
144 (1) हीरालाल शास्त्री (जयपुर), प्रधानमंत्री और वित्त
(2) प्रेमनारायण माथुर (उदयपुर), गृह और शिक्षा
(3) सिद्धराज ढड्ढा (जयपुर), उद्योग और वाणिज्य
(4) भूरेलाल बया (उदयपुर) यातायात संचार और सार्वजनिक निर्माण विभाग
(5) रघुवरदयाल गोयल (बीकानेर) खाद्य व कृषि
(6) फूलचन्द बाफणा-स्वायत्त शासन
(7) वेदपाल त्यागी (कोटा), कानून व न्याय, शरणार्थी पुनर्वास
(8) नरसिंह कछवाहा (जोधपुर) श्रम, ग्रामीण पुनर्निर्माण, सहकारिता
(9) राव राजा हणुवन्त सिंह (जोधपुर) स्वास्थ्य
(10) शोभाराम (अलवर) राजस्व
145. सेक्रेट्री, स्टेट रिओर्गेनाइजेशन कमीशन, भारत सरकार का मुख्य सचिव, राजस्थान सरकार को पत्र, संख्या 55 2 54, मार्च 18, 1954
146. चीफ सेक्रेट्री, राजस्थान सरकार का सेक्रेट्री स्टेट रिओर्गनाजेशन को पत्र संख्या 40(19) पोलिटिकल-54 अप्रैल 23,1954 पेरा 1 2
147. मुख्यमंत्री जयनारायण व्यास, राजस्थान सरकार, का गोपालस्वामी आयंगर, राज्य मंत्री, भारत सरकार को पत्र, संख्या फ-1(10) पोलिटिकल ए-57, सितम्बर 7, 1951

# खण्ड 3

# राजनीतिक संस्कृति एवं संस्थाएं

10

# राजस्थान में राजा के देवत्व की अवधारणा

सोहन कृष्ण पुरोहित

राजस्थान के अभिलेखों, मुद्राओं और साहित्यिक ग्रन्थों से इस भूभाग के प्राचीन राज्यों के प्रशासन की जानकारी मिलती है। प्रशासनिक दृष्टि से राजा को राज्य का सर्वोच्च अधिकारी मानने की अवधारणा का विकास भारत में प्राचीन काल में ही हो चुका था। कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" में राजा को संक्षिप्त राज्य कहकर पुकारा गया है।[1] दशरथ शर्मा के अनुसार राजा राज्य रूपी मेहराब का मुख्य आधार स्तम्भ था।[2]

राजा वैदिक काल से ही शक्ति सम्पन्न माना जाता रहा है, यद्यपि उस समय उसके दैविक स्वरूप का विकास नहीं हो पाया था। "अथर्ववेद" में अवश्य ही राजा पुरुकुत्स को "अर्द्धदेव" कहा गया है।[3] राजा के देवत्व की भावना का विकास ब्राह्मण काल में हुआ। उन दिनों यह मान्यता थी कि अभिषेक के समय राजा के शरीर में अग्नि, सविता और बृहस्पति आदि देवता प्रवेश करते हैं।[4] समाज में यह भावना भी चलवती थी कि अश्वमेध करने वाले राजा को मृत्यूपरान्त देव पद मिलता है।[5] उस समय कुछ लोग तो राजा को प्रजापति का प्रत्यक्ष स्वरूप मानने लगे थे।[6] कुषाण काल में राजा स्वयं "देवपुत्र" होने का दावा करने लगे। उन्होंने मुद्राओं पर स्वयं को दैवी ज्योति से आवृत बादलों से अवतरित होते हुए अंकित करवाया।[7] कुषाणों ने अपने पूर्वजों की प्रतिमाएं देवकुल में स्थापित कर उनकी पूजा-अर्चना की।

स्मृतियों और पुराणों में राजा के देवत्व को स्वीकार किया गया है। मनु के अनुसार राजा नर रूप में देवता है। ब्रह्मा ने आठों दिशाओं के दिक्पालों के शरीर का अंश लेकर उसके शरीर का निर्माण किया।[8] "विष्णु पुराण" और "भागवत पुराण" के अनुसार राजा के शरीर में अनेक देवता निवास करते हैं।[9] "विष्णु पुराण" में कहा गया है कि राजा वेन के शरीर पर विष्णु के नाना लाञ्छन विद्यमान थे।[10] राजा के देवत्व की परम्परा को बौद्धों ने भी स्वीकार किया और उसे "सम्मुतिदेव" कहकर पुकारा।[11] संस्कृत नाटककारों ने भी राजा हेतु "देव" शब्द का प्रयोग किया है।[12]

भारत में अवतारवाद की कल्पना के जन्म के बाद राजा को पृथ्वी पर ईश्वर का अवतार माना जाने लगा। "महाभारत", स्मृतियों और पुराणों में राजा और देवताओं के कार्यों में समानता का चित्रण मिलता है। यद्यपि अनेक ग्रन्थकारों ने राजा की देवताओं से तुलना की है, किन्तु उन्होंने यह कहीं नहीं लिखा कि राजा स्वयं देवता है।[13] प्राचीन भारत में केवल नारद ही ऐसे ग्रन्थकार हैं जिनका विचार था कि दुष्ट राजा पर भी प्रहार करना पाप है, क्योंकि उसमें देवांश विद्यमान है।[14] मनु ने राजा के देवत्व को स्वीकार करते हुए भी मत प्रकट किया कि धर्म से विचलित होने पर राजा का नाश हो जाता है।[15] राजा के देवत्व की परम्परा गुप्त काल में भी जारी रही। स्कन्दगुप्त के भितरी-लेख में द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को "स्वयं चाप्रतिरथ" (सम्भवतः अप्रतिरथ अर्थात् विष्णु) कहा गया है।[16] प्रयाग-प्रशस्ति में

विष्णु से की गई है।[17]

राजा के देवत्व की कल्पना राजस्थान के साहित्यिक ग्रन्थों और अभिलेखों में स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है। उद्योतनसूरि रचित "कुवलयमाला कहा" में राजा हेतु "महाराजाधिराज", "परमेश्वर" (154.32) और "मकरध्वज" (166.3) जैसी उपाधियों का प्रयोग किया गया है जबकि "समराइच्चकहा" में हरिभद्र सूरि ने राजा हेतु केवल "देव" उपाधि का प्रयोग करना ही उचित समझा।[18]

प्रतिहार शासकों ने स्वयं को "राजा", "भूप", "नृप" और "महाराज" के रूप में लोकप्रिय बनाया । प्रतिहार द्वितीय नागभट, भोज और महेन्द्रपाल ने "महाराजाधिराज" जैसे विरुद धारण किये। किन्तु उनके सामन्तों ने उन्हें "परमभट्टारक" और "परमेश्वर" आदि उपाधियों से भी सम्बोधित किया।[19] नागभट के सामन्त बप्पक के पुत्र जज्जक की पुत्री जयावती के बुचकला-अभिलेख (वि. सं. 872) में वत्सराज को "महाराजाधिराज" और "परमेश्वर" कहा गया है। उसके पुत्र नागभट्ट को भी इसी उपाधि से विभूषित किया गया है।[20] बाहड़देव के पाली से प्राप्त सोमनाथ मन्दिर-लेख (वि. सं. 1209) में कुमारपाल चौलुक्य को "परमभट्टारक महाराजाधिराज" विरुद दिया गया है।[21] चौलुक्य द्वितीय भीमदेव के सामन्त चाहमान मदन ब्रह्मदेव के किराड़ू-लेख (वि. सं. 1235) में भीमदेव के हेतु 'महाराजाधिराज, परमेश्वर तथा परमभट्टारक" सम्बोधन मिलता है।[22] इसी नरेश के एक गुहिलवंशीय सामन्त अमृतपाल देव के वीरपुर-दानपत्र (वि. सं. 1242) में भी उसके लिये "परमेश्वर परमभट्टारक" उपाधि निर्देशित है।[23] वाक्पति के काल से परमार शासक "परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर" उपाधि धारण करने लगे जबकि इसके पूर्व वे प्राय: "नृप" और "भूप" जैसी उपाधियाँ ही धारण करते थे।[24] गुहिल और चाहमान शासक भी "परमेश्वर" और "राजेन्द्र" जैसे विरुदों से विख्यात थे।[25]

प्रतिहार प्रथम नागभट को अभिलेखों में साक्षात नारायण[26] तथा भोज[27] एवं विनायकपाल[28] को आदिवराह और प्रथम महिपाल को कार्तिकेय कहा गया है।[29] प्रथम महिपाल हेतु प्रयुक्त "कार्तिकेय" एवं "निर्भय नरेन्द्र" विरुद समीचीन थे क्योंकि जिस प्रकार कार्तिकेय ने देवताओं की ओर से युद्ध कर स्वर्ग का राज्य देवताओं को पुन: दिलवाया, उसी प्रकार महिपाल ने प्रतिहार साम्राज्य के शत्रु सिन्ध के अरबों तथा राष्ट्रकूटों को पराजित किया था।[30] प्रतिहार भोज का भी राजस्थान के विशाल भूखण्ड पर अधिकार था। अभिलेखों में उसे "आदिवराह" कहा गया है। अभिलेखों और मुद्राओं पर उत्कीर्ण उसके "मिहिर" तथा "आदिवराह" विरुदों से संकेतित है कि वराह अवतार की तरह भारत की पावन भूमि को म्लेच्छों से मुक्त करवाना वह अपना पुनीत कर्तव्य समझता था। मुद्राओं पर उत्कीर्ण उसकी "वराह" शिरोधारी मनुष्याकृति कदाचित् इस बात की द्योतक है कि वह स्वयं को विष्णु का अवतार मानता था।[31] विनायकपाल की श्रीमद् आदिवराह मुद्राओं का उल्लेख कामा के नवीं शती ईसवी के लेख और ठक्कुर फेरूकृत "द्रव्य परीक्षा" ग्रन्थ में मिलता है।[32]

राजा के देवत्व की अवधारणा का सर्वाधिक प्रभाव चौहान राजाओं पर पड़ा। तृतीय पृथ्वीराज चाहमान को अभिलेखों में "परमभट्टारक महाराजाधिराज परमेश्वर" और "पृथ्वीराज विजय" में "भारतेश्वर" कहा गया है।[33] तृतीय पृथ्वीराज को उसकी सामरिक उपलब्धियों के परिणामस्वरूप राम और विष्णु के 10 अवतारों के समान बतलाया गया है। ब्रह्मा और इन्द्र से भी उसकी तुलना की गई है।[34] शिवालिक-अभिलेख में चतुर्थ विग्रहराज (वि.सं. 1220) की तुलना विष्णु से की गई है जबकि "पृथ्वीराजविजय" में उसे "मधुसंहारक" (विष्णु का एक नाम) कहा गया है।[35] हांसी के एक लेख[36] में (वि.सं. 1226) द्वितीय पृथ्वीराज को और "पृथ्वीराज विजय" में तृतीय पृथ्वीराज को राम कहा गया है।[37]

दशरथ शर्मा का विचार है कि राजा में देवत्व की कल्पना उसके सत्कार्यों अथवा देश, समाज, संस्कृति और नैतिकता की रक्षा हेतु शत्रुओं के साथ संघर्ष के कारण की जाती थी।[38] नैणसी की "ख्यात" तथा "कान्हड दे प्रबन्ध" में जालौर शासक कान्हडदेव को कृष्ण और गोकुलनाथ का अवतार तथा उसके शत्रु अलाउद्दीन खिलजी को दैत्य कहा गया है।[39] सुन्धा-अभिलेख में आसराज को विष्णु का अवतार और इसी लेख में अर्णहिल को चतुर्भुज विष्णु सदृश कहा गया है क्योंकि उसने भगवान विष्णु की तरह शत्रुओं का संहार किया था।[40]

दशरथ शर्मा ने राजा के देवत्व की कल्पना का प्रमुख स्रोत "गीता" को माना है जिसमें कहा गया है कि जब-जब दुष्टों का उत्थान और धर्म की हानि होती है तब-तब भगवान् स्वयं अवतार धारण करते हैं। इसलिये जब किसी शासक ने धर्म विरुद्ध आचरण करने वाले शत्रु से संघर्ष किया तो जनता ने उसमें ईश्वरीय शक्ति के दर्शन किये।[41] कान्हडदेव, तृतीय पृथ्वीराज, चतुर्थ विग्रहराज, भोज और महिपाल के देवत्व का आधार उसी सिद्धान्त को माना जा सकता है।

राजस्थान के अभिलेखो मे राजा का देवत्व अनेक प्रकार से प्रदर्शित किया गया है। विश्ववर्मा के गंगधार-लेख (मालव संवत् 480) में उसे बृहस्पति के समान बुद्धिमान, सम्पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्रमा के समान मुखवाला, राम और भागीरथ से तुलनीय और देवताओं के स्वामी (इन्द्र) को अपने पराक्रम से जीतने वाला कहा गया है।[42] झालारापाटन शिवमंदिर-- लेख (संवत् 746) मे कहा गया है कि अन्धकासुर के नाशक शिव की शंका इस राजा मे होती थी।[43] चाटसू-अभिलेख (वि स 870) के अनुसार कंटकों से रहित राम के समान अत्यन्त शूर चतुर भर्तृपट्ट गुहिल वंश में हुआ।[44] डबोक-शिलालेख (वि स 900- 1000) में कक्क के किसी पुत्र (नाम अज्ञात) के लिये कहा गया है वह श्रीमान् कक्क का पुत्र था जो पृथ्वी पर लोकपालों के समान था।[45] पोकरण-अभिलेख (वि स 1070) में पुण्य पुष्प की तुलना कामदेव से की गई है।[46] हर्षनाथ-लेख (वि.स. 1030) मे चतुर्थ विग्रहराज को इन्द्र के समान पराक्रमी कहा गया है।[47] हस्तिमाता मंदिर-शिलालेख (वि स. 1057) में शुचिवर्मा के लिये कहा गया है कि शत्रुओं के नगर जलाने में भगवान् शंकर के तुल्य वह राजा मनोहर आकृति वाला साक्षात् कामदेव था।[48] जालौर के परमार राजा धारावर्ष की तुलना इन्द्र से की गई है।[49] बसन्तगढ़ लाण बावड़ी- प्रशस्ति (वि स 1099) में विग्रहराज के लिये कहा गया है कि वह अपने सामर्थ्य से पृथ्वी को धारण करने वाला, बलशाली, श्रेष्ठ मनुष्यो मे उत्तम और विष्णु के समान था।[50] जालौर-लेख (वि स 1174) के अनुसार परमार राजा विग्गलराज भगवान् शंकर के पुत्र स्कन्द के समान और अपने निश्चय के कारण भगवान् कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के तुल्य था।[51]

राजस्थान में राजा के देवत्व की चरम सीमा देवकुल परम्परा के रूप में दृष्टिगोचर होती है। प्राचीन काल में क्षत्रिय राज-परिवारो में राजा की मृत्यूपरान्त उसकी प्रतिमा को देवकुल में स्थापित कर उसकी पूजा करने की परम्परा थी। हम जानते है कि इस परम्परा को कुषाण शासकों ने अपनाया था।[52] भास के "प्रतिमानाटक" में देवकुल परम्परा का भारतीय परिवेश मे विवरण प्रस्तुत किया गया है। उसने दशरथ के देवकुल के सम्बन्ध मे लिखा है कि उसकी ऊंचाई राजमहल से भी [illegible] जब भरत अपने ननिहाल से लौट रहा था तो मार्ग में स्थित देवकुल में [illegible] की प्रतिमाओं के साथ दशरथ की भी मूर्ति देखी थी। इससे उसे [illegible][53] [illegible] थी, इस उदाहरण से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भारत में [illegible] जो भास के पहले से चली आ रही थी।

चाहमान शासक सोमेश्वर ने नवनिर्मित वैद्यनाथ मन्दिर के सम्मुख अपने पिता एवं स्वयं अपनी घोड़े पर सवार प्रतिमाएँ स्थापित करवायी थी।[54] अजमेर के चौहानों के लिए यह मन्दिर देवकुल के समान था। देवकुल की इन प्रतिमाओं को परिवार के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर पूजा जाता था। क्षत्रियों में विवाहोपरान्त वर-वधू को देवकुल ले जाया जाता था और वहाँ परिवार के देवस्वरूप पूर्वजों की पूजा-अर्चना कर उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की जाती थी।[55] एक चौहान लेख में लूणिगदेव द्वारा स्वयं अपनी तथा रानी की मूर्तियां बनवाकर मंदिर में रखवाये जाने का उल्लेख मिलता है।[56]

उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि राजस्थान में राजा के देवत्व की परम्परा का विकास प्राचीन काल में ही हो चुका था। यहाँ राजा के स्वरूप में विष्णु, स्कन्द, वराह, गोकुलनाथ, शिव, लोकपाल और कामदेव की परिकल्पना की गई। इस कल्पना का आधार शासकों की सामरिक उपलब्धियां थी। जिस राजा ने जितने बड़े शत्रु से लोहा लिया उसी के अनुरूप देवता के सदृश उसे अभिलेखों में दर्शाया गया है। दशरथ शर्मा, के. सी. जैन, अनिता सूदन, एस. पी. व्यास और आनन्द प्रसाद आदि विद्वानों ने इस मान्यता का एक स्वर से समर्थन किया है। "पृथ्वीराजविजय" में जयानक ने अपने नायक पृथ्वीराज चौहान की राम से तुलना इसी आधार पर की। के. सी. जैन का विचार है कि राजा को देव तभी स्वीकार किया जाता था जब उसने भारतीय संस्कृति के किसी शत्रु के शत्रु के विरुद्ध अपने शौर्य का प्रदर्शन किया हो।[57] इस प्रकार राजा के देवत्व की परम्परा शासक को अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रखने में महत्त्वपूर्ण घटक सिद्ध हुई।

## संदर्भ-सूची

1. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, 8.2.
2. शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजेज, पृ. 357-58.
3. अथर्ववेद, 20.127.7.
4. अल्तेकर, ए. एस., स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन एन्शेण्ट इण्डिया, पृ. 90.
5. शतपथ ब्राह्मण, 12.4.4.3; तैत्तिरीय ब्राह्मण, 18.10.10.
6. शतपथ ब्राह्मण, 5.1.5.14.
7. अल्तेकर, पूर्वो.; दि कैटेलॉग ऑफ क्वाइन्स इन दि पंजाब म्यूजियम, खण्ड 1, प्लेट 17.31.33.
8. मनुस्मृति, 7.54.
9. विष्णु पुराण, 1.13-14.
10. भागवत पुराण, 13.23.
11. अल्तेकर, पूर्वो., पृ. 91.
12. वही।
13. अल्तेकर, पूर्वो., पृ. 91-92.
14. नारद स्मृति, 18.31.
15. मनुस्मृति, 7.45.
16. मिश्र, गिरिजा शंकर, भारतीय अभिलेख-संग्रह, खण्ड 3, फ्लीट के ग्रन्थ "कॉर्पस" का हिन्दी अनुवाद, पृ.
57, श्लोक 4; गोयल, श्रीराम, प्राचीन भारत का इतिहास, खण्ड 2, पृ. 162
17. पुरोहित, मोहन कृष्ण, उत्तर भारत का प्राचीन राजनीतिक इतिहास, पृ. 188; प्रयाग-प्रशस्ति श्लोक 24; के.

एन एस आई , 9, भाग 2, पृ 137-45

हरिभद्रसूरि, समराइच्चकहा, 9, पृ 614, शुक्ल, आर एस , इण्डिया एज सोन टु हरिभद्रसूरि, पृ 30

व्यास, श्याम प्रसाद, राजस्थान के अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ 10

इ आई., 9 पृ 199 हाल ही में हिसार के पास से प्राप्त शाक संवत् 717 के अभिलेख में वत्सराज को नागभट्ट का धराज कहकर "भुवनैकवीर" कहा गया है। द्र , के वी रमेश एवं एस पी तिवारी का शोध-निबन्ध 'एन इन्स्क्रिप्शन ऑव प्रतिहार वत्सराज शाक 717 , इ आई , 41, सं 6

नाहर, पूरण चन्द्र, जैनलेख समह, 1, पृ 205

आई ए , 42 पृ 42, व्यास, श्याम प्रसाद, पूर्वो , पृ 11 पर उद्धृत।

ओझा, निबन्ध-संग्रह, खण्ड 2 पृ 197

भाटिया, प्रतिपाल, द परमारज, पृ 201 02

शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज पृ 203 , नरहड़-अभिलेख, वि स 1215 रेवासा-अभिलेख वि स 1243

इ आई , 18 पृ 99 114

वही।

जे एन एस आई , 10 पृ 28 'द्रव्य परीक्षा' नामक ग्रन्थ में भी वराह मुद्रा तथा विनायक मुद्रा का उल्लेख हुआ है।

शर्मा, दशरथ राजस्थान थ्रू दि एजिज, पृ 306

वही

पाठक, विशुद्धानन्द उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ 150 प्रसाद आगम, राजस्थान की प्राचीन राजनैतिक संस्थाए, पृ 56

ठक्कर फेरू कृत 'द्रव्य परीक्षा', बृजमोहन परमार का शोध निबन्ध 'युग युगों में राजस्थान सिक्का के माध्यम से , रिसर्चर, वॉल्यूम 13 14 1972 73 पृ 13 शर्मा, गोपीनाथ ऐतिहासिक निबन्ध, पृ 174

शर्मा, दशरथ, पूर्वो , पृ 195 प्रोसीडिंग्स ऑव राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस 13 पृ 25

राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस, 13 पृ 26

शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ 193

शर्मा, दशरथ, राजस्थान, दि एजिज, पृ 357 58 पृथ्वीराजो महाराजों राजेरै सराय बिना (शर्मा दशरथ, अ चौहा , पृ 193)

पृथ्वीराजविजय, 1.33 6 35 47 715 8 10 60-61 एवं 9 32 33

शर्मा, दशरथ, पूर्वो , पृ 306

शर्मा, दशरथ, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ 194, प्रसाद , आगम, पूर्वो., पृ 56

अनिल सूदन, ए स्टडी ऑव चाहमान इन्स्क्रिप्शंस ऑव राजस्थान, पृ 124

शर्मा, दशरथ, राजस्थान थ्रू दि एजिज, पृ 306

गहलोत, सुखवीरसिंह, पुरोहित, सोहनकृष्ण एवं शर्मा, नैनमल, राजस्थान के प्रमुख अभिलेख खण्ड 1 पृ 29

वही, पृ 46

वही, पृ 67

वही, पृ 102

46. शोध-पत्रिका, वर्ष 22, अंक 2, पृ. 67.
47. इ. आई., 11, पृ. 110-130; आई. ए ., 1913, पृ. 52-54; मरु-भारती, वर्ष 15, अंक 4, पृ. 53-71.
48. श्यामलदास, वीरविनोद,1, पृ.381, गहलोत, पुरोहित एवं शर्मा, पूर्वो., पृ. 171-73.
49. प्रोसीडिंग्स् ऑव द राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस, 13, पृ. 26.
50. श्यामलदास, पूर्वो., खण्ड 2 का दूसरा भाग, दिल्ली संस्करण 1986, पृ.1199-1200.
51. आई. ए., 42, पृ. 41.
52. पुरोहित, सोहनकृष्ण, उत्तर भारत का प्राचीन राजनीतिक इतिहास, पृ. 150-51.
53. सिंह, आर. बी., ओरिजिन ऑव दि राजपूत्स, पृ. 60; नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक 1, 1920, पृ. 96, टिप्पणी 1.
54. पृथ्वीराजविजय, 3.66.
55. सिंह, आर. बी., पूर्वो., पृ. 61.
56. प्रोसीडिंग्स ऑव राजस्थान हिस्टरी कांग्रेस, 13, पृ. 26.
57. जैन, के. सी., एन्श्येण्ट सिटीज़ एण्ड टाउन्स ऑव राजस्थान, पृ. 473.

## 11

# पूर्व-मध्यकालीन राजस्थान में सामन्तवाद का उदय और विकास

श्याम प्रसाद व्यास

गुप्त साम्राज्य की अवनति व मौखरियों के शासनकाल में भारत में सामन्तवादी व्यवस्था का विकास हुआ । इसका परिमार्जित रूप बाण के "हर्षचरित" व "कादम्बरी" में मिलता है। विशेषरूप से "हर्षचरित" में बाण ने सामन्तों के अनेक प्रकारों (जैसे सामन्त, महासामन्त, आप्त-सामन्त, प्रधान सामन्त, शत्रु सामन्त, प्रतिसामन्त) और सम्राट् के साथ उनके सम्बन्ध का विवरण दिया है ।[1] वासुदेवशरण अग्रवाल ने "हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन" नामक ग्रंथ में 'हर्षचरित' के इस पक्ष की रोचक मीमांसा की है ।[2] लेकिन जहाँ तक विशेषतः राजस्थान का सम्बन्ध है, अभाग्यवश इस क्षेत्र में बहुत कम काम किया गया है । दिनेशचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ "अर्ली हिस्ट्री ऑफ राजस्थान" में इस प्रदेश का प्राचीन इतिहास आधिकारिक रूप से लिखा है ।[3] परन्तु अभाग्यवश उनका ग्रन्थ उस युग के पूर्व समाप्त हो जाता है, जब राजस्थान में सामन्तवाद का उदय और विकास हुआ । गोपीनाथ शर्मा ने इस विषय में कुछ महत्वपूर्ण और श्लाघनीय कार्य किया है[4] और आर.एस. शर्मा ने भारत में सामन्तवाद के विकास के अध्ययन के अन्तर्गत राजस्थान में भी सामन्तवादी प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है ।[5] लेकिन इन्होंने तथा सामन्तवाद पर कार्य करने वाले अन्य विद्वानों में से किसी ने भी अपना ध्यान विशेषतः पूर्व-मध्यकालीन राजस्थान में सामन्तवाद के विकास को स्पष्ट करने में नहीं लगाया है । अब हम यहाँ राजस्थान में सामन्तवाद के विकास की प्रवृत्तियों की मीमांसा करने का कुछ प्रयास करेंगे ।

हर्षोत्तर युग में उत्तर भारत में जिस राजवंश ने विशेष रूप से साम्राज्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त की, वह प्रतिहार वंश है । प्रतिहारों का उदय एक मत के अनुसार मालवा में हुआ[6] और दूसरे मत के अनुसार राजस्थान में ।[7] इनमें से जो भी मत सही हो, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि प्रतिहारों की शक्ति का मुख्य स्रोत राजस्थान था, यद्यपि उनकी राजधानी कन्नौज नगर बना । प्रतिहारों के अभिलेखों में सामन्तवादी व्यवस्था के विषय में आरम्भ से ही महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होने लगती है । उन्होंने उत्तर भारत में ब्राह्मणों को बहुत से ग्राम दान दिये जिससे इस वर्ग की शक्ति बढ़ी । 836 ई. में प्रथम भोजदेव ने कान्यकुब्जभुक्ति के कालिंजर मण्डल में एक पुराने अग्रहार को फिर से दान दिया ।[8] यह दान पहले द्वितीय नागभट की अनुमति से दिया गया था लेकिन रामभद्र के शासनकाल में इसका क्रियान्वयन बन्द हो गया था । इसी प्रकार भोज ने गुर्जरत्रा भूमि में अपने प्रपितामह द्वारा प्रदत्त एक अग्रहार के अनुदान को जो किसी कारणवश प्रभावी नहीं रह गया था, पुनः जारी किया ।[9] इससे स्पष्ट है कि इस समय अग्रहारों के अनुदान आनुवंशिक हो गये थे । यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रतिहार अनुदान पत्रों में से केवल अनुदत्त गांवों से होने वाली आय ही सौंपी गई थी, उनके प्रशासन सम्बन्धी अधिकार

कम स्पष्टरूपेण नहीं दिये गये थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिहारों के सामन्तों के राज्यों में भी यह प्रक्रिया चल रही थी। वि. सं. 1016 में अलवर में प्रतिहारों के एक गुर्जर सामन्त ने एक मठ के गुरु और उसकी शिष्य-परम्परा के लिये एक गांव दान दिया था।[10] आर. एस. शर्मा ने प्रतिहारों के राजस्थान से ऐसे अनेक उदाहरण उद्धृत किये हैं।[11] इनमें दानग्राहकों को न केवल गांवों में कानून और व्यवस्था बनाये रखने का दायित्व सौंपा जाता था, अपितु विभिन्न करों की वसूली का अधिकार भी प्रदान किया जाता था। इसके लिए दानग्राहकों को कुछ कर्मचारी नियुक्त करने पड़ते होंगे। इससे राजस्थान के कुछ क्षेत्रों में धार्मिक अनुदानग्राहकों का एक ऐसा मध्यस्थ भूमिधर वर्ग उत्पन्न हो गया जिसे आंतरिक शांति तथा सुव्यवस्था बनाये रखने और राजस्व वसूल करने से सम्बन्धित अधिकार प्राप्त थे।

प्रतिहारों के अभिलेखों में धर्मोत्तर अनुदानों के अधिक उदाहरण नहीं मिलते। उनके एक गुर्जर सामन्त द्वारा दिये गये अनुदान से पता चलता है कि उसे धर्मोत्तर अनुदान मिला हुआ था क्योंकि उसने अपने क्षेत्र को "स्वभोगावाप्तवंशपोतकभोग" कहा है।[12] स्पष्ट है कि साम्राज्यिक परिवार का सदस्य होने के नाते[13] उसके प्रतिहार स्वामी ने उसके व्यक्तिगत उपभोग के लिये यह वंशपोतक क्षेत्र दे रखा था। उसको दिये गये दानपत्र से यह भी स्पष्ट है कि उसे अपने क्षेत्र के प्रशासन का भी दायित्व दे दिया गया था।

प्रतिहारों की शासन प्रणाली में उपसामन्तीकरण के भी कई उदाहरण प्राप्त है। वत्सराज के शासन काल में एक दाता ने गुर्ज्जरत्रा भूमि में अनुदान में प्राप्त अपनी भूमि का छठा हिस्सा भट्टविष्णु नामक ब्राह्मण को दान कर दिया था।[14] कुछ सामन्त नरेश सम्राट् की अनुमति से अनुदान देते थे और कुछ अनुमति लिये बिना। वि. सं. 1016 (959 ई.) में अलवर क्षेत्र में सामन्त मथनदेव ने किसी की अनुमति लिये बिना अपनी जागीर से एक गांव एक मठ के गुरु और उसके शिष्य-प्रशिष्यों को दे दिया था।[15] इस अनुदान में दानग्राही को भूमि प्रबन्ध के अधिकार का उल्लेख करते समय "कुर्वतः कारयतोवा" वाक्यांश का प्रयोग है। इसका अर्थ है कि उक्त भूमि पर उसका निर्बाध स्वामित्व उपसामन्तीकरण करने के अधिकार सहित हो गया था और वह राजस्व वसूल करने अथवा खेती कराने का उत्तरदायित्व किसी को भी सौंप सकता था।

अब इससे भिन्न प्रकार के एक अनुदान का उदाहरण लें। प्रतिहार साम्राज्य के एक उच्चपदाधिकारी माधव ने, जो उज्जैन का शासक था, चाहमान सामन्त इन्द्रराज के कहने पर इन्द्रराज द्वारा निर्मित एक मन्दिर को अनुदान दिया।[16] इस अनुदान-पत्र पर माधव ने विदग्ध नामक एक अन्य पदाधिकारी के साथ हस्ताक्षर किये थे। इससे स्पष्ट है कि प्रतिहार साम्राज्य में प्रांतीय शासक राजकीय अनुमति के बिना अनुदान नहीं दे सकते थे।

प्रतिहार शासकों के विरुदों से भी सामन्तवादी सम्बन्धों का पता चलता है। परवर्ती गुप्त सम्राटों के समान प्रतिहार शासकों ने "परमभट्टारक", "परमेश्वर" और "महाराजाधिराज" आदि उपाधियाँ धारण कीं किन्तु ये उनकी सत्ता में वृद्धि की द्योतक नहीं हैं।[17] इनसे मात्र यह सिद्ध होता है कि वे अपेक्षया लघुतर शासकों "महाराजाओं" के "अधिराज" थे। पाल राज्याधिकारियों के महादौस्साधसाधनिक, महाकार्ताकृतिक, महासान्धिविग्रहिक आदि पदनामों से पूर्व "महा" शब्द जुड़े होने से प्रकट होता है कि वे भी धीरे-धीरे महासामन्त और महाराज जैसे सामन्तों की श्रेणी में आ रहे थे।[18] प्रतिहारों के साम्राज्य में तो उच्च पदाधिकारियों के सामन्तीकरण की प्रवृति बहुत ही सबल थी। द्वितीय महेन्द्रपाल का बलाधिकृत

कोकट्ट "परमेश्वरपादोपजीवी" कहलाता था।[19] उसका समकालीन माधव "तन्त्रपाल" तथा "महादण्डनायक" होने के साथ "महासामन्त" कहा जाता था।[20] एक नगर का शासक उन्दभट महाप्रतिहार के पद पर था, किन्तु वह महासामन्ताधिपति की उपाधि से भी विभूषित था।[21] इन विरुदों के साथ कुछ अधिकार और कर्तव्य सम्बद्ध रहे होंगे, किन्तु हमें उनका कोई ज्ञान नहीं है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि "महासामन्त" पद काफी उच्च था, क्योंकि प्रजाजन जब धार्मिक प्रयोजनों के लिए स्तम्भ स्थापित करते थे तो सम्राट् के साथ महासामन्त के शासन का भी उल्लेख करते थे।[22]

उच्च राजकर्मचारियों के साथ सामन्तीय उपाधियाँ मिलने के दो कारण हो सकते हैं। या तो सामन्तों अथवा महासामन्तों को विभिन्न राजपदों पर नियुक्त किया जाता था अथवा उच्च पदाधिकारियों को सामन्ती पद भी दे दिये जाते थे। रामशरण शर्मा के अनुसार पहली सम्भावना कई कारणों से सही नहीं लगती। एक, पद पुराने थे जबकि सामन्ती उपाधियाँ नई थीं। दूसरे, प्रतिहारों के साम्राज्य में कुछ ऐसे राजकर्मचारी थे जिन्हें आरम्भ में सामन्ती उपाधियाँ प्राप्त नहीं थी, बाद में मिलीं। तीसरे, प्रथम सम्भावना के स्वीकार का अर्थ है कि युवराज को भी पहले महासामन्त बनाया जाता था और तदुपरान्त युवराज पद पर अभिषिक्त किया जाता था। यह निष्कर्ष असगत होगा क्योंकि प्राय. ज्येष्ठ पुत्र ही जन्मत· युवराज माना जाता था।[23]

हरिभद्रसूरि (700-770) के प्राकृत ग्रन्थ "समराइच्चकहा' से प्रतीत होता है कि कभी कभी सामन्तों के लिये "भृत्य"और "सम्बन्धी" शब्दो का भी प्रयोग किया जाता था। इस ग्रंथ से ज्ञात होता है कि पराजित सामन्त नरेश विजेता स्वामी और उसके सामन्तो के "कुटुम्बी" मान लिये जाते थे।[24] इस प्रकार एक ही राजा से सम्बद्ध दो सामन्त जिनमे से एक शबर था और दूसरा वैश्य, एक दूसरे के "सम्बन्धी" बताए गए है।[25] इस शब्द का अनुवाद दशरथ शर्मा ने "कुटुम्बी" किया है। लेकिन ये सामन्त न तो एक ही परिवार के थे और न ही उनके परिवार वैवाहिक सम्बन्ध से जुड़े थे। फिर भी उनको परस्पर "सम्बन्धी" शब्द का प्रयोग करना पड़ता था क्योंकि स्वामी और उसके सामन्तों के सम्बन्धों की अभिव्यक्ति और किसी शब्द से ठीक-ठीक नहीं हो सकती थी।[26] "समराइच्चकहा" से हमे यह भी ज्ञात होता है कि जब सीमान्त क्षेत्र के विग्रह नामक एक सरदार ने अपने स्वामी के विरुद्ध विद्रोह किया तो उसके स्वामी-पुत्र ने, जो विग्रह को ज्येष्ठ भ्राता समान मानता था, अपने लोगों को उसके विरुद्ध इसलिये बहुत सख्त कार्यवाही न करने की मन्त्रणा दी क्योंकि "वह हमारे पिता को कर दिया करता था। इसलिए यह हमारा सम्बन्धी है।"[27] इससे स्पष्ट है कि सामाजिक सम्बन्ध सदैव वश परम्परा से ही, जिस पर वर्णधर्म आधृत था, निर्धारित नहीं होते थे। कभी-कभी इनके पीछे राजनीतिक तथा सैनिक कारण भी हुआ करते थे। धर्मशास्त्रों के अनुसार राजा के आश्रित इस शबर सामन्त को अनार्य कहना चाहिए, लेकिन उसे राजा का पुत्रवत् माना गया है।

दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य की अवनति के साथ उत्तर भारत का राजनीतिक विघटन हुआ। राजस्थान, गुजरात और मालवा मे अनेक लघु राज्य अस्तित्व में आए। चाहमान पाँच शाखाओं में विभाजित थे और भड़ौच, जालौर (जाबालिपुर, 12 वीं शती के मध्य स्थापित), शाकम्भरी, नाडोल और रणथम्भौर में पृथक्तः शासन करते थे। भड़ौच तथा रणथम्भौर के चाहमान 13 वीं शती के प्रारम्भ में प्रसिद्ध हुए, किन्तु उनका अस्तित्व पहले से ही था। 12 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुहिलों ने जाबालिपुर के चाहमानों को परास्त किया और 1207 से लेकर 1227 के बीच किसी समय पूर्णतः स्वतंत्र हो गये। दिल्ली और अजमेर प्रदेश भी तोमरों के अधीन हो गया। इसी प्रकार मालवा और उसके आसपास के क्षेत्रों में शासन करने वाले परमार चार शाखाओं में विभक्त हुए। इनमें एक का केन्द्र मालवा था, दूसरे का आबु, तीसरे का भीनमाल और चौथे का किराडु। ये सभी शाखाएं बारहवीं शताब्दी में

शासन कर रही थीं। स्पष्टतः इनमें से कुछ का उदय राजकुमारों के बीच पैतृक सम्पत्ति के विभाजन के कारण हुआ। लेकिन शेष राज्य सामन्तों और उच्च पदाधिकारियों को अनुदान स्वरूप छोटे बड़े क्षेत्र दिये जाने के कारण अस्तित्व में आये। अनुदत्त क्षेत्रों में दानग्राहक धीरे-धीरे अपनी प्रतिष्ठा और शक्ति बढ़ा लेते थे और अन्ततोगत्वा स्वतंत्र शासक बन जाते थे।

उपर्युक्त लघु राज्यों के बीच चलने वाले निरन्तर युद्धों के प्रशासनिक एवं आर्थिक परिणामों का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। पुलिस, न्यायपालिका और राजस्व विभागों के बिना कोई राज्य नहीं चल सकता था। इनके अतिरिक्त प्रत्येक राज्य के अपने अलग सामन्त, पुरोहित तथा मन्दिर थे। स्पष्ट है कि इन सबका भार किसानों को वहन करना पड़ता होगा।

चाहमानयुगीन राजनीतिक सामन्तवाद की एक विशेषता राजस्व के लिए अनेक गांवों की इकाइयों का निर्माण है। चाहमानों और परमारों के राज्यों में ऐसी कई इकाइयों की चर्चा है। शायद ये इकाइयाँ शासक वंश के सदस्यों में पैतृक राज्य के विभाजन से बनी थीं। चाहमानों के कई अभिलेखों से सिद्ध है कि सामन्त नरेशों की भूमि उन परिजनों के बीच में बांट दी जाती थी। इसका सबसे पहला प्रमाण भूतपूर्व जयपुर राज्य से प्राप्त चाहमानों की शाकम्भरी शाखा का वि.सं. 1030 का एक अभिलेख है। इसके अनुसार राजा सिंहराज, उसके दो भाई वत्सराज और विग्रहराज, दो पुत्र चण्डराज और गोविन्दराज तथा दूर के एक रिश्तेदार जयनराज ने एक शिव-मन्दिर को अपने-अपने स्वभोग में से गांव और पुरष दान दिये थे।[28] स्पष्ट है कि इन सब को अपनी-अपनी पद-प्रतिष्ठा और राजसेवा के अनुसार निर्वाह के लिए जागीरें मिली हुई थी। इस अभिलेख से यह भी स्पष्ट है कि राजा ही नहीं बल्कि शासक परिवार के अन्य सदस्य भी स्वभोग में से चाहे जिसका जितना भी अंश दान में दे सकते थे।

ऐसे अनुदान से कुछ भिन्न उदाहरण हमें बारहवीं शताब्दी में मिलते हैं। 1143 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि श्रीसिहुणक नाम की एक चाहमान रानी को गिरास (ग्रास= भोजन और वस्त्र प्राप्त करने के साधन)[29] के रूप में एक गांव मिला था।[30] स्पष्टतः इस रानी को उसकी प्रतिष्ठा के अनुकूल एक निजी जागीर मिली हुई थी। राजकुल के सदस्यों द्वारा दान दिये जाने का एक स्पष्ट उदाहरण 1161 के एक नाडोल-दानपत्र में है। इसके अनुसार "राजकुल" अल्हणदेव और "कुमार" केल्हणदेव ने संयुक्त रूप से "राजपुत्र" कीर्तिपाल को बारह गांव समस्त अधिकारों के साथ दिये थे।[31] कीर्तिपाल को यह जागीर सदैव के लिए दे दी गयी थी, क्योंकि जब उसने एक जैन मन्दिर को इन गांवों में से प्रत्येक प्राप्त होने वाली आय से दो-दो सौ द्रम्मों का वार्षिक अनुदान दिया तब अपने उत्तराधिकारियों से अनुरोध किया कि वे उसके इस अनुदान की शर्तों का उल्लंघन न करें।[32] दसवीं शताब्दी के एक चाहमान अभिलेख से बारह गांवों की एक इकाई का उल्लेख मिलता है।[33] लेकिन यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है कि यह इकाई व्यक्तिगत जागीर के रूप में किसी को दी गयी थी या नहीं। शासक कुल के सदस्यों को भूमि अनुदान देने की प्रथा कीर्तिपाल के उत्तराधिकारियों के समय में भी मिलती है। 1176 के एक दानपत्रानुसार उसके दो पुत्र राजपुत्र लखणपाल और राजपुत्र अभयपाल सिनाणव गांव के भोक्ता थे।[34] एक और गांव पर भी, जिसका उपभोग ये रानी के साथ करते थे, इन दोनों भाइयों का स्वामित्व था, क्योंकि इन तीनों ने उस गांव के अरहट (रहट-कूप) से लाभ उठाने वालों से प्राप्त अपने हिस्से को संयुक्त रूप से दान कर दिया था।[35]

राजमहिषियों और राजपुत्रों को दिये गये अनुदान न तो धर्म के नाम पर दिये गये थे और न इन सभी का सम्बन्ध राजसेवा से था। स्पष्टतः रानियां प्रशासन में भाग नहीं लेती थीं। सिवाय उन रानियों के

जो किसी राजा के अल्पवयस्क होने पर उसकी संरक्षिका की हैसियत से राजकाज देखती थी), मगर "राजपुत्रों" के बारे में ऐसे नहीं कहा जा सकता। रामशरण शर्मा के अनुसार प्रारम्भ में "राजपुत्र" प्रतिष्ठा पाने वाले को किसी न किसी प्रकार की भूमि अनुदानित की जाती थी।[36] सम्भवत यह अनुदान ऐसे सामन्तों को दिया जाता था जिनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे राज्य की कुछ सेवा करेंगे। उदाहरण के लिए महाराज कीर्तिपाल के पुत्र महाराज समरसिंह के शासनकाल मे उसका मामा राजपुत्र जौजल "राज्यचिन्तक" पद पर काम करता था।[37] दशरथ शर्मा के अनुसार शासन का काम नाडोल परिवार चलाता था।[38] इतना निश्चित है कि सामन्तों से, जो मुख्यत राजा के सम्बन्धी-कुटुम्बी हुआ करते थे, आशा की जाती थी कि वे समय पड़ने पर राजा की सहायता करेंगे। इसके प्रतिदान स्वरूप राजा उन्हें जागीरें दिया करते थे। यह सहायता किस प्रकार की होती थी, कहना कठिन है। परवर्ती काल में जागीरदार युद्धकाल में अपने स्वामी की सहायता करते थे और जब कोई जागीरदार मरता था तो उसका उत्तराधिकारी उस जागीर पर अधिकार प्राप्त करने के पूर्व स्वामी को नजराना देता था। ये दो कर्तव्य पूर्ण करने के उपरान्त वे अपनी-अपनी जागीरों में छोटे-मोटे राजाओं की तरह लगभग निर्बाधरूपेण शासन करते थे।[39] सम्भव है कि पूर्ववर्ती चाहमानों के शासनकाल मे भी इसके सदृश स्थिति रही हो यद्यपि इस अनुमान के पक्ष में कोई सबल प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

परन्तु चाहमान काल में प्रशासन भार सम्पूर्णत शासक-परिवार के हाथों में ही नहीं था। यह मानने के लिए पर्याप्त प्रमाण है कि राज्य में कुछ ऐसे भी उच्च पदाधिकारी होते थे जिनका राजपरिवार से कोई सम्बन्ध नहीं था। 973 में महाराजाधिराज सिंहराज के दुस्साध्य धधुक ने अपने स्वामी की अनुमति से खट्ट कूप विषय स्थित अपना एक गाव शिव-मन्दिर को दान दिया था।[40] धधुक इस मन्दिर को दान देने वाले सात दाताओं मे से एक था। शेष छ दाताओं मे एक स्वय राजा था और पाच राजपरिवार के अन्य सदस्य। यही कारण है कि धधुक के अतिरिक्त जो छ अन्य दाता थे, उनको यह अनुदान देने के लिए किसी की अनुमति नहीं लेनी पड़ी थी।[41] स्पष्ट है कि धधुक को और भी गाव मिले हुए होंगे। लेकिन वह धार्मिक अनुदान भी दाता की अनुमति बिना नहीं दे सकता था, इसलिए उन पर उसके सीमित अधिकार ही प्राप्त रहे हैं। मारवाड़ से प्राप्त 1110 के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि अश्वराज के शासन काल में अश्वशालाध्यक्ष उप्पलराज ने चार ग्रामो से अरघट कर के रूप मे प्राप्त होने वाला अपने हिस्से का जौ एक मन्दिर को दान दे दिया था।[42] स्पष्टत वे गाव, जिनसे प्राप्त होने वाले कर का कुछ हिस्सा यह अधिकारी अपनी इच्छानुसार दान दे सकता था, राजा ने उसे सम्पूर्ण अधिकारों सहित प्रदान किये थे। रामशरण शर्मा के अनुसार चाहमान शासन के अन्तिम दिनो म मन्त्रियों को बड़ी बड़ी जागीरें दी जाती थीं।[43] तृतीय पृथ्वीराज का प्रमुख परामर्शदाता कदम्बवास "मण्डलेश्वर" उपाधि प्राप्त था। इससे प्रकट है कि या तो वेतनस्वरूप अथवा उसकी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर उसे एक सम्पूर्ण मण्डल दे दिया गया था।[44] इन तीन उदाहरणों से स्पष्ट है कि राजकुल से असबद्ध पदाधिकारियों को भी भूमि के अनुदान दे दिये जाते थे।

परमार अभिलेखों में शासक कुल के सदस्यों को भूमि अनुदान दिये जाने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। भोज के समय के वि स 1067 के एक दानपत्र[45] में वत्सराज को, जो सम्भवत किसी राजपरिवार में उत्पन्न हुआ था, अवश्य ही 'भोक्तारमहाराजपुत्र' कहा गया है, जो स्पष्टत "भोक्तृमहाराजपुत्र" का अशुद्ध रूप है। उसे मोहदवासक नाम की एक जागीर मिली हुई थी जो तब से लगभग साठ वर्ष पूर्व तक सीदक का "स्वभोग" थी।[46]

परन्तु चाहमान अभिलेखों की अपेक्षा परमार अभिलेखों में गावों की इकाइयों पर

हुआ है। कम से कम सात इकाइयों का उल्लेख तो मिलता ही है। इनमें से पांच, बारह या बारह के बहुगुणसंख्यक गांवों वाली इकाइयाँ थीं। सबसे बड़ी इकाई में 84 गांव थे। दो इकाइयाँ सोलह अथवा सोलह के बहुगुणसंख्यक गांव वाली थीं। रामशरण शर्मा के मतानुसार ये इकाइयाँ शासक कुल के अलग-अलग सदस्यों के अधीन स्वतंत्र राज्यों के समान थीं। यह पद्धति विजित प्रदेशों को प्रशासक परिवार के सदस्यों में बाँट देने की परिपाटी का परिणाम थी।[47] एक परमार अभिलेख में, जो 11 वीं शती के उत्तरार्द्ध का है, 84 करमुक्त गांवों का उल्लेख होने से यह अनुमान सरलता से होता है।[48] परवर्तीयुगीन राजपूताना में चौरासी गांवों की जो इकाइयाँ थीं वे शासक परिवारों के सदस्यों की जागीरें ही रही होंगी।

परमार अधिकारियों के लगभग आधे दर्जन पदों का उल्लेख उपलब्ध है परन्तु उनमें से कुछ को ही भूमि दिये जाने की चर्चा है। इनमें से एक दसवीं शती का महासाधनिक श्री महाइक था जिसका काम सम्भवतः अपराधियों को दण्डित करना और अपराधों की रोकथाम करना था। 11 वीं शती का कोई ऐसा अभिलेख नहीं मिलता।

परमार अभिलेखों में कुछ अधीनस्थ सरदारों और सामन्तों का भी उल्लेख है। इनमें कुछ को प्रशासन के लिए बड़े-बड़े क्षेत्र दिये गये थे। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण शूरादित्य का एक सामन्त है। वह कन्नौज के श्रवणभद्र के परिवार का था और भोज या उसके पिता सिन्धुराज द्वारा संगमखेट का मण्डलेश्वर नियुक्त किया गया था। इस कृपा के प्रतिदानस्वरूप वह अपने स्वामी को सैनिक सहायता देता था।[49] हो सकता है कि वह यदा-कदा अथवा नियमित रूप से कुछ कर भी देता रहा हो, यद्यपि अभिलेखों में इसकी कोई चर्चा नहीं है।

गुजरात के चौलुक्य राज्य में त्रिलोचनपाल के 1051 के एक दानपत्र में नौ-नौ सौ और बयालीस-बयालीस गांवों के समूहों का उल्लेख मिलता है।[50] यह उदाहरण भी विजेता कुल के सदस्यों द्वारा पैतृक सम्पत्ति परस्पर विभाजित कर लेने की प्रथा का स्मरण दिलाता है। परन्तु जैसा कि रामशरण शर्मा ने ध्यान दिलाया है, एक बात में चौलुक्य राजवंश अन्य समकालीन राजवंशों से भिन्न था। चौलुक्य नरेशों ने अपने सामन्तों और उच्च पदाधिकारियों को अनुदानस्वरूप बहुत बड़े-बड़े भूखण्ड प्रदान किये थे। परिणामतः इसके पदाधिकारियों की स्थिति सामन्तों की तरह ही हो गयी थी। इस अनुमान का एक आधार न केवल उनके 12वीं - 13 वीं शताब्दियों के दानपत्र हैं वरन् "लेखपद्धति" नामक लेख संकलन से भी इसकी पुष्टि होती है।[51] "लेखपद्धति" का संकलन 15 वीं शताब्दी में हुआ था। इसमें राजकीय प्रपत्रों के उदाहरण दिये गये हैं। इसमें उद्धृत जिन प्राचीनतम प्रपत्रों में महामात्यों और राणकों द्वारा अनुदान दिये जाने का उल्लेख मिलता है उनका काल वि.सं. 802 बताया गया है। इन प्रपत्रों के अनुसार महामात्यों और राणकों ने अपने-अपने सामन्तों को बड़ी-बड़ी जागीरें दीं और प्रतिदानस्वरूप उन सामन्तों ने अपने-अपने स्वामियों को एक निश्चित संख्या में घोड़े देने और अपनी-अपनी जागीरों में शांति और सुव्यवस्था बनाये रखने का दायित्व लिया।[52] इससे निष्कर्ष निकलता है कि 8 वीं शती में गुजरात में इस सामन्तवादी प्रवृत्ति का पर्याप्त विकास हो चुका था। किन्तु इस निष्कर्ष की पुष्टि किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती। दूसरी ओर जिन शासन-पत्रों को "लेखपद्धति" में वि.सं. 802 का बताया गया है वे उससे 500 वर्ष बाद की शैली में लिखे गये प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ, इनमें एक राजा के लिए "गर्जनिकाधिराज" (महमूद गजनवी) विजेता विशेषण का प्रयोग हुआ है जिसका प्रयोग 8 वीं शती ई. में स्पष्टतः असम्भव था।[53] इसके बाद इस विशेषण का प्रयोग 1206 और 1223 के *अभिलेखों में हुआ है। फिर भी,* "लेखपद्धति" में संकलित प्राचीनतम प्रपत्र का काल 12 वीं शती का उत्तरार्द्ध तो माना ही जा सकता है। इस प्रपत्र में

दो ऐसे वाक्यांशों का प्रयोग है जो इस काल के चौलुक्य अभिलेखों में विशेष रूप पाये जा. एक है "तन्नियुक्त महामात्य—श्री श्री करणादिसमस्त मुद्राव्यापारान् परिपन्थयति सति" और दू "नियुक्त दण्डनायक"। इसलिए इस सकलन में जिन अनेक प्रपत्रों का समय वि स. 1228 बताया गया, वे इससे बहुत बाद के नहीं हो सकते। इनसे से एक प्रपत्र से महासामन्त लवणप्रसाद के जीवन और कार्यों पर काफी प्रकाश पड़ता है। उसका सामन्त के रूप मे उल्लेख सबसे पहले अजयपाल के 1173 के एक अभिलेख में उपलब्ध है। उसे "भैल्लस्वामी महाद्वादशक मण्डल" में स्थित उदयपुर का दण्डनायक नियुक्त किया गया था जहाँ उसने 64 गावों की एक इकाई मे से शिव के नाम पर एक गाव दान दिया था। लवणप्रसाद के अधिकार में चाहे जितना भी क्षेत्र रहा हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि वह राजा की अनुमति लिये बिना भी अपने क्षेत्र मे भूमि दान दे सकता था। दूसरे शब्दों मे उसकी प्रतिष्ठा सामन्त राज जैसी थी। "लेखपद्धति" में सकलित 1231 के एक प्रपत्र से ज्ञात होता है कि भीम के शासनकाल में वह महामण्डलाधिपति राणक था, और उसे अपने स्वामी से प्रसादपत्तला (जागीर) के रूप में खेटकाधार का पथक मिला हुआ था। इस जागीर के मिल जाने से उसकी शक्ति और प्रभाव में बहुत वृद्धि हुई क्योंकि 1173 के उपर्युक्त अभिलेख के अनुसार वह अजयपाल द्वारा नियुक्त एक दण्डनायक (तन्नियुक्त दण्डनायक) मात्र था, अब उसने खेटकाधार मे माधव नामक व्यक्ति को स्वय अपना दण्डनायक नियुक्त किया (तन्नियुक्त दण्डनायक श्रीमाधव)। अजयपाल के शासनकाल का एक अन्य शक्तिशाली सामन्त चहमान महामण्डलेश्वर वैजल्लदेव था। वह 1175 मे राजकृपा से नर्मदा तटवर्ती प्रदेश का शासक था। (अजयपाल देवेनप्रसादी कृत्य)[54]। उसने अपने मण्डल में अपने स्वामी की अनुमति लिये बिना एक गाव दान दिया था। स्पष्टत वैज्जलदेव को अपनी जागीर मे उपसामन्त बनाने का अधिकार प्राप्त था। यह स्पष्ट नहीं है कि वैजल्लदेव ने जिस पथक में यह अनुदान दिया था वह उसे अजयपाल ने किसी पत्तला[55] द्वारा दिया था अथवा नहीं। गुजरात में पत्तला का प्राचीनतम अभिलेखीय उदाहरण 1209 मे महामात्य प्रतिहार सोमराजदेव के नाम जारी किये गये उस दानपत्र के रूप मे है जिसके अनुसार उसे भीमदेव से सम्भवत समस्त सौराष्ट्र मण्डल जागीर के रूप में प्राप्त हुआ था।[56] तदुपरान्त 1260 मे एक पत्तला का उल्लेख मिलता है। इसमें किसी महामण्डलेश्वर राणक को जागीर के रूप में शायद एक पथक दिया गया था।[57]

उपर्युक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि राजस्थान के प्राय सभी राजवशों के शासक अपने-अपने सामन्तो और पदाधिकारियों को उनकी सेवाओ के बदले में अनुदानस्वरूप गाव दिया करते थे। इसके अतिरिक्त 11 वीं और 12 वी सदियों मे पदाधिकारियों को वेतन देने की एक अन्य विधि के रूप में नियमित करों का कुछ अंश अथवा कोई विशिष्ट कर उनके लिए अलग कर दिया जाता था। चाहमानों के काल में यह प्रथा बहुत सीमित थी। उन्होने बलाधिपों के लिए, जो एक प्रकार के सैनिक अधिकारी थे, गावों से एक विशेष कर वसूल किया। 1162 के एक दानपत्र में कुमारपाल चौलुक्य के सामन्त आल्हन ने एक गाव का बलाधिपाभाव्य एक मन्दिर को अनुदान में दिया और दूसरे का दूसरे मन्दिर को।[58] दशरथ शर्मा ने इस कर को उस मण्डपिका (चुगीघर) से होने वाली राजकीय आय का एक भाग माना है जिससे बलाधिप सम्बन्धित था। किन्तु इन दोनों उदाहरणो में यह शुल्क ग्रामवासियों पर ही लगाया गया है। रामशरण शर्मा का विचार है कि यह किसानों से लिया जाने वाला गहड़वालों के अक्षपटलप्रस्थ और प्रतिहारप्रस्थ करों जैसा कोई कर था।[59]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विचाराधीन काल में राजस्थान में सामन्त और स्वामी का सम्बन्ध अंशत वैसा ही था जैसा की सामन्तवादी व्यवस्था में फ्रास तथा जर्मनी में मिलता है। इन दोनों देशों में

सामन्त का मुख्य दायित्व अपने स्वामी की सैनिक सेवा करना था।[60] भारत के पुरालेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य से सिद्ध है कि यहाँ भी सामन्त का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य अपने स्वामी की सैनिक सहायता करना ही था। बाण के "हर्षचरित" एवं धनपाल द्वारा रचित "तिलकमञ्जरी" से स्पष्ट है कि सामन्त अपने स्वामी के सैनिक अभियानों में उसके साथ रहते थे।[61] मेरुतुंग की "प्रबन्धचिंतामणि" से भी ऐसा ही लगता है।

इस काल में अधिकारियों को वेतनस्वरूप भूमि अनुदान तो दिये जाते ही थे, साथ ही उन्हें बड़ी-बड़ी उपाधियाँ भी दी जाती थी। इन उपाधियों का उनके कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं होता था।

सामन्ती श्रेणियों का विस्तृत वर्णन हमें 12वीं शती की कृति 'मानसार' में मिलता है। इसके बयालीसवें अध्याय में राजाओं की नौ श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। इनमें सबसे ऊपर "चक्रवर्ती" है। उसके बाद क्रमशः महाराज अथवा अधिराज, महेन्द्र या नरेन्द्र, पाणिक, पट्टधर, मण्डलेश, पट्टमाज, प्रहारक और अस्त्रग्राही अनुसूचित हैं।[63] उनकी महत्ता के अनुसार यह भी निश्चित किया गया है कि वे क्रमशः कितने घोड़े, सैनिक, सेविकाएँ और रानियाँ रख सकते थे। बारहवीं शताब्दी में भट्ट भुवनदेव ने भी अपनी कृति "अपराजितापृच्छा" में नौ प्रकार के शासकों का महत्व क्रमानुसार वर्णन किया है।[64] वे इस प्रकार हैं —महीपति, राजा, नराधिप, महामण्डलेश्वर, माण्डलिक, महासामन्त, सामन्त, लघुसामन्त, और चतुरांशिक। इनमें से प्रत्येक के पास कितना क्षेत्र होना आवश्यक है, यह भी इस ग्रन्थ में वताया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में सामन्ती राजसभा के गठन का भी वर्णन है। इसके अनुसार सम्राट् की (जिसका विरुद "महाराजाधिराज परमेश्वर" वताया गया है) सभा में 4 मण्डलेश, 19 माण्डलिक, 16 महासामन्त, 32 सामन्त, 160 लघुसामन्त और 400 चतुरांशिक होने आवश्यक हैं। चतुरांशिक से नीचे के समस्त राजपुरुषों को "राजपुत्र" कहा गया है।[65] इसमें कुछ की आय के वारे में भी चर्चा है। इसके अनुसार लघुसामन्त की आय 5000, सामन्त की 10,000 और महासामन्त की 20,000 होनी चाहिए। इसकी पुष्टि 14 वीं शताब्दी के वास्तुकला सम्बन्धी ग्रंथ "राजवल्लभ मण्डण" से भी होती है।[66] "अपराजितापृच्छा" में सामन्तों द्वारा प्रजा से वसूल किये जाने वाले राजस्व की दर के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, लेकिन इसमें राजनीतिक तथा आर्थिक सत्ता की दृष्टि से एक श्रेणीबद्ध समाज का चित्र अवश्य देखने को मिलता है।

## पाद-टिप्पणियां

1. हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास।
2. अग्रवाल, हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, परिशिष्ट 2
3. शुक्ल, डी.सी., अर्ली हिस्ट्री ऑफ राजस्थान, दिल्ली
4. शर्मा, जी. एन., पी. आर.एच. सी., 1970, पृ. 40
5. शर्मा, आर .एस., भारतीय सामन्तवाद।
6. मजूमदार, आर. सी., एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ. 19
7. शर्मा, दशरथ, रा. थ्रू.ए., पृ. 472 अ.।
8. शर्मा, आर. एस., भारतीय सामन्तवाद, पृ. 82 पर उद्धृत।
9. इ.आई. 5, पृ. 208 अ.।
10. इ.आई., 3, पृ. 266
11. शर्मा, रामशरण, पृ. 80-81

12 इ आई., 3, पृ 266
13 वही।
14 वही, 5, पृ 208
15 वही, 3, पृ 266
16 वही, 14, पृ 187
17 गोयल, एस आर ए, हिस्ट्री ऑफ दि इम्पीरियल गुप्ताज, पृ 295 अ 1
18 शर्मा, आर एस, पृ 98
19 इ आई, 14, पृ 187
20 वही।
21 वही, 1, पृ 173
22 इ आई, 4, पृ 309 10
23 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ 100
24 पी आई एच सी, 24 1961, पृ 80-81
25 वही।
26 शर्मा, आर एस, भारतीय सामन्तवाद, पृ 101
27 पी.आई एच सी, 1961, 24, पृ 81
28 इ आई 2, पृ 116
29 *तुलनीय, छठी शती में मगध की रानी कोसलादेवी को अपने पिता से स्नानचूर्ण मूल्य रूप में काशी के ग्रामों की प्राप्ति तथा मध्यकालीन रानियों का सर्व ए पानदान। दे गोयल श्रीराम एवं गुप्त शिवकुमार (सम्पा.) मागध साम्राज्य का उदय, 1981, पृ 90 तथा पाद-टिप्पणी।*
30 इ आई, 11, पृ 32-33
31 वही, 9, पृ 66-67
32 वही।
33 वही, 2 पृ 119
34 इ आई, 11, पृ 50 51
35 वही।
36 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ 182
37 इ आई, 11, पृ 53
38 अ पी.श्र, पृ 228 229
39 दे, इसी ग्रन्थ में डॉ आर पी व्यास का लेख।
40 इ आई, 2, पृ 119
41 वही।
42 वही, 11, पृ 28 29
43 शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ 183
44 अ पी श्र, पृ 224, पाद टिप्पणी, 35
45 इ आई., 33 पृ 192
46 वही, 19, पृ 242
47. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ 184
48 इ आई., 19 पृ 72,
49 इ आई., 19, पृ 242
50 वही, 12, पृ 196
51 शर्मा, भारतीय सामन्तवाद, पृ 187-88
52 शर्मा, आर एस., भारतीय सामन्तवाद, पृ 183
53 वही।
54 आई ए., 18, पृ 84-85

55. 'लेखपद्धति' के अनुसार 'पत्तला' शब्द का अर्थ है वह दानपत्र जिसमें राजा कुछ निर्धारित सेवाओं के बदले किसी को जागीर दे।
56. आई. ए., 18, पृ. 113
57. इ. आई., 18, पृ. 210
58. अ. चौ. डा., पृ. 212
59. शर्मा, रामशरण, भारतीय सामन्तवाद, पृ. 194
60. इंग्लैण्ड में उन्हें अपने स्वामी को राजकाज में परामर्श देना और न्याय प्रशासन में हाथ बटाना पड़ता था। भारत में सामन्तों को कोई ऐसा कर्त्तव्य नहीं निभाना होता था।
61. तिलकमञ्जरी, पृ. 71, 74, 93, 100.
62. प्रबन्धचिंतामणि, पृ. 17,32,80।
63. आचार्य, पी. के., मानसार सिरीज 6, पृ. 125
64. मांकड, पी. ए. जी. ओ. एस., पृ. 12
65. अग्रवाल, वा.श., हर्षचरित, एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 178, पाद-टिप्पणी, 3
66. वही, पृ. 203 पर उद्धृत

12

# राजपूतों की उत्पत्ति : पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान में राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक प्रक्रियाएं*

बी.डी. चट्टोपाध्याय

*राजपूतों की उत्पत्ति एक अत्यंत कर्णभेदी विषय रहा है जिसको पूर्व मध्ययुगीन एवं मध्ययुगीन भारत* से संबंधित ऐतिहासिक रचनाओं में पर्याप्त खींचातानी हुई है। इन रचनाओं में विभिन्न मतों में परस्पर अत्यधिक विरोध दृष्टिगोचर होता है। एक ओर तो राजपूतों का संबंध गुप्तोत्तरकालीन विदेशी प्रवासियों से जोड़ते हुए उनकी उत्पत्ति से संबंधित 'अग्निकुल' नामक उत्तरकालीन गाथा को शुद्धिकरण कथानक का रूप दिया गया है और दूसरी ओर राजपूतों को विशुद्ध क्षत्रिय कुलों से उत्पन्न प्रदर्शित करने के लिए जबरदस्ती औचित्यता दिखाने का प्रयास किया गया है।[1] राष्ट्रीयतापूर्ण इतिहास लेखन के चरमोत्कर्ष काल में राजपूतों की स्वदेशी उत्पत्ति के सिद्धांत ने एक विशिष्ट प्रतीकात्मक रूप धारण कर लिया था और विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक एवं विशुद्ध साहित्यिक रचनाओं में राजपूतों के सैनिक एवं शौर्यपूर्ण गुणों को बारंबार प्रस्तुत किया गया। ऐतिहासिक रचनाओं के स्तर पर सी. वी. वैद्य को इस दृष्टिकोण की पराकाष्ठा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। वे लिखते हैं :

> "अब जो राजपूत प्रकाश में आए और जो अपने शौर्य से मध्ययुगीन भारतीय इतिहास को गौरव प्रदान करते हैं, वे वैदिक आर्यों के वंशजों के अतिरिक्त और कोई हो ही नहीं सकते। वैदिक आर्यों के अलावा कोई भी अपने पूर्वजों के धर्म की रक्षा के लिए इतना वीरतापूर्वक नहीं लड़ सकता था।"[2] इस दृष्टिकोण का एक अन्य पक्ष हाल की रचनाओं में दोहराए गए इस प्रस्ताव से प्रकट होता है कि राजपूतों का उदय विदेशी आक्रमणों का विरोध करने की प्रक्रिया के दौरान हुआ और यह कि उन्होंने 'स्वेच्छापूर्वक राष्ट्र और उसके लोगों एवं संस्कृति की रक्षा के लिए क्षत्रियों के कर्तव्य का भार अपने कंधों पर ले लिया।"[3] (रेखांकन हमारी ओर से)

घटनात्मक राजनीतिक इतिहास के स्तर पर राजपूतों के प्रारंभिक इतिहास का पुनर्गठन एक ऐसे स्वरूप का अनुसरण करता है जिसे हाल में 'वंशीकरण' की प्रवृत्ति की संज्ञा दी गई है। यह प्रवृत्ति अभिलेखों में पाई जाने वाली वंशावलियों का अध्ययन करने वाले अधिकांश प्रयासों में दृष्टिगोचर होती है और इन प्रयासों के फलस्वरूप प्रकट होने वाला तथ्य है : 'अनिश्चित तिथि एवं वंश के अनेक शासकों के अभिलेखों को वंशात्मक ढांचे में तर्कसंगत ढंग से बैठाने की प्रथा और उसके द्वारा आंकड़ों का अभाव होते हुए भी उन पर लौकिक एवं प्रजननात्मक नातेदारियां प्रदान करना' और इसके अतिरिक्त इससे भी अधिक व्यापक यह प्रथा जिसके अनुसार छोटी-छोटी वंशावलियों के सानिध्य एवं श्रृंखलाबंधन से प्रभावशाली पूर्ण वंशावली में आरोपित किया जाता था —यह पूर्ण वंशावली वास्तव में

योग से कहीं अधिक बड़ी बन जाती है।'[4]

राजपूतों के आरम्भिक इतिहासों से संबंधित अधिकांश नवीनतम रचनाएं भी इन धारणाओं एवं रीतियों से अधिक भिन्न नहीं है। इसका परिणाम यह है कि राजस्थान से संबंधित विस्तृत अध्ययनों में भी पूर्व मध्ययुगीनकाल में राजपूतों की उत्पत्ति का विश्लेषण ऐसी प्रक्रिया के रूप में कभी नहीं किया गया जिनकी समांतर प्रक्रियाएं संभवत: इस क्षेत्र के बाहर होने वाली पूर्व मध्ययुगीन गतिविधियों में हुई हों। अत:, राजपूतों के पृथक् रूप से किये गये अध्ययनों में, सरल सामान्यीकरणों को छोड़कर बहुत कम ही उन कारकों का उल्लेख किया गया है जो पूर्व मध्ययुगीन भारत में क्रियाशील थे।[5] यह स्वीकार किया जा सकता है कि संभवत: राजपूतों के उदय का स्वरूप पश्चिमी भारत के बाहर होने वाली गतिविधियों से विशेष रूप से हटकर हो फिर भी यह अनुरोध उचित ही है कि इस पूर्ण घटना का विश्लेषण एक संपूर्ण प्रक्रिया के रूप में होना चाहिए। प्रस्तुत लेख में इस प्रक्रिया एवं कालांतर में राजपूत कहलाए जाने वाले कुलों के इतिहास के आरम्भिक चरणों का अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।[6] यह प्रयास अभीष्ट पूर्णतर अध्ययन की एक रूपरेखा मात्र है।

पूर्व मध्ययुग में अत्यंत लोकप्रिय होने वाले पारम्परिक 'क्षत्रिय' स्तर के दावों के हाल के विश्लेषणों[7] ने इस लेख की सामान्य रूपरेखा प्रदान की है। ये दावे मूलभूत वंशोत्पत्ति को प्रकट करने के बजाय उनसे बचने के प्रयास थे और वे राजनय के उस स्वरूप पर बल देते हैं जिसमें नवोदित सामाजिक वर्ग अपनी नवप्राप्त शक्ति को वैधता प्रदान करने के लिए अनेक प्रतीकों का सहारा लेते रहे। इसके अतिरिक्त, परम्परागत वर्ण श्रेणियों के समान 'राजपूत' भी स्थान एवं समय की दृष्टि से एक सम्मिश्रणात्मक शब्द है और हाल तक यह कबीले से राज्य रूप में परिवर्तन का एक मान्य माध्यम रहा है।[8] अत: भिन्न कालों एवं भिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील राजपूतीकरण की प्रक्रियाएं भिन्न रही होंगी और प्रस्तुत समस्या को प्रभावित करने वाली राजपूतीकरण की अवधारणा को उसी सीमा तक उचित माना गया है जहां तक वह मध्ययुगीन राजपूत विषय के एक प्रक्रिया के रूप में अध्ययन की आवश्यकता पर बल देती है, न कि विशिष्ट वंशों की प्रामाणिक अथवा मनगढ़ंत वंशपरम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में।

संबंधित प्रक्रियाओं का एक आरम्भिक अनुमान 'राजपूत' शब्द को परिभाषित करने की चेष्टा द्वारा लगाया जा सकता है। कुछ अभिज्ञेय कुलों के संबंध में स्पष्ट प्रमाणों और अभिलेखों एवं साहित्य में 'राजपुत्रों' के प्राय: उल्लेखों के होते हुए भी, अन्य कालों के समान पूर्व मध्ययुग में भी राजपूतों को अ-राजपूतों से अलग करना शायद आसान नहीं होगा। उत्तरकालीन साहित्य में से प्रमाणों के बाह्याकलन द्वारा आरम्भिक राजपूतों को पहचाना जा सकता है। 'कुमारपालचरित'[9] एवं 'वर्णरत्नाकर'[10] जैसी अपेक्षाकृत प्राचीन कृतियों में परम्परागत 36 राजपूत कुलों की सूचियों से संबंधित वक्तव्य मिलते हैं। 'राजतरंगिणी'[11] में भी 36 की संख्या का उल्लेख है। चूंकि ये सूचियां एक दूसरे से मेल नहीं खाती,[12] अत: इन विभिन्न सूचियों की रचना के विश्लेषण से प्रकट होता है कि उनकी संरचना ऐसे ढंग से नहीं हुई थी जो समकालीन संग्रहकर्ताओं द्वारा अपरिवर्तनीय समझी जाती। यदि 'राजपुत्रों' के पूर्व मध्ययुगीन एवं मध्ययुगीन उल्लेखों पर नजर डाली जाए तो वे एक 'मिश्रित जाति'[13] का प्रतिनिधित्व करते हैं और 'जागीरों के छोटे-छोटे मुखियों का एक पर्याप्त विस्तृत अंश थे।'[14] कम से कम राजपूत शक्ति के दृढ़ीकरण के आरम्भिक चरणों में किसी विशिष्ट कुल का समकालीन स्तर ही उसका राजपूत कुलों में सम्मिलित होने का आधार प्रस्तुत करता था। किन्तु संभवत: उनकी राजनीतिक प्रभुसत्ता के कारण ही चाहमानों अथवा प्रतिहारों जैसे कुछ कुलों के नाम नियमित रूप से सूचियों में मिलते हैं। उनसे संबंधित सामग्री भी प्रचुर

मात्रा में उपलब्ध है और इसलिए प्रस्तुत लेख में अन्य कुलों की अपेक्षा इन कुलों का उल्लेख अधिक होगा।

पूर्व मध्ययुगीन दस्तावेजों में राजपूतों के उदय की प्रक्रियाओं के दो महत्वपूर्ण संकेतक हैं। जैसा इन प्रमाणों से प्रकट होता है, एक स्तर पर तो सम्भवत: प्रक्रिया को नये क्षेत्रों के उपनिवेशीकरण के [illegible] के साथ जोड़ना होगा। इस उपनिवेशीकरण के प्रमाण बस्तियों की संख्या में होने वाली महत्वपूर्ण वृद्धि में ही नहीं, अपितु कुछ अभिलेखीय उल्लेखों में भी दृष्टिगोचर होते है जिनसे कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के विस्तार का संकेत मिलता है। विस्तृत ऐतिहासिक भौगोलिक अध्ययन की अनुपस्थिति में बस्तियों की संख्या की वृद्धि का दावा करना केवल आभासात्मक है। किंतु पुरातात्विक अवशेषों के विस्तृत वितरण[15] तथा इस काल के अभिलेखों और अनेक नए स्थान-नामों के परिप्रेक्ष्य में उपरोक्त अनुमान की वैधता के बारे में कोई संदेह नहीं हो सकता। दक्कन के संख्याओं से युक्त क्षेत्रीय विभागों के समान ही [16] चाहमानों के राज्य को इंगित करने वाला 'सपादलक्ष' [17] नाम भी सम्भवत: ग्रामीण बस्तियों के विस्तार की ओर इंगित करता है। वास्तव में 'स्कंद पुराण' में वर्णित वागुरी 80,000 अथवा विराट 36,000 जैसे संख्याओं से युक्त कुछ क्षेत्रीय विभागों को राजस्थान में ही रखा गया है।[18] नाडौल चाहमान राज्य 'सप्तशत' के नाम से विख्यात था और इस वंश से संबंधित तथा खनन से प्राप्त एक अभिलेख में इस बात का दावा किया गया है कि एक चाहमान नरेश ने 'सीमाधिपों' (अपने राज्य की सीमाओं के प्रमुखों) का दमन करके तथा उनके ग्रामों को अपने राज्य में मिलाकर, उसे 'सप्तसाहस्रिक' बना दिया। [19] लगभग 12वीं शताब्दी के अभिलेखों में आबू क्षेत्र 'अष्टादशशत' के नाम से विख्यात था।[20] यदि ये प्रमाण कुल मिलाकर बस्तियों के प्रगुणन का संकेत देते है तो कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था के विस्तार के माध्यम से इस प्रक्रिया का संबंध लगभग सातवीं शताब्दी से होने वाले प्रारंभिक राजपूतों के उदय से स्थापित किया जा सकता है। सिंचाई पर आधारित कृषि [21] का उल्लेख करने वाले किष्किंधा [22] एवं धवगर्त के गुहिलों[23] के अभिलेखों के अतिरिक्त मंडोर प्रतिहारों के अभिलेखों से इसके और अधिक स्पष्ट संबंध का संकेत मिलता है। कक्कुक के 861 ई. के घटियाला अभिलेख [24] में उसे अगम्य वटनानक क्षेत्र में मवेशियों के अतिक्रमण तथा अग्नि द्वारा ग्रामों के विध्वंस का श्रेय दिया गया है। कक्कुक ने इस क्षेत्र को 'नीलकमल के पत्तों से सुगंधित एवं आम कुंजों तथा मधुक वृक्षों से मनोहारी बना दिया और अत्युत्तम गन्ने' के पौधों से आच्छादित किया।' उसी के काल में और 861 ई. के ही एक अन्य घटियाला अभिलेख [25] में एक स्थान के पुनर्वास का उल्लेख करते हुए उसे 'आभीरजनदारुण,' अर्थात 'आभीरों के निवास के कारण भयानक' कहा है। उस स्थान को तो जीत लिया गया, और रोहिंसकूप नामक ग्राम तथा मंडोदर (जिसकी तादात्म्यता मंडोर से की गई है) में भी बाजारों का प्रबंध किया गया। घटियाला अभिलेखों में बार-बार कहा गया है कि कक्कुक ने इस क्षेत्र में 'हट्ट' एवं 'महाजन' स्थापित किए, जो ऐसा प्रतीत होता है कि साधुजनों के निवास के अयोग्य होने के कारण (असेव्य: साधुजनाना) अब ब्राह्मणों, सैनिकों एवं व्यापारियों द्वारा खचाखच भर गए। शबरों, भिल्लों एवं पुलिंदों के दमन[26] का वर्णन करने वाले पश्चिमी एवं मध्य भारत के कुछ अन्य अभिलेखों की रोशनी में देखने पर राजस्थान से प्राप्त उपरोक्त साक्ष्य एक प्रक्रिया के दो महत्वपूर्ण पक्षों को प्रकट करते हैं। प्रथमत., बाद में राजपूत शक्ति कहलाई जाने वाली शक्ति का क्षेत्रीय विस्तार, कम से कम कुछ क्षेत्रों में, भूतपूर्व कबायली बस्तियों का अंत करके किया गया था। गुहिलों एवं चाहमानों के संबंध में भी विस्तार की ऐसी प्रक्रिया दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि सातवीं शताब्दी ई. जैसे आरम्भिक काल में भी राजस्थान के विभिन्न भागों में गुहिल बस्तियों के प्रमाण मिलते हैं किन्तु [illegible] गुहिलों के अभिलेखों में वर्णित कुछ उत्तरकालीन परम्पराएं उनका आगमन गुजरात से बताती हैं। [27] एक [illegible]

से पता चलता है कि दक्षिणी राजस्थान का गुहिल साम्राज्य भीलों के पूर्ववर्ती

पर बना था।[28] गुहिल नरेशों के राज्यारोहण समारोह में भीलों की भूमिका[29] में निहित गुहिल-भील पारस्परिक संबंधों का संकेत एकलिंगजी मंदिर के 1282 के एक अभिलेख में भी मिलता है:

> राजा अल्लट के शत्रु रणक्षेत्र में (उसके प्रति) अपनी घृणा अभिव्यक्त करने में निर्वीर्य होने के कारण भिल्ल नारियों को अनादर की दृष्टि से देखते हैं। ये नारियां प्रत्येक पर्वत पर प्रसन्नतापूर्वक उसके कृत्यों की चर्चा करती हैं।[30]

चाहमानों के अभिलेखों में वर्णित परम्पराओं के अनुसार उनका विस्तार अहिच्छत्रपुर से शाकंभरी अथवा जांगलदेश की ओर हुआ था। जांगलदेश के नाम एवं भू-आकृति[31] के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उपरोक्त विस्तार के फलस्वरूप सामान्यतया एक निर्जन प्रदेश का उपनिवेशीकरण हुआ था। चाहमान वंश की नाडौल शाखा की स्थापना लक्ष्मण द्वारा गोद्वार क्षेत्र में हुई थी। 'पुरातनप्रबंधसंग्रह' एवं 'नैणसी की ख्यात'[32] में वर्णित परम्परा के अनुसार लक्ष्मण की सैनिक निर्भीकता के फलस्वरूप ही उस क्षेत्र के मेद लोगों के दमन के बाद राज्य की स्थापना हुई थी। इसी प्रक्रिया का एक अन्य उदाहरण 'पल्लिवल चंद' के चारणी कथानकों में मिलता है, जो यह बताते हैं कि किस प्रकार मेद एवं मीना लोगों को दूर करने के लिए राठोड़ सिंह को बुलाया गया था।[33] दूसरे, जैसा कि प्रतीहार कक्कुक के अभिलेखों के संदर्भ में कहा जा चुका है, नये क्षेत्रों को बसाने की प्रक्रिया के साथ-साथ एक ऐसी अर्थव्यवस्था भी जुड़ी थी जिसे अपेक्षाकृत अधिक विकसित कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, इसका अर्थ यह हुआ कि जब राजपूत राजनय व्यवस्था का उदय हो रहा था तो राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों में कबायली क्षेत्रों के रूपान्तरण की प्रक्रिया चल रही थी। भारत में अन्यत्र होने वाले ऐसे संक्रमण से उत्पन्न परिवर्तनों के कुछ पक्षों के अस्तित्व की अपेक्षा पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान में भी की जा सकती है।

जैसा कि दूसरे चिह्न से प्रकट होता है, राजपूतों के उदय को केवल उपनिवेशीकरण के परिप्रेक्ष्य में ही देखना संपूर्ण प्रक्रिया को गलत दृष्टिकोण से लेना होगा। इस संदर्भ में हम अभिलेखों द्वारा प्रस्तुत दूसरे संकेत की ओर दृष्टिपात करते हैं। यह तथ्य कि इसी काल के दौरान अन्यत्र क्षत्रिय स्तर की ओर गतिशीलता की प्रक्रिया क्रियाशील थी, हमें राजस्थान में भी उसके दृष्टांत खोजने की ओर अग्रसर करता है। इस संदर्भ में राजपूत कुलों की सूचियों में सम्मिलित दो वर्गो के उदाहरण अत्यंत महत्वपूर्ण हैं , एक तो मेद लोग जो कबायली पृष्ठभूमि से राजपूत स्तर को प्राप्त करने में सफल बताये जाते हैं ।[34] दूसरा उदाहरण हूणों का है।[35] इन दो वर्गों का राजपूती कुल के ढांचे में सम्मिलित होना इस धारणा को असत्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यह ढांचा केवल ऐसे वर्गो द्वारा बना था जो आरम्भ से ही 'विदेशी' अथवा 'स्वदेशी' वंशक्रम में निबद्ध थे।

## II

कुछ स्रोतों में 'राजपुत्रों' के मिश्रित जाति के होने के उल्लेखों के अतिरिक्त मेदों एवं हूणों से संबंधित उपरोक्त प्रमाणों से इस बात की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है कि राजपूत कुलों के आदि वंशज की नहीं अपितु उन ऐतिहासिक चरणों की खोज की जाए जिनके माध्यम से राजपूत कुल ढांचे का विकास हुआ। ऐसा अध्ययन आरम्भ में उन प्रमुख कुलों के संदर्भ में किया जा सकता है जिन्होंने पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान में राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्रस्तुत लेख के उद्देश्य से इन कुलों में प्रतीहारों, गुहिलों एवं चाहमानों को सम्मिलित किया गया है।

सर्वप्रथम हम प्रतीहारों की चर्चा करेंगे। यद्यपि 'गुर्जर-प्रतीहार' समास में गुर्जर शब्द का संबंध लोगों से न जोड़कर प्रदेश से जोड़कर [36] प्रतीहारों को गुर्जरों से पृथक सिद्ध करने का भरसक प्रयास किया गया है फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग आठवीं शताब्दी में प्रभुता प्राप्त करने वाले प्रतीहार वास्तव में गुर्जर नस्ल के ही थे। प्राचीनकाल में 'जनपदों' और कबीलों के नाम प्राय. आपस में बदले जा सकते थे। [37] दूसरे, यह तर्क भी न्यायसंगत नहीं है कि प्रतीहारवंशी पशु चारण करने वाली गुर्जर नस्ल से उत्पन्न नहीं हो सकते थे , क्योंकि सातवीं शताब्दी जैसे प्राचीनकाल में भी नंदीपुरी के गुर्जर एक शासक वंश का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। [38] तीसरे, अलवर क्षेत्र में प्रतीहारों की एक शाखा को बाड़ गूजरों का प्रतिनिधि माना जाता है। [39] सातवीं शताब्दी के बाद के दस्तावेजों मे पश्चिमी भारत में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में गुर्जरों के विस्तृत विवरण के पर्याप्त संकेत मिलते हैं, और साधारण गुर्जर लोगो के उल्लेखों से प्रकट होता है कि कतिपय परिवारो की राजनीतिक प्रभुता, उसी नस्ल में विकसित होने वाली स्तरीकरण की प्रक्रिया को प्रतिबिंबित करती है। 'पचतत्र' में इस बात का उल्लेख है कि गुर्जर प्रदेश में बिकाऊ ऊंट मिलते थे। [40] यह साक्ष्य पशु चारण की ओर संकेत करता है, हालांकि यह साक्ष्य अपर्याप्त ही है। अलवर मे राजोगढ़ से प्राप्त गुर्जर-प्रतीहार नरेश मथन के एक अभिलेख मे गुर्जरो का उल्लेख कृषकों के रूप मे भी किया गया है। [41] ऐसा प्रतीत होता है कि अन्य गुर्जर वशों के समान प्रतीहार भी राजनीतिक शक्ति के माध्यम से गुर्जर परिवार से अलग हो गए थे। इस प्रक्रिया का समातर उदाहरण कुषाणो के दृष्टात से मिलता है जो मूलत. यू-ची का एक अश मात्र थे और बाद मे राजनीतिक प्रभुसत्ता प्राप्त करके उन्होंने पाच विभिन्न जातियो को समीभूत कर लिया। [42] इसके अतिरिक्त कुछ प्रतीहारो के ब्राह्मण बनने की प्रक्रिया के तथ्य का भी समातर उदाहरण आभीरो के बीच होने वाले विकासो मे दृष्टिगोचर होता है क्योंकि उनन से भी आभीर ब्राह्मण, आभीर क्षत्रिय, आभीर शूद्र आदि का उदय हुआ। [43]

निस्सदेह यह सपूर्ण पुनर्निर्माण बहुत नाजुक है और साक्ष्यों के अभाव मे चाहमानो एव गुहिलो के बारे में तो ऐसा पुनर्निर्माण भी सभव नहीं है। राजनीतिक प्रभुसत्ता प्राप्त करने और उसके समकक्ष ही सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति अग्रसर होने वाली प्रक्रिया मे एक निश्चित अतर्संबध था। इस अतर्संबध का स्वरूप कुछ निम्न तालिकाओ द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। ये तालिकाएं अधिकाशत प्रतीहारों, गुहिलो एव चाहमानो के विभिन्न परिवारों के अभिलेखो के आधार पर तैयार की गई है। [44]

## गुर्जर-प्रतीहार

| क्षेत्र | तिथि | कुल का नाम | राजनैतिक स्थिति | परिवार के उद्गम विषयक दावों का स्वरूप |
|---|---|---|---|---|
| नंदीपुरी के गुर्जर | सातवीं शताब्दी [45] | गुर्जर नृपति वंश | सामंत, जिसका निर्देश 'महासामंत' आदि उपाधियों में मिलता है किन्तु इस दावे से उनकी विशेष स्थिति का आभास होता है जिसके अनुसार उन्होंने अपने स्वामी को सुरक्षा प्रदान की थी। | कुछ अभिलेखों में महाभारत कर्ण से हुई उत्पत्ति का दावा किया गया है और फिर यही नाम उनके वंश नाम के रूप में प्रयुक्त होने लगा। |
| मंडोर के प्रतीहार | 837 ई. [46] | प्रतीहार वंश | — | एक ब्राह्मण की दूसरी पत्नी के वंशज होने का दावा, जिसका निहितार्थ यह था कि वे ब्राह्मण स्तर सिद्ध कर रहे थे। राम के 'प्रतीहार' (द्वारपाल) के रूप में काम करने वाले लक्ष्मण से संबंध स्थापित किया गया। |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| | 861 ई.[47] | प्रतीहार | — | ठीक उपरोक्त तुल्य किंतु पूर्ववर्ती अभिलेखों में वर्णित ब्राह्मण पत्नी के नाम का परित्याग। |
| राजस्थान एवं कन्नौज के प्रतिहार | नवीं शताब्दी[48] | प्रतीहार | सार्वभौम शक्ति | सूर्य से उत्पत्ति का दावा अर्थात् राम के 'प्रतीहार' (द्वारपाल) लक्ष्मण के माध्यम से सूर्यवंशी होने का दावा। |
| | दसवीं शताब्दी[49] | उनके चाहमान सामंतों के अभिलेखों में अप्रत्यक्ष रूप से उल्लिखित | चाहमानों के अधिपति के रूप में वर्णित | रघुवंशी के रूप में वर्णित |
| अलवर में राजोर के गुर्जर-प्रतीहार | 960 ई.[50] | गुर्जर प्रतीहारान्वय | राजस्थान एवं कन्नौज के प्रतीहारों के सामंत | — |

## गुहिल

| क्षेत्र | तिथि | कुल का नाम | राजनीतिक प्रस्थिति | परिवार के उद्गम विषयक दावों का स्वरूप |
|---|---|---|---|---|
| किष्किंधा के गुहिल | सातवीं शताब्दी का द्वितीय चतुर्थांश[51] | गुहिलपुत्रान्वय | सामंत, जिसका निर्देश 'सामंत', 'समधिगतपंच-महाशब्द', 'महाराज' आदि जैसी उपाधियों से मिलता है। | |
| चत्सु के गुहिल | दसवीं शताब्दी के मध्य में[52] | गुहिल वंश | मूलतः मौर्यों एवं प्रतीहारों के सामंत | 'ब्रह्मक्षत्रान्वित' |
| मेवाड़ के गुहिल | 661 ई.[53] परंपरानुसार दसवी शती के उत्तरार्ध से 11वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक[54] | गुहिलान्वय | — | कुलसंस्थापक का वर्णन इस प्रकार मिलता है: 'आनंदपुर विनिर्गतविप्रकुलानंद: महीदेव:', जिसका निहितार्थ यह हुआ कि वंशोत्पत्ति आनंदपुर के ब्राह्मण परिवार से लगाई गई है। |
| | 1285 ई.[55] | गुहिलवंश | — | अभिलेख में 'ब्रह्म-क्षत्र' प्रस्थिति का दावा निहित। |
| | 1540 ई.[56] | शिलादित्य-वंश | — | सूर्यवंश, सूर्य से उद्गम का दावा। |

## चाहमान

| क्षेत्र | तिथि | कुल का नाम | राजनीतिक प्रस्थिति | परिवार के उद्गम विषयक दावों का स्वरूप |
|---|---|---|---|---|
| गुजरात के प्रारंभिक चाहमान | आठवीं शताब्दी के मध्य में[57] | चाहमान | सामंत, जिसका निर्देश 'महासामंताधिपति, समधिगतपंचमहाशब्द' आदि जैसी उपाधियों में मिलता है। | — |

| धोलपुर के चाहमान | 827 ई[58] | चाहमान | संभवतः प्रतीहारों के सामंत | — |
|---|---|---|---|---|
| नाडोल के चाहमान | 1119 ई[59] | चाहमान | — | इंद्र की आँखों से उत्पन्न एक व्यक्ति के माध्यम से वंशोत्पत्ति इंद्र से बताई गई है। |
| शाकंभरी के चाहमान | 946 ई[60] | चाहमान | प्रतीहारों के सामंत | — |
| | 1169 ई[61] | चाहमान 'क्षिति-राजवंश' | स्वतंत्र शक्ति के रूप में | विप्रश्री वत्सगोत्र अर्थात् ब्राह्मण वंशज |
| | 12वीं शताब्दी[62] | चाहमान | वही | वंशोत्पत्ति सूर्य देवता से बताई गई है जिसे विष्णु की दाईं आंख के रूप में वर्णित किया गया है। |
| | 1191 ई[63] | चाहमान | वही | वंशोत्पत्ति सूर्य से बताई गई है और वंश का संबंध कृत युग के इक्ष्वाकुओं से स्थापित किया गया है। |
| आबू पर्वत के चाहमान | 1320 ई[64] | चाहमान | — | उत्पत्ति धर्मात्मा ऋषि वत्स से बताई गई है, जिन्होंने सूर्य एवं चंद्र वंशों के समाप्त हो जाने पर योद्धाओं की नई जाति के रूप में चाहमान का सृजन किया। |

ये तालिकाएं राजनीतिक प्रभुत्व की प्राप्ति एवं वंशानुगत कुलीनता के दावों के विभिन्न चरणों में घनिष्ठ संपर्क प्रदर्शित करती हैं, हालांकि विभिन्न व्यक्तियों द्वारा संपादित होने के कारण वंशावलियों का स्वरूप एक रूप नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि सामंतीय प्रस्थिति[65] उस अवस्था में कुछ असंगत थी, जबकि कुलीन वंशोत्पत्ति के विस्तृत एवं मनगढ़ंत उल्लेख किए जा सकते। अब तक उद्धृत प्रमाणों के अतिरिक्त एक अन्य नुक्ता इसको स्पष्ट कर देगा। जिस काल में किसी कुल के सार्वभौम परिवार की ओर से सम्मानपूर्ण वंशक्रम से युक्त विस्तृत वंशावलियां प्रस्तुत की जा रही थीं, उसी कुल के अन्य वर्ग ने, जो सामंतीय स्थिति में था, ऐसा कोई दावा नहीं किया गया। उदाहरणार्थ, दक्षिण गुजरात में मंगरौल से प्राप्त 1145 के एक गुहिल अभिलेख[66] में मंगलपुर के शासक और चौलुक्यों के सामंतों के रूप में गुहिलों की तीन पीढ़ियों का उल्लेख है, हालांकि उसी काल के दौरान गुहिलवंशी अन्यत्र सम्मानपूर्ण वंशक्रम के दावे कर रहे थे।

जब वंशावलियों के निरूपण के विभिन्न चरणों पर दृष्टिपात किया जाता है तो यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश नवोदित शाही वंशों के लिए 'ब्रह्मक्षत्र' एक संक्रमणात्मक प्रस्थिति थी, किन्तु यह एक बार प्राप्त कर लेने पर पूर्णतया छोड़ी नहीं जाती थी और ब्राह्मण से क्षत्रिय प्रस्थिति की ओर उन्मुख तथाकथित प्रामाणिक संक्रमण के लिए लगातार व्याख्याएं दी जाती रहीं। यदि गुहिलों एवं चाहमानों के अपेक्षाकृत उत्तरकालीन अभिलेखों के आधार पर यह स्वीकार कर लिया जाए कि वे दोनों मूलतः ब्राह्मणों के वंशज थे—हालांकि उनके प्रारंभिक अभिलेखों में ऐसा कोई दावा नहीं मिलता—तो उनकी नई क्षत्रिय भूमिका को वैधता प्रदान करने के लिए ही उपरोक्त प्रस्थिति प्रस्तुत की जा रही थी। इस काल के दौरान 'ब्रह्मक्षत्र' की विस्तृत लोकप्रियता [67] से यह भी संभव प्रतीत होता है कि यह अपेक्षाकृत अधिक खुली प्रस्थिति थी जिसे नवोदित शाही वंश अपनी विशुद्ध क्षत्रिय उत्पत्ति उद्घोषित करने से पूर्व

अपना लेते थे। संभवत: यह क्रमिक परिवर्तन, जोधपुर क्षेत्र से नवीं शताब्दी के दो प्रतीहार अभिलेखों की तुलना द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। जबकि 837 ई. का एक अभिलेख [68] प्रतीहार ब्राह्मणों एवं प्रतीहार क्षत्रियों की उत्पत्ति की व्याख्या हरिचन्द्र ब्राह्मण की दो पत्नियों—एक ब्राह्मण और दूसरी क्षत्रिय—के परिप्रेक्ष्य में करता है; 861 ई. के दूसरे अभिलेख में [69] वंशावली में ब्राह्मण पत्नी का उल्लेख नहीं है। ब्राह्मणीय उत्पत्ति के उल्लेख को जारी रखने और विशुद्ध वंशोत्पत्ति बनाए रखने की उत्सुकता से उसका संबंध उतना ही घनिष्ठ था जितना कि क्षत्रिय प्रस्थिति के सम्मानपूर्ण स्रोत को ढूंढने की आवश्यकता का। जोधपुर प्रतीहारों की वंशावली का आरम्भ हरिचन्द्र से होता है, जो एक अभिलेख में 'प्रतीहारवंशगुरु' के रूप में वर्णित है, [70] किंतु इस स्रोत से संबंधित होने का एक विस्तृत वक्तव्य अचलेश्वर (आबू पर्वत) से प्राप्त 1285 के एक गुहिल अभिलेख में मिलता है :—

> निस्संदेह, बप्पक ने एक नूपुर के रूप में ह्रसदृश हारीत (ब्रहारितराशि = ऋषि) से क्षत्रिय की दमक प्राप्त की और बदले में ऋषि को अपनी श्रद्धा के रूप में अपनी ब्राह्मणीय दमक प्रदान की। इसीलिए उस वंश के वंशज अब तक इस पृथ्वी पर मानवीय रूप में क्षत्रियत्व के समान दहकते हैं।[71]

यद्यपि ठीक इसी रूप में तो नहीं किंतु इससे मिलते-जुलते रूप में राजपूत प्रस्थिति का दावा करने वाले बिहार के कुछ चेरों अपनी वंशोत्पत्ति च्यवन ऋषि से बताते हैं। [72]

इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शासक कुलों की सामंतीय से स्वतंत्र प्रस्थिति की ओर हुए परिवर्तन काल के दौरान निरूपित विस्तृत वंशावलियों का बाह्याकलन, उनकी वास्तविक उत्पत्ति के मूल्यांकन के लिए कठिनता से ही किया जा सकता है, हालांकि इन वंशावलियों के कुछ भाग प्रामाणिक परंपरा पर आधारित हो सकते हैं। इस प्रकार वंशानुगत दावों के निरूपण के विभिन्न चरण भी एक राजनीतिक प्रक्रिया की ओर इंगित करते है—यह प्रक्रिया है आरम्भिक सामंतीय स्थिति से ऊर्ध्वोमुख गतिशीलता की। गुजरात गुर्जरों की उपाधियों एवं वलभी नरेशों के प्रति उनकी राजनिष्ठा की घोषणा—दोनों में उन्हें सामंत कहा गया है। किष्किंधा एवं धवगर्ता के प्रारम्भिक गुहिल भी सामंत थे और ऐसा प्रतीत होता है कि मेवाड़ के गुहिल वंश के पारम्परिक संस्थापक अर्थात् बप्पा रावल ने भी अपना जीवन सामंतीय प्रस्थिति से आरम्भ किया था—यह बात 'रवल' ('राजकुल' तुल्य, जो कभी-कभी अधीनस्थ स्थिति से संबंधित मानी जाती थी) उपाधि से स्पष्ट होती है। गुजरात एवं राजस्थान दोनों के चाहमान स्पष्ट रूप से गुर्जर-प्रतीहारों के सामंत थे और यह महत्वपूर्ण तथ्य हो सकता है कि चाहमान वंशावली में दूसरा नाम 'सामंत' है (जो अप्रत्यक्ष रूप से सामंतीय प्रस्थिति की ओर इंगित करता है) जो अगले नाम अर्थात 'नृप' अथवा 'नरदेव' (दोनों का अर्थ नरेश होता है) के ठीक विपरीत है। [73] यह स्पष्ट ही है कि सामंतीय से स्वतंत्र प्रस्थिति का संक्रमण सैनिक शक्ति के विकास के माध्यम से हुआ था। नंदीपुरी के गुर्जर गर्व से इस बात की घोषणा करते हैं कि उन्होंने हर्ष द्वारा पराजित वलभी नरेश को शरण दी थी। [74] चाहमानों के हंसोट अभिलेख इस स्तुति से आरम्भ होते हैं, 'एक विशाल सेना से युक्त चाहमान वंश विजयी हो।' [75] इसी प्रकार राजस्थान के चाहमान एवं प्रतीहार सामंत परिवारों के अभिलेख, गुर्जर-प्रतीहार अधिपतियों के सैनिक अभियानों में उनकी भूमिका का विस्तृत विवरण देते हैं। [76]

अभी जो दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह रोचक लगना चाहिए क्योंकि इससे यह प्रकट होता है कि प्रारम्भिक राजपूत कुलों का उदय, विद्यमान पदसोपानात्मक राजनीतिक ढांचे के अन्तर्गत ही हुआ था। उत्तरी भारत के राजनीतिक मंच पर राजपूतों द्वारा आकस्मिक एवं देदीप्यमान प्रथम प्रयास को प्रदर्शित

करने की उत्सुकता में प्राय: इस दृष्टिकोण की अवहेलना कर दी जाती है। अनेक कारणों से इस आरम्भिक राजनीतिक चरण को जान लेना महत्वपूर्ण है। यह हमें एक ऐसा सुविधापूर्ण केन्द्रबिन्दु प्रदान करता है जहां से आगे की प्रक्रियाओं का परीक्षण किया जा सकता है, अर्थात, राजनीतिक उत्कर्ष के अपने प्रयास में राजपूत कैसे अपनी आरम्भिक स्थिति से अपने हितों की सिद्धि के लिए आर्थिक एवं सामाजिक आधार बनाने की प्रक्रिया की ओर अग्रसर हुए।

## III

अर्थव्यवस्था के स्तर पर आरम्भिक राजपूतों के उदय की प्रक्रिया का सबंध भूमि वितरण की कुछ नई विशेषताओं तथा क्षेत्रीय व्यवस्था से था जो सभवत: प्रतीहारो एव चाहमानों के बड़े साम्राज्यों और गुहिलो के से स्थानीय राज्यों—दोनों मे विद्यमान थी। इन विशेषताओ का प्राय· विवेचन हो चुका है,[77] किंतु किसी न किसी रूप मे काफी बाद के काल तक राजपूतो से उनका सबध बने रहने के कारण हम केवल प्रारंभिक राजपूतों के बीच कुल के जाल के संगठन के सदर्भ मे उनका परीक्षण करेंगे। शाही सकुल्दो के बीच भूमि का वितरण [78] एक ऐसी विशेषता है जो इस काल के दौरान अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा राजस्थान में अधिक दृष्टिगोचर होती है। किंतु यह जान लेना आवश्यक है कि यह विशेषता उस प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है जो शनैः- शनैः विकसित हुई है और जो विशेष रूप से चाहमान कुल के विस्तार से सबधित थी। चूंकि प्रतिहार साम्राज्य अत्यत विस्तृत था अत दानग्राहियो का स्वरूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार का था,[79] हालाकि 'वंशपोतकभोग'[80] (यह अलवर के गुर्जर-प्रतीहार मथन के राजोगढ़ अभिलेख में मिलता है) जैसी अभिव्यक्तियो का अर्थ कुल पितृत्व के रूप मे लगाया गया है। यद्यपि तत्कालीन भूमि वितरण की व्यवस्था मे कुल पृथक्त्व के दृढ होने की सभावना नहीं थी फिर भी वह कुछ सीमा तक एक उत्तरकालीन सदर्भ मे राजस्थान के धुधले से रूप मे दृष्टिगोचर होता है, और जैसा हम पहले ही कह चुके हैं, वह विशेष रूप से चाहमानों से संबधित था। जयपुर क्षेत्र से प्राप्त 973 ई का हर्ष अभिलेख[81] सभवत इस विवरण का प्राचीनतम प्रमाण प्रस्तुत करता है। इसमे राजा सिंहराज, उसके दो भ्राताओ अर्थात वत्सराज एव विग्रहराज और चंडराज एव गोविंदराज नामक दो पुत्रों के 'स्वभोगों' (निजी जागीर) का उल्लेख है। इस अभिलेख मे एक अन्य 'भोग' धारी दानग्राही का भी उल्लेख है जो स्पष्टत गुहिल कुल का था। एक अधिकारी, 'दु:साध्य' ने अपनी भी जागीर इसी राज्य में ले रखी थी किंतु स्पष्टत· उसके अधिकार सीमित थे क्योंकि भूमि दान देने का उसे अधिकार था किन्तु इसके लिए उसे राजा से अनुमति लेनी पड़ती थी, जबकि अन्य लोगों को ऐसी अनुमति की आवश्यकता न थी और वे स्वय भूमि दान करते थे। 12वीं शताब्दी तक इस प्रक्रिया में निरंतर परिवर्तन होते रहे, जबकि नाडौल चाहमानो के अधीन क्षेत्र में 'ग्रास', 'ग्रासभूमि' अथवा 'भुक्ति' नामक विभिन्न नामों वाली जागीरो पर राजा, कुमार अथवा युवराज, 'राजपुत्री' अर्थात् राजा के पुत्र, रानियों का, और एक दृष्टांत में तो राजा के मामा (जो स्पष्टत. उसी कुल का सदस्य न था) का भी अधिकार होने लगा।[82]

कुछ सीमा तक इससे जुड़ी हुई किन्तु व्यवहार में इससे अलग भी भूमि की एक अन्य इकाई थी जो छ: ग्रामों और उसके गुणनफल से सम्बद्ध प्रतीत होती थी।[83] इस भू इकाई का प्रयोग केवल राजस्थान तक सीमित न था ; फिर भी इस काल के दौरान अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा पश्चिमी भारत में इसका प्रयोग कुछ अधिक होता था। अनेक दृष्टांतों में ये इकाइयां 'मंडल', 'भुक्ति' अथवा 'विषय' जैसे प्रशासनिक खंडों का अंग थी [84] किंतु अभिलेखों में ऐसे वक्तव्य हैं कि ग्राम ऐसी इकाइयों से 'प्रतिबद्ध' थे। इन

के रूप में दान दी जाने वाली भूमि के साथ साथ बड़ी संख्या में दुर्गीय बस्तियों के निर्माण को शासक कुलों द्वारा अपनी स्थिति के संगठन की प्रक्रिया के अंग के रूप में देखा जा सकता है।

सामाजिक संबंधों के स्तर पर इस प्रक्रिया के स्पष्ट सूचक तो कुलों के पारस्परिक वैवाहिक संबंध हैं। दुर्भाग्यवश, अभिलेखों से प्राप्त होने वाली सूचना कुछ सीमित है और इसीलिए जब वंशावलियों में विवाह के कुछ दृष्टांतों का उल्लेख मिलता है तो यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि उनका वर्णन इसीलिए किया गया था क्योंकि वे परिवार के लिए महत्वपूर्ण राजनीतिक निहितार्थों से युक्त थे। प्रतीहार कुल से आरम्भ करके तिथि क्रमानुसार आगे बढ़ते हुए हमें वैवाहिक पद्धति में एक परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है जिसमें वंश की कथित उत्पत्ति महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाती वरन अंतर्कुलीन संबंधों की प्रणाली भी विकसित होती दृष्टिगोचर होती है। जैसा कि पहले कह चुके हैं , जोधपुर क्षेत्र से प्रतीहार वंश के 837 ई. के एक अभिलेख में वंश के संस्थापक के दो विवाहों का उल्लेख है, जिनमें से एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय पत्नी से हुआ था। 861 ई. के एक अन्य अभिलेख में वंश क्रम के वर्णन में ब्राह्मण पत्नी का नाम छोड़ दिया गया। वंशावली के अंत में कक्क द्वारा, जो वंशावली के अंतिम एवं तत्कालीन शासक के अत्यंत निकट था, भट्टि कुल की पद्मिनी में विवाह करने का उल्लेख है। कुछ लोग इन भट्टियों को जैसलमेर का भट्टि बताते हैं।[103] अन्य कुलों के अभिलेखों से भी ऐसे प्रारूप की दिशा में हो रहे विकास के प्रमाण मिलते हैं जो अधिकांश शासक राजपूत कुलों को समाहित किये हुए थे। चाहमानों के अभिलेखों में राष्ट्रकूटों, राष्ट्रोढ़ों अथवा राठौरों के प्रति विशिष्ट रुझान का परिचय मिलता है। इस कुल के एक 'राजक' त्रिभुवनेश्वर का विवाह राष्ट्रकूट लक्ष्मीदेवी से हुआ था।[104] नाडौल के चाहमान वंश के आल्हण ने भी राष्ट्रकूट कुल की अनल्ल देवी से विवाह किया था। [105] राजस्थान के परमारों के ज्ञात वैवाहिक संबंधों में चाहमानों से हुए संबंध प्रमुख हैं । आबू पर्वत के परमार धारावर्ष ने चाहमान केल्हण देव की पुत्री से विवाह किया।[106] वागड़ा कुल के परमार सत्यराज का विवाह राजश्री से हुआ जो अन्य चाहमान कुल की प्रतीत होती है।[107] किंतु गुहिलों के वैवाहिक संबंध अधिक विविध एवं व्यापक थे। क्रमशः 1000 ई.[108] और 1008 ई.[109] के दो अभिलेख नागहृद के गुहिल 'महासामंताधिपति' की दो पत्नियों का उल्लेख करते हैं. एक तो 'महाराज्ञी' सर्वदेवी थी जो सूर्यवंशी 'महाराधिपति' की पुत्री थी, दूसरी 'महाराज्ञी' जजुका थी जो इसी प्रकार से भरूकच्छ के सूर्यवंशी 'महासामंताधिपति' की पुत्री थी। गुहिल शाखी परिवार की अल्हण देवी का विवाह चेदिवंशी गोयाकर्ण से हुआ था।[110] विशिष्ट राजपूत कुलों से किए गए गुहिल वैवाहिक संबंधों में चालुक्यों,[111] परमारों,[112] राष्ट्रकूटों,[113] चाहमानों,[114] एवं हूणों,[115] से किए गए संबंध सम्मिलित थे। वैवाहिक संबंधों पर आधारित अन्तर्कुलीय संबंध किसी निश्चित काल में दो कुलों तक ही सीमित हो सकते थे और प्रतिरूप में पाई जाने वाली अनुरूपता ऐसे कुलों के पारस्परिक राजनीतिक संबंधों के स्वरूप के कारण हो सकती थी, अथवा, जैसा कि गुहिलों के दृष्टांत से स्पष्ट है, यह पर्याप्त व्यापक भी हो सकती थी। किंतु ये संबंध अधिकांशतः उन्हीं कुलों के बीच होते थे जो राजपूत श्रेणी में आ चुके थे। चुनाव अनिवार्यतः राजनीतिक कारणों पर आधारित था क्योंकि यहां पर जिन कुलों का उल्लेख किया गया है, वे पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान के विशिष्ट शासक वर्ग थे। किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि वैवाहिक संबंधों से प्रकट होने वाले अंतर्कुलीय संबंधों के व्यापक सामाजिक निहितार्थ भी थे। यह हूणों के से वर्गों को सामाजिक वैधता प्रदान कर सकते थे। इस काल तक हूणों ने पश्चिमी भारत में पर्याप्त राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर ली थी[116] और अंत में वे राजपूत कुल सूची में सम्मिलित कर लिए गए थे। दूसरे, अंतर्कुलीय वैवाहिक संबंधों ने संभवतः सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों के अधिक व्यापक क्षेत्र में

का राजकीय परिवार के साथ प्रत्यक्ष सपर्क स्थापित करना सदा सभव नहीं हो पाता, फिर भी इन उपाधियों के प्रयोग की व्याख्या इस आधार पर की जा सकती है कि इनके उन कुलों के साथ एक बड़े पैमाने पर संबध थे, जिनके कुटुबो ने पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान मे शासक वर्ग की सरचना की थी। वस्तुत:, 12वीं शताब्दी के बाद गुहिल परिवारो के 'राजकुल' (1208 ई.),[129] 'महाराजकुल' (1186, 1292, 1302 ई),[130] 'महारावल' (1302 ई),[131] 'राणा श्री राजकुल' (1167 ई),[132] 'ठक्कर रावत' (1138 ई),[133] तथा चहमान परिवारो के 'राणक' (एक माडलिक का पुत्र), [134] 'राजपुत्र' (1287 ई),[135] आदि के उल्लेख काफी मात्रा मे मिलते हैं। निश्चय ही इन प्रमाणो का यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि 'राजपुत्र' एव ऐसी अन्य प्रतिष्ठित उपाधिया कुछ चुनिंदा कुलो तक ही सीमित थी। अभिलेखो में कर्नाटक प्रदेश से श्री वरागोत्रीय 'राउत' (1156 ई),[136] गुर्जर जातीय ठक्कर (1283 ई),[137] अथवा 'राणक'[138] के उल्लेख मिलते हैं, जो उस पद्धति के लचीलेपन के द्योतक हैं, जिसमें राजनीतिक नेतृत्व एव शक्ति से युक्त नवीन समूहो को आत्मसात किया जा सकता था।

पूर्व मध्ययुग मे प्रतिष्ठित कुलो मे एव उनके बाहर भी राजपूतो का प्रगुणन, उनकी राजनीतिक प्रभुता के ढाचे के विश्लेषण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूचक है। पारम्परिक 'क्षत्रिय' वर्गो अथवा राजस्थान के विशिष्ट शासकीय वर्गो की परिवर्तनशील प्रस्थिति के सबध मे कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही है और इस बात का भी पूर्वानुमान लगाया जा सकता है कि यदि वे शक्तिशाली बने रहे तो राजपूत ढाचे मे ही सम्मिलित हो गये होगे। किंतु 10वीं शताब्दी के दो अभिलेख इस बात की सभावना को भी प्रदर्शित करते है कि पारपरिक 'क्षत्रियों' में से कुछ वश परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर रहे थे। जोधपुर के निकट मदकिल से प्राप्त 956 ई के एक अभिलेख [139] मे एक विद्वान क्षत्रिय के पुत्र का उल्लेख है जिसने एक 'प्रशस्ति' को उत्कीर्ण किया था। व्यवसाय की दृष्टि से वह एक 'सूत्रधार' था। एक अन्य अभिलेख मे, जो उत्तर प्रदेश मे दोआब क्षेत्र से प्राप्त हुआ है तथा दसवीं शताब्दी एव गुर्जर-प्रतीहारों का है,[140] एक क्षत्रिय 'वणिक' का वर्णन है। यद्यपि ये उदाहरण निश्चित रूप से अपर्याप्त हैं फिर भी उनसे प्रकट होता है कि राजपूतो के प्रगुणन ने पूर्ववर्ती क्षत्रिय समूहों की राजनीतिक प्रस्थिति को पर्याप्त आघात पहुचाया था क्योंकि वे अब कम प्रभावशाली व्यवसायों मे लग रहे थे तथा शासक वर्ग के लिए प्रयुक्त शब्दो मे अब 'क्षत्रिय' को नहीं अपितु 'राजपूत' को प्राथमिकता दी जाती थी।

एक परिकल्पना के रूप मे पारपरिक 'क्षत्रिय' वर्गों के स्थान पर राजपूतो का आना और राजपूत ढांचे के सगठित होने की प्रक्रिया को नवोदित कुलो मे, केवल अतर्कुलीय वैवाहिक सबधो के रूप में ही नहीं अपितु राज्य व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर भाग लेने तथा विभिन्न सामाज्यों एव दरबारो में कुल सदस्यता के परिचक्रन के रूप में भी, पारस्परिक सहयोग का परिणाम कहा जा सकता है। यद्यपि इस प्रक्रिया का प्रारंभ प्रतीहारों, चाहमानो एव अन्य राजपूतो के पारस्परिक सामत-अधिपति सबधो में दृष्टिगोचर होता है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है राज्य व्यवस्था के अन्य स्तरों पर पारस्परिक सबधों का यह जाल धीरे-धीरे ही फैला था। इस सदर्भ मे राजस्थान से प्राप्त अभिलेखों के बदलते हुए स्वरूप की चर्चा से ही शुरूआत की जा सकती है। जबकि सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी, और कुछ दृष्टातों में तो बारहवीं शताब्दी तक के अभिलेखों के माध्यम से प्रसारित किए जाने वाले राज्यादेश विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियों को संबोधित किये जाते थे (उदाहरणार्थ, 689 ई. के डूगरपुर अभिलेख[141] में दी गई सूची इस प्रकार है. 'नृप', 'नृपसुत', 'सधिविग्रहाधिकृत', 'सेनाध्यक्ष', 'पुरोधा', 'प्रमातृ', 'मत्री', 'प्रतीहार', 'राजस्थानीय', 'उपरिक', 'कुमारामात्य', 'विषयभोगपति', 'चौरोद्धरणिक', 'शौल्किक', 'व्यापृतक', ...

'चाट', 'भाट', 'प्रतिसरक', 'ग्रामाधिपति', 'द्रांगिक' आदि), उत्तरकालीन अभिलेखों में सामान्यतया ऐसे अधिकारियों की सूचियां नहीं मिलती । इस परिवर्तन का संभवत: सर्वश्रेष्ठ दृष्टांत नाडौल चाहमानों के 1161 ई. के एक अभिलेख में व्यक्त संबोधन के स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है: 'देशांतो राजपुत्रान्जनपदगणान् बोधयत्येव।'[142] यहां पर 'जनपदगण' से भिन्न स्वयं 'राजपुत्र' ही पूर्ववर्ती अभिलेखों में वर्णित सभी श्रेणियों के अधिकारियों का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रतीत होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन ओहदे पूर्ण रूप से समाप्त हो गये थे। वास्तव में 12वीं शताब्दी से संबंधित परंपराओं के अनुसार,[143] चाहमान दरबार में एक सौ 'सामंत' थे। किंतु अभिलेखों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ये उपाधियां अधिकांश उन्हीं समूहों के बीच परिचक्रित की जाती थीं जो 'राजपुत्र' होने का भी दावा करते थे। यद्यपि वर्मलाट के सातवीं शताब्दी के वसंतगढ़ अभिलेख में 'गोष्ठी' के प्रतीहार सदस्य का प्रारंभिक उल्लेख मिलता है, [144] फिर भी पर्याप्त उत्तरकाल में ही 'राजपुत्र' अथवा सामान्य रूप से विभिन्न कुलों के सदस्य, राजपूत सामाजिक-राजनीतिक ढांचे में विभिन्न पदों पर आसीन दृष्टिगोचर होते हैं। इस काल में विशिष्ट वर्गों के स्वरूप से संबंधित अभिलेखीय प्रमाण उस स्पष्ट प्रवृत्ति की ओर इंगित करते हैं जिसे हम पहले ही विभिन्न कुलों के पारस्परिक सहयोग की संज्ञा दे चुके हैं। उदाहरणार्थ, गुहिल अल्लट के अहद अभिलेख (942 ई.)[145] में एक 'गोष्ठी' के सदस्य के रूप में एक हूण और एक प्रतीहार का उल्लेख है, पुन: गुहिल अरिसिंद के पल्दि अभिलेख (1059 ई.) [146] में एक 'सौलंकिवंशीय राजपूत' एक 'गोष्ठिक' के सदस्य के रूप में वर्णित है। वीरसिंह के मल ताम्र-पत्र (1287 ई.)[147] में उल्लिखित विभिन्न गवाहों में एक 'राउत' भी है। इस संदर्भ में पृथ्वीराज चौहान के हंसि पाषाणाभिलेख[148] में प्रासंगिक सूचना मिलती है: (i) एक 'गुहिलौतान्वय' अर्थात् गुहिल कुल के व्यक्ति को आसिक दुर्ग दिया गया था, (ii) एक दोड़ान्वय अर्थात् दोड़ा उपकुल का एक व्यक्ति, पृथ्वीराज के मातुल के अधीन था। चाहमान शासन व्यवस्था में गुहिल एवं दोड़ा तत्वों का समावेश प्रदर्शित करने वाले ये दोनों उल्लेख किसी भी प्रकार से अपवाद नहीं हैं क्योंकि इसी साम्राज्य में हमें वोड़ानी वंश[149] के 'महामांडलिकों' तथा दधिच उत्पत्ति के सामंतों[150] की अन्य श्रेणियों का भी उल्लेख मिलता है। चाहमान साम्राज्य में गुहिल भूस्वामियों के विशिष्ट वर्ग की उपस्थिति का प्रमाण 1169 ई.[151] के बिझोलि अभिलेख में मिलता है, जो गुहिलपुत्र रावल धाधर एवं गुहिलपुत्र रावल व्याहरू द्वारा एक जैन मंदिर को दिए गए भूमिदान का उल्लेख करता है। 1163 ई. के दिल्ली-शिवालिक स्तंभ अभिलेख[152] में श्री सल्लक्षणपाल नामक एक 'राजपुत्र' को इसी वंश के विग्रहराज के 'महामंत्री' के रूप में वर्णित किया है। नाडौल चाहमानों के साम्राज्य में 1164 ई. में राष्ट्रकूट अथवा राठौर कुल का सदस्य संभवत: 'तलार' के रूप में कार्य करता था।[153] इस प्रकार की सूचना अन्य साम्राज्यों से भी प्राप्त होती है। 1287 ई. के एक अभिलेख[154] में सिरोहि परमारों के साम्राज्य में महत्वपूर्ण जमींदारों के रूप में एक गुहिलपुत्र और उसके साथ-साथ देवरा उपकुल के सदस्य का उल्लेख है। बारहवीं शताब्दी के मध्य और तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के बीच दक्षिण राजस्थान के चौलुक्यों के सामंत परमार[155] एवं चाहमान[156] थे। ये चंद उदाहरण ऐसी ही सूचनाओं के व्यापक रूप का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ हैं और संभवत: यह भी प्रदर्शित कर सकते हैं कि कुल के बीच ही सजातीय बंधनों के अतिरिक्त, जिन्हें हम पहले ही भूमि वितरण को कम से कम आंशिक रूप से प्रभावित करने वाला बता चुके हैं, शक्ति संतुलन को शासित करने वाले अंतर्कुलीय संबंधों ने पूर्व मध्ययुग में राजपूत शासन व्यवस्था के संगठन में पर्याप्त सहायता दी।

इस काल में सैनिक गतिविधियों में उदीयमान कुलों द्वारा लिए गए भाग के स्वरूप एवं घटनाक्रम

के विश्लेषण से उपरोक्त तर्क का विस्तार किया जा सकता है। यद्यपि विभिन्न स्तरों के योद्धाओं की संरचना से संबंधित लगभग कोई भी प्रत्यक्ष एवं विस्तृत प्रमाण प्राप्त नहीं है किन्तु इस संदर्भ में एक विशेष प्रकार से उत्कीर्ण पाषाणों के प्रमाणों का प्रयोग कर सकते हैं। यद्यपि इन उत्कीर्ण पाषाणों की प्रथा का आरम्भ पर्याप्त पहले ही अन्यत्र हो चुका था, किंतु पूर्व मध्ययुग के बाद ये राजस्थान में अत्यंत लोकप्रिय हो गए थे।[157] ये पाषाण स्मारक चिह्न हैं, जिन्हें सामान्यतया अभिलेखों में 'गोवर्धनध्वज'[158] एवं 'भलिद' अथवा 'देवलि', 'देउलि', अथवा 'देवकुलिका'[159] के नामों से वर्णित किया गया है। इनकी स्थापना मृत्यु, जिसमें रणक्षेत्र में हुई मृत्यु भी शामिल है, के स्मारक के रूप में होती थी। सामान्यतया ये स्मारक पाषाण जिन सामाजिक वर्गों का वर्णन करते हैं, वे पर्याप्त व्यापक हैं, किन्तु हिंसात्मक मृत्यु के स्मारक अधिकतर ऐसे वर्गों से संबंधित हैं, जो राजपूत कहलाए जाने लगे। कम से कम पूर्व मध्ययुग में तो सामान्य रूप में अवरोक्त श्रेणी के स्मारकों की संख्या अन्य वर्गों के लोगों के स्मारकों से कहीं अधिक है।[160] इन स्मारक पाषाणों में वर्णित विभिन्न कुलों के नाम इस प्रकार हैं प्रतीहार,[161] चाहमान,[162] गुहिल,[163] परमार,[164] सेलकि,[165] राठोड़,[166] पदेल,[167] महावराह,[168] मागलिय,[169] बोड़ाना,[170] मोहिल,[171] दवरा,[172] दोड़ा,[173] दहिय,[174] पवार,[175] दोहर,[176] भिचि,[177] घगल,[178] धर्कट,[179] आदि। इसके अतिरिक्त अनेक दृष्टांतों में स्मरणीय व्यक्ति की राजनीतिक एवं सामाजिक प्रस्थिति को इंगित करने वाली उपाधियां भी उन्हीं अभिलेखों में वर्णित होती हैं, उदाहरणार्थ, 'राजा',[180] 'महासामंत',[181] 'राणा',[182] 'राउत' अथवा 'राजपुत्र'[183] आदि कुछ ऐसी ही उपाधियां हैं। स्मृति पाषाण की अवधारणा किसी भी अन्य स्रोत से ली हुई हो सकती है किंतु जिस प्रकार से उनका विकास हुआ और उनमें से अधिकांश स्मारक पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान के जिन संदर्भों का प्रतिनिधित्व करते हैं, वे मुख्य रूप से उन नवीन 'क्षत्रिय' वर्गों से संबंधित हैं जिन्होंने सामूहिक रूप से राजस्थान की राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया।

## V

पिछले खंड में वर्णित उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पूर्व मध्ययुग में राजपूतों के प्रादुर्भाव का एक महत्वपूर्ण पक्ष अनेक छोटे छोटे कुलों का उदय एवं बड़े कुलों का उपविभाजन था। हम पहले ही परमार कुल के सौ 'राजपुत्रों' का उल्लेख करने वाले 'प्रबंधचिंतामणि' के प्रमाण का वर्णन कर चुके हैं। गुहिल कुल का वर्णन करते हुए, 1285 ई. का अचलेश्वर (आबू पर्वत) अभिलेख[184] उसे शाखाओं एवं उपशाखाओं से परिपूर्ण बताता है और ये सभी अच्छे सदस्यों से युक्त थी (सुपर्वा पर्वविभूषितशाखा)। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी बड़े कुलों की यही स्थिति थी। इसके अतिरिक्त, संभवत राजनीतिक शक्ति के प्रसार के माध्यम से राजपूत कुलों की संरचना की प्रक्रिया जारी रहने की पुष्टि कुछ अभिलेखों से होती है। 1156 ई. का एक अभिलेख[185] किसी 'महाराज' का उल्लेख करता है, जो बोड़ाना कुल का था। महावराह नामक एक अन्य कुल का उल्लेख 1011 ई. के अभिलेख[186] में मिलता है। जैसा निम्न सूची से स्पष्ट होता है, इस काल तक बड़े कुलों के उपविभाजनों की संख्या काफी बढ़ चुकी थी दोड़ा, जो परमारों का उपविभाग था, गुहिलों के उपविभाग थे पिपाड़िया,[187] एवं मांगल्य, चाहमानों के उपविभाग देवड़ा, मोहिल एवं सोनि अथवा सोनिगारा थे,[188] दधिय, जो राठौरों का उपविभाग था। विवाह के जिन चंद दृष्टांतों के प्रमाण प्राप्य हैं, उनसे पता चलता है कि नए कुल और पूर्ववर्ती कुलों के उपविभाग कहलाए जाने वाले अंग धीरे-धीरे राजपूतों के जाल में समाहित होते जा रहे थे। 1180 ई. का एक अभिलेख[189] गुहिल कुल के एक 'राणा' और बोड़ानी के विवाह का उल्लेख करता है। बोड़ानी का अर्थ है, बोड़ाना कुल की कन्या। एक अन्य अभिलेख, जो 1191 ई. का है,[190] ऐसे गुहिल का वर्णन

है जिसने चाहमानों के मोहल उपविभाग की एक कन्या से विवाह किया था।

इन उपकुलों का उदय कैसे हुआ ? इस घटनाक्रम की व्याख्या नए क्षेत्रों में प्रवास के परिणामस्वरूप परिवारों के विभाजन की प्रक्रिया द्वारा की जा सकती है। किन्तु प्रस्तुत लेख के अध्ययन काल में ऐसे खंडीकरण की प्रक्रिया का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है जिसके परिणामस्वरूप उपकुलों का निर्माण हुआ हो। उदाहरणार्थ, शाकंभरी के चाहमानों का विभाजन होकर नाडौल के चाहमान कुल का जन्म हुआ और उसी की एक शाला जालोर में स्थापित हुई।[191] ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रक्रिया से किसी उपकुल का उदय नहीं हुआ । परमारों के शाही कुल में ऐसी घटनाएं हुई जिनके परिणामस्वरूप वागड़ा एवं आबू पर्वत क्षेत्र में नए कुलों का आविर्भाव हुआ, फिर भी वे परमार ही रहे।[192] इस संदर्भ में पूर्व मध्ययुग की उस जाति संरचना की प्रक्रिया की ओर संकेत करना उपयोगी हो सकता है जिसमें 'स्थानीयता' का एक बड़ा तत्व सम्मिलित था।[193] राजस्थान में 'स्थानीयता' की क्रियाशीलता श्रीमाल अथवा भिल्लमाल ब्राह्मणों के उदय[194] में दृष्टिगोचर होती है और दहिय ब्राह्मणों एवं दहिय राजपूतों जैसे समूहों के विश्लेषण में भी उपरोक्त प्रक्रिया का प्रयोग किया जा सकता है। एक ही स्थान पर उदित होने के कारण इन अवरोक्त समूहों में एक दूसरे से अत्यंत घनिष्ठ 'साम्यताएं' थी।[195] दूसरे, जैसा कि पहले ही कह चुके हैं, राजपूतीकरण सामाजिक गतिशीलता की एक ऐसी प्रक्रिया थी जिसने स्वयं को एक ढांचे के रूप में निरूपित करते हुए मेदों एवं हूणों जैसे असंबद्ध समूहों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। इन दृष्टिकोणों से ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न उपकुलों की संरचना अनिवार्यत: कुलों के प्रत्यक्ष विभाजन का नहीं, वरन् स्थानीय तत्वों के किसी पूर्व प्रतिष्ठित कुलों के संपर्क में आने पर उन तत्वों को आत्मसात करने की प्रक्रिया का परिणाम थी। पिपाड़िया गुहिलों एवं सोनिगारा चाहमानों द्वारा पूर्व मध्ययुग में राजपूतों के उपकुलों की संरचना में 'स्थानीयता' के इस तत्त्व का इशारा मिलता है। पिपाड़िया की व्युत्पत्ति पिप्पलपाद और सोनिगारा की सुवर्णगिरि (जालौर) नामक स्थानों से हुई थी। मान्यताप्राप्त कुल की प्रस्थिति तक पहुँचने का एक माध्यम वैवाहिक संबंधों का था। एक ओर गुहिलों तथा दूसरी ओर बोड़ानों एवं मोहिलों (चाहमानों का उपविभाग) के बीच स्थापित ऐसे संबंधों से इसका संकेत मिलता है।

जो कुछ भी ऊपर कहा गया है, उसके आधार पर निष्कर्ष के रूप में पूर्व मध्ययुग में राजपूतों के उदय की दो तिथिक्रमात्मक अवस्थाओं की परिकल्पना की जा सकती है। प्रथम चरण में तो वह मुख्य रूप से एक राजनीतिक प्रक्रिया थी जिसमें राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के इच्छुक अनेक असंबद्ध वर्ग उन आदर्शो का पालन करते थे जो तत्कालीन राजनीतिक सिद्धांतों पर छाए हुए थे। चूंकि राजपूत ढांचे में प्रवेश मुख्य रूप से राजनीतिक शक्ति के माध्यम से ही होता था अत: पारंपरिक आदर्श अथवा वैधता की आवश्यकता बनी ही रही। इस दृष्टि से राजपूतों का आविर्भाव एक अखिल भारतीय घटनाक्रम अर्थात् वंशों की संरचना के समान ही था, जिनमें से अनेक ने पौराणिक काल के क्षत्रिय वंशों से अत्यंत उत्साहपूर्वक अपने संबंधों का दावा करके वैधता प्राप्त करनी चाही थी। किंतु दूसरे चरण में, जिसका आरम्भ हम लगभग 11वीं-12वीं शताब्दियों में रखते हैं, राजपूतों का उदय एक व्यापक सामाजिक घटनाक्रम भी बन गया। अत: 'राजपुत्रों' की संख्या में वृद्धि को केवल राजनीतिक शक्ति के ढांचे के संगठन का प्रतिबिंब नहीं मानना चाहिए, छोटे कुलों एवं उपकुलों के विकासशील घटनाक्रम की व्याख्या करने के लिए इसके निहितार्थों का विस्तार करना होगा। और यदि कोई अंतिम परिकल्पना प्रस्तुत करने का दुस्साहस करना चाहे तो यह कह सकता है कि स्थान एवं समय की दृष्टि से राजपूती व्यवस्था का भावी विकास केवल 'राजवंशीय' संबंधों का सामाजिक संबंधों के अधिक व्यापक क्षेत्र में विस्तार की प्रक्रिया में निहित था।

# संदर्भ-सूची

श्री बी.डी. चट्टोपाध्याय का यह लेख मूलत अंग्रेजी में 'इण्डियन हिस्टोरिकल रिव्यु' में प्रकाशित हुआ था इसके पुनर्प्रकाशन की अनुमति देने के लिए हम श्री चट्टोपाध्याय के आभारी हैं। इसका डॉ. के. एम. श्रीमाली एवं श्रीमती लक्ष्मी श्रीवास्तव कृत प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद प्रो. डी. एन. झा आदि द्वारा सम्पादित एवं भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् के तत्वाधान में मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया द्वारा प्रकाशित 'प्राचीन भारत' में प्रदत्त है। हम इसके लिए इन सभी सम्बद्ध विद्वानों एवं संस्थाओं के आभारी हैं।

राजपूतों की उत्पत्ति विषयक मतों का एक बृहत साहित्य है किंतु संबंधित संदर्भ ग्रंथसूचियों राजस्थान पर रचे गए हाल के ग्रंथों में मिल जाती है डी शर्मा, 'अर्ली चौहान डायनेस्टीज' ('ए स्टडी ऑफ चौहान पोलिटिकल हिस्ट्री', 'चौहान पोलिटिकल इंस्टीट्यूशन्स एंड लाइफ इन दि चौहान डोमिनियन्स फ्रम 800 टु 1316 ए डी ') (दिल्ली, 1959) इत्यादि , डी शर्मा (संपा ) 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज खंड 1 (बीकानेर, 1966) इत्यादि , एच जे एन आसोपा, 'ओरिजिन आफ दि राजपूत्स (दिल्ली 1976) इत्यादि। सी वी वैद्य, 'हिस्ट्री आफ मेडीवल हिंदू इंडिया', खंड 2, 'अर्ली हिस्ट्री आफ राजपूत्स (750 1000) ए.डी.), (पूना, 1924), 7

डी शर्मा (संपा ), 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', खंड 1, पृ 106

डेविड पी हेनिगे, 'सम फेटम डायनेस्टीज आफ अर्ली एंड मेडीवल इंडिया जेनियोलोजिक एविडेन्स एंड दि एस्पीरेंस आफ अ वैक्यूम', 'बु स्कू ओ अ स्ट , XXXVIII भाग 3 (1975) पृ 526

हमारा तात्पर्य अनेक नवीन जातियों की संरचना, क्षत्रिय स्तर प्राप्ति के लिए इच्छुक वर्गों का उदय सामाजिक संबंधों में स्थानीयता पर बल आदि कारकों से है। ऐसे कुछ कारकों से संबंधित सविस्तार वक्तव्य के लिए देखिए आर एस शर्मा, 'सोशल चेंजेज इन अर्ली मेडीवल इंडिया (ल ए.डी 500-1200) (दिल्ली 1969)

दसवीं से बारहवीं शताब्दी के दौरान राजपूतों के अस्तित्व पर प्राय संदेह प्रकट किया गया है देखिए नार्मन पी जीग्लर, 'मारवाड़ी हिस्टारिकल क्रानिकल्स सोर्सिज फार दि सोशल ऐंड कल्चरल हिस्ट्री आफ राजस्थान', इ इ सो.हि रि , XIII, अंक 2 (अप्रैल-जून, 1976), पृ 242। किन्तु यह संदेह निराधार है क्योंकि बारहवीं शताब्दी तक 'राजपुत्र' शब्द का वही अर्थ हो चुका था जो कालांतर में 'राजपूत' शब्द का था। देखिए आगे प्रस्तुत विस्तृत विवरण, विशेषकर खंड IV में

ऐसे दावों से संबंधित उचित विवरण के लिए देखिए डी सी सरकार, 'दि गुहिलाज आफ किष्किन्धा (कलकत्ता, 1965) पृ 1-23 और रोमिला थापर, 'दि इमेज आफ दि बार्बेरियन इन अर्ली इंडिया क स्ट सो हि , XIII, अंक 4 (1971) पृ 427-9। एक मान्य 'गोत्र' कैसे वैधता प्रदान करता था इसके कुछ उदाहरणों के लिए देखिए, आर एन नंदी, 'गोत्र एंड सोशल मोबिलिटी इन दि डेक्कन प्रो.इं हि कां , 32वां अधिवेशन (1970), पृ 118-122, राजपूत कुलों के 'गोत्रों' का भी पुनर्विश्लेषण अपेक्षित है

देखिए सुरजीत सिन्हा, 'स्टेट फार्मेशन एंड राजपूत मिथ इन ट्राइबल सेंट्रल इंडिया, मै.इं XLII, अंक 1(1962) पृ 35-80 ; और भी देखिए के सुरेश सिंह 'ए स्टडी इन स्टेट फार्मेशन अमंग ट्राइबल कम्युनिटीज', जो आर एस शर्मा एवं डी झा द्वारा सम्पादित 'इंडियन सोसायटी हिस्टारिकल प्रोबिंग्स' (डी.डी. कोसंबी स्मृति ग्रंथ), (दिल्ली, 1974) में प्रकाशित हुआ है, पृ 317-36

बी एन एस यादव, 'सोसायटी एंड कल्चर इन नर्दर्न इंडिया इन दि ट्वेल्थ सेंचुरी' (इलाहाबाद 1973). पृ 37

वही

VII 1617-8

यादव, पूर्वोक्त, पृ 36-7 पर दी गई सूचियों की तुलना कीजिए

पूर्वोक्त, पृ 34 में उद्धृत

12वीं शताब्दी की कृति 'अपराजितपृच्छा' जिसे उपरोक्त ग्रंथ में पृ 34 पर उद्धृत किया गया है

प्राचीन ऐतिहासिक स्रोतों की सूचियों की तुलना मध्ययुगीन ऐतिहासिक स्रोतों की सूचियों से

सूचियां के. सी. जैन, 'एशेंट सिटीज एंड टाउंस आफ राजस्थान' (दिल्ली, 1972) में यत्र तत्र दी गई है, राजस्थान के स्थलों, स्मारकों एवं अभिलेखों से संबंधित पुरातात्विक रिपोर्टों से भी ऐसा ही आभास होता है.

16. देखिए जी.एस.दीक्षित, 'लोकल सेल्फ गवर्नमेंट इन मेडीवल कर्नाटक' (धारवाड़, 1964), पृ. 24-8; और देखिए टी. वेंकटेश्वर राव, 'न्यूमेरिकल फिगर्ज एफिक्स्ट टु दि नेम्ज आफ टेरिटोरियल डिविजंस, इन मेडीवल आंध्र', 'इतिहास', जर्नल आफ दि आंध्र प्रदेश आर्काइव्स, खंड 2 अंक 1 (जनवरी-जून, 1974), पृ. 53-8.
17. डी.शर्मा (संपा.), 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', भाग 1, पृ. 18.
18. वही, पृ. 19
19. 'हत्वा सीमाधिपान्संख्ये तेषां ग्रामान् प्रगृह्य च, देशः सप्तशतो येन सप्तसाहस्त्रिक कृतः', नाडोल अपूर्ण दानपत्र (श्लोक 14, जो डी. शर्मा, 'अर्ली चौहान डायनेस्टीज', पृ. 189 में संपादित है.
20. डी.शर्मा, 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', भाग 1, पृ. 18-9.
21. पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान मे सिंचाई के उपायों एवं विस्तार के विषय में देखिए हमारा लेख 'इरिगेशन इन अर्ली मेडीवल राजस्थान', ज.इ.सो.हि.ओ., XVI, भाग 2-3,298-316.
22. सरकार, पूर्वोक्त, पृ. 74-5.
23. एइ., XX, 122-5.
24. ज.रा.ए.सो. (1895) , पृ. 519-20.
25. एइं., IX,280.
26. एइ., I 337 श्लोक 22.
27. इं.ऐ., XXXIX, 186 और उसके बाद; ए.इं. XXXI. पृ. 237 और उसके बाद.
28. सरकार, पूर्वोक्त, पृ. 3-4 .
29. जेम्स टाड, 'एनल्स एंड ऐंटिक्विटीज आफ राजस्थान', खंड 1, विलियम कुक द्वारा संपादित, भारतीय संस्करण (दिल्ली, 1971), पृ. 262 .
30. 'अ कलेक्शन आफ प्राकृत एंड संस्कृत इंस्क्रिप्शंस' (भावनगर पुरातत्व विभाग, भावनगर, तिथिविहीन), पृ. 74 और उसके बाद .
31. क्षेत्र की निम्नांकित विशेषताओं को प्रदर्शित करने के लिए डी.शर्मा (संपा.), 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', भाग 1, पृ. 12 पर 'शब्दार्थ चिंतामणि' को उद्धृत किया गया है; "आकाश सामान्यतया साफ रहता है, वृक्ष एवं जल कठिनाई से मिलता है और क्षेत्र में 'शमी' (प्रोपिस स्पाइसिजेना), 'करिर' (कैप्रिसाफिल्ला), 'पिलु' (करेयवोंरिया) एवं 'कर्कन्धु' (जिजिफुस जुजुला) वृक्षों का बाहुल्य है" ।
32. डी.शर्मा, 'अर्ली चौहान डायनेस्टीज', पृ. 121-2 में उद्धृत .
33. इं.ऐ., XL, 183 .
34. यादव, पूर्वोक्त, पृ. 34 .
35. वही
36. डी.शर्मा (संपा.)'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', खंड 1, पृ. 472 और उसके बाद .
37. देखिए जी. याजदानी (संपा.), 'दि अर्ली हिस्टरी आफ दि डेकन', (आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1960) में एच.सी. राय चौधुरी कृत प्रथम अध्याय .
38. इं.ऐ., XIII, पृ. 70 और उसके बाद; ए.इं., XXXIII, पृ. 147 और उसके बाद .
39. के.सी. जैन, पूर्वोक्त, पृ. 195 .
40. असोपा, पूर्वोक्त, पृ. 81, पाट टिप्पणी नं. 1 में उद्धृत 'मया गुर्जरदेशे गन्तव्यं करभग्रहणाय....ततश्च गुर्जर देशे गत्वा उष्ट्रीं गृहीत्वा स्वगृहमागतः' .
41. श्री गुर्जरवाहितसमस्तक्षेत्र, ए.ई. III, पृ. 263-7 .
42. तुलनीय के.ए.नीलकंठ शास्त्री, 'ए कांप्रिहेंसिव हिस्टरी आफ इंडिया', खंड 2, 'दि मौर्यज एंड सातवाहनज' (बम्बई, 1957), पृ. 226 में उद्धृत 'होउ हान-शू' का प्रमाण ।
43. बी.सूर्यवंशी, 'दि आभीरज : देअर हिस्टरी एंड कल्चर' (बड़ौदा, 1962), पृ. 39-40 ।
44. जिन अभिलेखीय उल्लेखो के आधार पर ये तालिकाएं तैयार की गई हैं , वे चुनौदा तो अवश्य हैं किन्तु

यादृच्छिक नहीं । 'राजनैतिक प्रस्थिति' इंगित करने वाला कालम प्रायः खाली ही छोड़ दिया गया क्योंकि अभिलेखों में इस स्तर की परिभाषा न होने के कारण उसका पुनर्गठन करना होगा। कालम में इस स्तर का उल्लेख तभी किया गया जबकि उसके संबंध में निश्चित निर्देश प्राप्त होते हैं
इ ऐ, XLII, पृ 70 और उसके बाद, एइ., XVIII, पृ 147 और उसके बाद
एइ, XVIII, पृ 97-8.
ज ए एसो (1895), पृ 519 20
एइ, XVIII, पृ 110.
इ ऐ, XLII पृ 58, राजशेखर के समकालीन ग्रंथ 'कर्पूरमंजरी' में भी महेन्द्रपाल एवं महीपाल का उल्लेख 'रघुकुलतिलक' के रूप में मिलता है। इस तथ्य को डी आर भंडारकर ने 'फारेन एलिमेंट्स इन दि हिंदू पापुलेशन', इ ऐ (1911), पृ 83, पाद टिप्पणी 80 में उद्धृत किया गया है
एइ, III, पृ 263 7
सरकार, पूर्वोक्त पृ 71-6
एइ, XII पृ 10 और उसके बाद
वही, IV, पृ 29 और उसके बाद
इ ऐ, XXXIX पृ 191, एइ XXXI, पृ 237 और उसके बाद
'अ कलेक्शन आफ प्राकृत एंड संस्कृत इंस्क्रिप्शंस' (भावनगर पुरातत्व विभाग भावनगर) पृ 89
वही, पृ 141
एइ, XII, पृ 197 और उसके बाद
ज्मा ब्रा रा ए सो जे, XL, पृ 39 और उसके बाद
एइ XI, पृ 304
इ ऐ, XLII, पृ 57 और उसके बाद
एइ, XXXI, पृ 84 और उसके बाद
वही, XXIX पृ 179
जयानक कृत 'पृथ्वीराज विजय', इस ग्रंथ के प्रमाण और व्याख्या द्वारा अपने वंश संबंधी परिवर्तनशील दावों के स्रोत का विस्तृत विश्लेषण वी एस पाठक ने अपने ग्रंथ 'एंशंट हिस्टोरियन्स आफ इंडिया अ स्टडी इन हिस्टारिकल बायोग्राफीज' (बम्बई, 1966) पृ 98-136 में किया है
एइ, IX, पृ 75 और उसके बाद
यहां 'सामंत' शब्द का प्रयोग किसी अन्य श्रेष्ठतर विकल्प के अभाव में केवल एक अधीनस्थ स्थिति के निश्चित रूप में किया जा रहा है। इस एवं ऐसे ही अन्य अनेक शब्दों के अविवेकपूर्ण प्रयोग की हाल में की गई आलोचना के लिए देखिए बी स्टाइन का लेख, 'दि स्टेट एंड ऐग्रेरियन आर्डर इन मध्ययुगीन इंडिया' पृ 83-84
'अ कलेक्शन आफ प्राकृत एंड संस्कृत इंस्क्रिप्शंस', पृ 157 और उसके बाद
सरकार, पूर्वोक्त, पृ 6-11 और डी आर भंडारकर, पूर्वोक्त, पृ 85-6
एइ, XVIII, पृ 97-8
ज ए एसो (1895), पृ 519 20
एइ, IX, पृ 279
'अ कलेक्शन आफ प्राकृत एंड संस्कृत इंस्क्रिप्शंस', पृ 89
के मुरारी सिंह, पूर्वोक्त.
1169 ई के बिजोली अभिलेख का प्रमाण, एइ., XXVI, पृ 84 और उसके बाद।
वही, XXIII, पृ 147 और उसके बाद
वही, XII, पृ 197 और उसके बाद।
इ ऐ., XLII, पृ 58।
देखिए आर एस शर्मा, 'इंडियन फ्यूडलिज्म, स 300-1200' (कलकत्ता विश्वविद्यालय, ,
176 और उसके बाद, के गोपाल, 'एकानामिक ट्रेंड्स एंड सोशल लाइफ इन नार्दर्न इंडिया, (सं 700-1200 ए.डी.)', (यूनिवर्सिटी आफ इलाहाबाद

1963-64), पृ. 75-103 ।
78. साक्ष्य के सामान्य अवलोकन के लिए देखिए के. गोपाल, पूर्वोक्त ।
79. देखिए बी.एन.पुरी, 'दि हिस्टरी आफ दि गुर्जर-प्रतीहारज' (बम्बई, 1957), पृ. 109 और उसके बाद ।
80. एइं., III, 226 और उसके बाद; तुलनीय के. गोपाल, पूर्वोक्त, पृ.91 ।
81. एइं., II, पृ. 116-30 .
82. वही, XI, 32-3; तुलनीय के. गोपाल, पूर्वोक्त, पृ. 92-4 .
83. यू.एन.घोषाल, 'कांट्रीब्यूशंस टु दि हिस्टरी आफ दि हिंदू रेवेन्यू सिस्टम' (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1929), पृ. 260 .
84. एइं., IX, 2-6; वही, III, पृ. 116-30 .
85. वही, IX, 2-6 .
86. वही, XXIII, 135.
87. वही, IX, पृ. 62-6.
88. के.गोपाल, पूर्वोक्त, पृ.96 मे उद्धृत .
89. सी.यू.विल्स, 'दि टेरिटोरियल सिस्टम आफ दि राजपूत किंगडम्स आफ मेडीवल छत्तीसगढ़', ज.प्रो.ए.सो.बं., न्यू.सी., XV (1919),पृ. 199 ।
90. उदाहरणार्थ, देखिए के.सी. जैन, पूर्वोक्त, पृ. 80-154 में आरम्भिक ऐतिहासिक सामग्री ।
91. ए.इं. XXIV, पृ. 329 और उसके बाद .
92. वही, III, पृ. 263 .
93. वही, XVII, पृ. 98 .
94. एच.सी.रे., 'दि डायनेस्टिक हिस्टरी आफ नार्दर्न इंडिया (अर्ली मेडीवल पीरियड)', खंड 2 पुनर्मुद्रित संस्करण (दिल्ली, 1973). पृ. 1191 .
95. ए.इं., XXIII, पृ. 132 .
96. 'कांचनगिरिगढ़' के रूप में भी वर्णित, वही, i, पृ. 54-5 .
97. वही, XXII, पृ. 196-8 .
98. के.सी. जैन, पूर्वोक्त, पृ. 256-8 .
99. एइं., XXIV, पृ. 196-8 .
100. एइंए, XXII, पृ. 196-8 .
101. एइं., XXIII, पृ.131-6 .
102. वहीं, I, पृ. 154 और उसके बाद .
103. वही, XVIII, पृ. 87-99; और देखिए, डी. शर्मा (संपा.), 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', खंड 1, पृ. 124, पाद टिप्पणी नं. 2 .
104. एइं., XXXVII, पृ. 155-8 .
105. वही, IX, पृ. 66 और उसके बाद .
106. वही, XXXII, पृ. 135-8 .
107. वही, XXI, पृ. 42-50 .
108. ऐ.रि.रा.म्यू. (1936), पृ. 2.
109. वही .
110. इं.ए., XVI, पृ. 345-55.
111. प्रो.रि.आ.सं.वे.स. (1905-06), पृ. 61.
112. एइं., XXXI, पृ. 237-48.
113. वही .
114. इं.ए., XXXIX, पृ. 188-9.
115. वही.
116. इस काल में हूणों की बस्तियों के लिए देखिए डी.सी. सरकार, 'सम प्राबलेम्स आफ कुषाण एंड राजपूत हिस्टरी', (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1969), पृ. 83-7. ।

117 इं ए., LVIII, पृ 161 और उसके बाद
118 वही, LVI, पृ 50 1
119 वही, XLI पृ 17 9
120 ए इं., XI पृ 49 51
121 असोपा, पूर्वोक्त, पृ 9-10 में उद्धृत
122 वही
123 वही
124 वही
125 आर एस शर्मा एव डी झा (सपा.) 'इंडियन सोसायटी हिस्टारिकल प्रोबिंग्स' में इर्फान हबीब का लेख दि सोशल डिस्ट्रीब्यूशन ऑवलैंडेड प्रापर्टी इन प्रीब्रिटिश इंडिया (ए हिस्टारिकल सर्वे) पृ 285
126 एम ए स्टाइन, 'कल्हणज राजतरंगिणी ए क्रानिकल आफ दि किंग्स आफ कश्मीर', खड 1, पुनर्मुद्रित सस्करण (दिल्ली 1961) पृ 593
127 प्रो रि आ स वे स (1910-1) पृ 38-9
128 वही, पृ 35
129 ऐ रि रा म्यु (1927) पृ 3
130 प्रो रि आ स वे स (1915-5) पृ 35
131 वही
132 वही (1911-12) पृ 52
133 ए इं., XI, पृ 36 7
134 वही, XXXVII पृ 157-6
135 इं ए., XLV, पृ 77 और उसके बाद
136 पी सी नाहर 'जैन लेख सग्रह', भाग 1, (कलकत्ता, 1918) पृ 218
137 वही, भाग 2 (कलकत्ता 1927) पृ 25
138 प्रो रि आ स वे स (1908 9) पृ 45
139 ए इं., XXXIV, पृ 77 और उसके बाद
140 वही, XIX, पृ 52-4, पृ 6
141 वही, XXXIV, पृ 173-6, 960 ई का राजोर अभिलेख, वही, III पृ 263-7, परमार भोज का 1019 ई का बनेरा ताम्रपत्र, इं ऐ XLI, पृ 201 2, और 1119 ई का एक नाडोल अभिलेख भी देखिए, ए इं., XI,304 और उसके बाद
142 वही, IX, पृ 62-6
143 डी शर्मा (सपा.), 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', भाग 1, पृ 359
144 ए इं., IX, पृ 187 92
145 इं ऐ., LVIII, पृ 161 और उसके बाद
146 ए इं., XXX, पृ 8 12.
147 वही, XXII, पृ 192-6
148 इं ऐ., XLI, पृ 17-9
149 वही पृ 202-3
150 ए इं., XII, पृ 56-61
151 वही, XXVI, पृ 84 और उसके बाद
152 इं ऐ., XIX, पृ 215 9
153 ए इं., XI, पृ 46-7.
154 इं ऐ., XLV, पृ 77 और उसके बाद
155 वही LXI, पृ 135-6
156 प्रो रि आ स वे स (1907-08), पृ 49, इं ऐ., LXII पृ 42.
157 पूर्व मध्ययुगीन राजस्थान के स्मृति स्तंभों से संबंधित उपयोगी विचार के लिए देखिए एच नेउमन, दि

आर्ट एंड आर्किटेक्चर आफ बीकानेर स्टेट' (आक्सफोर्ड, 1960), पृ. 61 और उसके बाद; आर.सी. अग्रवाल, 'पश्चिमी राजस्थान के कुछ प्रारंभिक स्मृति स्तम्भ', 'वरदा' (हिंदी में), अप्रेल, 1963.

158. ऐ.रि.इं.ए. (1964-5), पृ. 102.
159. प्रो.रि.आ.स.वे.स. (1911-12), पृ. 53.
160. हमने इसकी विवेचना अन्यत्र एक लेख में की है जो दिसंबर 1974 में धारवार में हुए स्मृति स्तंभों से संबंधित सेमीनार के लिए तैयार किया गया था.
161. इं.आ.रि. (1959-60), पृ. 60.
162. वही (1962-63), पृ. 54.
163. प्रो.रि.आ.स.वे.स. (1909-10), पृ. 61; वही (1911-12), पृ. 52.
164. वही (1916-7), पृ. 70.
165. इं.ए., XL, पृ. 183.
166. वही, पृ. 181-183.
167. ऐ.रि.रा.म्यू. (1935), पृ. 53.
168. प्रो.रि.आ.स.वे.स. (1911-2), पृ. 53.
169. वही.
170. वही.
171. वही.
172. ऐ.रि.रा.म्यू. (1909), पृ. 10, परिशिष्ट डी.; देवड़ाओं के लिए इं.ऐ. XLV, पृ. 77 और उसके बाद; ए.इं., IX, पृ. 79 भी देखिए.
173. वही (1922-3), पृ. 2.
174. इं.ए., XLII, पृ. 267-9.
175. ऐ.रि.इं.ए. (1964-65), पृ. 102.
176. वही (1059-60), पृ. 113.
177. ज.प्रो.ए.वो.बं. (1916), पृ. 104-6.
178. वही.
179. वही.
180. प्रो.रि.आ.स.वे.स. (1909-10)] पृ. 51.
181. ऐ.रि.इं.ए. (1961-2), पृ. 115.
182. प्रो.रि.आ.स.वे.स. (1911-2), पृ. 53.
183. ऐ.रि.इं.ए. (1954-5), पृ. 59.
184. 'अ कलेक्शन आफ प्राकृत ऐंड संस्कृत इंस्क्रिप्शंस', पृ. 88.
185. इं.ए., XLI, पृ. 203-03.
186. प्रो.रि.आ.स.वे.स. (1911-12), पृ. 53.
187. वही, पृ. 52.
188. ए.इं., XI, पृ. 60-2.
189. प्रो.रि.आ.स.वे.स. (1911-2), पृ. 53.
190. वही.
191. डी. शर्मा (संपा.), 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', खंड I, पृ. 546-7.
192. वही, पृ. 549-52.
193. आर.एस.शर्मा, 'सोशल चेंजेज इन अर्ली मेडीवल इंडिया'.
194. डी. शर्मा (संपा.), 'राजस्थान थ्रू दि ऐजेज', खंड I, पृ. 442-4.
195. ए.इं., XII, पृ. 56-61; इं.ऐ., XLI, पृ. 85-8.

13

# मारवाड़ के दुर्ग और सुरक्षा व्यवस्था

मोहनराम चौधरी

7वीं शताब्दी से 11 शताब्दी तक राजस्थान मे अनेक राजपूत राजवशों का उदय हुआ। इनमें प्रमुख राजवश गहलोत, प्रतिहार, चौहान, भाटी, परमार, सोलकी, तवर, राठौड़ आदि थे। इन वशो की राजधानियां सुदृढ़ दुर्गों में थीं। इनके सीमा प्रदेशो की पहाड़ियाँ भी प्राय विविध प्रकार के दुर्गों से सुरक्षित थी। पश्चिमी राजस्थान मे मण्डोर और भीनमाल दोनो मे सुदृढ़ दुर्ग थे।[1]

राजस्थान का विस्तृत भू-भाग प्राचीनकाल में नागवशीय राजपूतो के अधीन था। नागौर दुर्ग के निर्माता नागवशी क्षत्रिय थे।[2] निकुम्भ सूर्यवशी क्षत्रिय थे और स्वय को इक्ष्वाकु की सन्तान बतलाते थे। 13वीं शताब्दी मे इनका राजस्थान मे प्रवेश हुआ। इन्होने अपनी भूमि की रक्षार्थ सुदृढ़ दुर्गों का निर्माण करवाया। इनका सर्वोत्तम दुर्ग अलवर है।[3] इसके अतिरिक्त आमेर प्रदेश मे भी इन्होने कुछ दुर्गों का निर्माण करवाया था।[4]

महमूद गजनवी के आक्रमण के समय जाबालीपुर (आधुनिक जालौर) पर सोलंकी शासक कुमारपाल का अधिकार था। जालौर दुर्ग की गणना उस समय के अपराजेय दुर्गों में की जाती थी। जालौर के इस विशाल दुर्ग का निर्माण परमार राजाओं ने 10 वीं शताब्दी में करवाया था।

तेरहवीं शताब्दी के बाद राजस्थान मे दुर्ग बनाने की परम्परा ने एक नवीन मोड़ लिया। इस काल में ऊँची-ऊँची पहाड़ियाँ, जो ऊपर से चौड़ी थीं और जिनमें कृषि तथा सिंचाई के साधन उपलब्ध थे, किले बनाने के उपयोग में लायी जाने लगी। नवीन दुर्गों के निर्माण के साथ ही प्राचीन दुर्गों का भी नवनिर्माण करवाया जाने लगा। चित्तौड़, आबू, कुम्भलगढ़, माण्डलगढ़ आदि स्थानों के पुराने किलों को मध्ययुगीन स्थापत्य कला के आधार पर एव नवीन युद्ध शैली को ध्यान में रखकर पुनर्निर्मित करवाया गया। महाराणा कुम्भा ने चित्तौड़ दुर्ग की प्राचीर, प्रवेश-द्वारों एव बुर्जों को अधिक सुदृढ़ बनवाया। कुम्भलगढ़ दुर्ग के भीतर ऊँचे से ऊँचे भाग का प्रयोग राजप्रासाद के लिए तथा नीचे के भाग को जलाशयों के लिए प्रयुक्त किया गया। कुम्भलगढ़ दुर्ग के चारों ओर दीवारें चौड़ी और बड़े आकार की बनवायी गई। जिन दुर्गों में जलाशयों के लिए व्यवस्था नहीं थी, वहा पानी के लिए कृत्रिम जलाशय बनवाये गये।[5]

मध्यकाल के राजपूत सैन्य प्रबन्ध में दुर्गों का विशेष महत्त्व था। प्रत्येक राजपूत राजा किले और गढ़ी बनवाने में पूरी रुचि लेता था। ये दुर्ग सैनिक केन्द्र तो होते ही थे, साथ-ही-साथ इनमें राजा का निवास स्थान भी होता था। प्रतिहार नरेश किले बनवाने में और उनकी सामरिक महत्ता पहचानने में बहुत कुशल थे। जालौर, मण्डोर व ग्वालियर के दुर्ग इसके प्रमाण हैं। चौहानों के रणथम्भौर, हांसी, सिरसा, साम्भर, नागौर, सिवाना तथा नाडौल के दुर्ग इसके साक्षी हैं कि चौहान शासक भी दुर्गों एवं उनकी सामरिक महत्ता के प्रति सजग थे।[6]

चालुक्यों के दुर्ग चौहानों के समान सामरिक महत्व के नहीं थे। उनके दुर्ग पहाड़ियों पर बनाये गये थे और उनके चारों तरफ खाइयां हुआ करती थीं। ये दुर्ग बहुत ज्यादा लम्बे, चौड़े भू-भाग पर बनाये जाते थे।

अजयगढ़, मनियागढ़, कालिंजर, महोबा एवं नारीगढ़ आदि चन्देल राजाओं के प्रमुख दुर्ग थे।

जब तक पल्लेदार तोप का आविष्कार नहीं हुआ था और उसके द्वारा कोस आधा कोस की दूरी से मार कर दुर्ग की प्राचीर एवं तटबन्धों को धराशायी नहीं किया जा सकता था तब तक ये दुर्ग राजपूत सैन्य प्रबन्ध में महत्वपूर्ण बने रहे और आक्रमणकारी ऐसे दुर्गों को धोखे के बल पर ही जीत पाए।

## मण्डोर दुर्ग

मण्डोर जोधपुर की स्थापना से पूर्व मारवाड़ की राजधानी था। मण्डोर का नाम प्राचीन काल में मांडव्यपुर था[7] जो माण्डव्य ऋषि के नाम पर पड़ा था। घटियाला से प्राप्त शिलालेख से ज्ञात होता है कि मण्डोर दुर्ग का निर्माण 7वीं शताब्दी से पूर्व हो चुका था। शिलालेखों के अनुसार ब्राह्मण हरिचन्द्र के पुत्रों ने मण्डोर पर अधिकार कर लिया तथा 623 ई. में उन्होंने इसके चारों ओर दीवार बनवाई।

मण्डोर दुर्ग के अवशेष आज भी विद्यमान है। यह दुर्ग एक पहाड़ी के शिखर पर स्थित था, जिसकी ऊँचाई 300 से 350 फुट थी। दुर्ग आज खण्डहर हो चुका है। कुछ खण्डहरों के नीचे दबा पड़ा है तथा कुछ विघटित अवस्था में खड़ा है। विघटित अवस्था में विद्यमान दुर्ग को देखकर यद्यपि उसकी वास्तविक निर्माण विधि का पूरा आकलन नहीं किया जा सकता तथापि इस विषय में कुछ अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है।

पहाड़ी पर स्थित इस दुर्ग के चारों ओर पाषाण निर्मित दीवार थी। दुर्ग में प्रवेश करने के लिए एक मुख्य मार्ग था। दुर्ग की पोल पर लकड़ी से निर्मित विशाल दरवाजा था। दुर्ग में शासकों के निवास के लिए महल, भण्डार, सामन्तों व अधिकारियों के भवन आदि बने हुए थे। जिस मार्ग द्वारा नीचे से पहाड़ी के ऊपर किले तक पहुँचा जाता था वह ऊबड़-खाबड़ था। किले की प्राचीर में जगह-जगह चौकोर छिद्र बने हुए थे।

सामरिक सुरक्षा की दृष्टि से मण्डोर दुर्ग तात्कालिक समय में काफी सुदृढ़ माना जाता था। इसके कारण शत्रु की सेना को पहाड़ी पर अचानक चढ़ाई करने में कठिनाई का सामना करना पड़ता था। दुर्ग में प्रवेश-द्वार इस तरह से निर्मित्त किये गये थे कि उन्हें तोड़ना शत्रु के लिए असम्भव-सा था। किले में पानी की भी पर्याप्त व्यवस्था थी जिससे आक्रमण के समय सैनिकों व रक्षकों को जल की कमी का सामना नहीं करना पड़े।

मण्डोर दुर्ग की प्राचीर चौड़ी और सुदृढ़ थी। दुर्ग के पास ही एक विशाल जलाशय का निर्माण करवाया गया था। इस जलाशय की सीढ़ियों पर नाहरदेव नाम अंकित है जो मण्डोर का अन्तिम परमार शासक था। दुर्ग की दीवारें पहाड़ी के शीर्ष भाग से ऊपर उठी हुई थीं। बीच के समुन्नत भाग पर विशाल महल बने थे जो नीचे के मैदानों पर छाये हुए थे। मण्डोर दुर्ग के बुर्ज गोलाकार न होकर अधिकांशतः चौकोर थे, जैसे कि अन्य प्राचीन दुर्गों में पाए जाते हैं।

783 ई. से 1143 तक मण्डोर परिहार शासकों के अधिकार में रहा। इसके बाद नाडोल के चौहान शासक रामपाल ने मण्डोर दुर्ग पर अधिकार कर लिया था। परिहारों को रामपाल का प्रभुत्व स्वीकार करना

पड़ा। 1227 ई. में गुलाम वंश के शासक इल्तुतमिश ने मण्डोर पर अधिकार कर लिया।[8] यद्यपि परिहार शासकों ने तुर्की आक्रान्ताओं का सामना किया पर अन्तत: मण्डोर तुर्कों के हाथ चला गया।[9] लेकिन तुर्की आक्रमणकारी मण्डोर को लम्बे समय अपने अधिकार में नहीं रख सके एवं दुर्ग पर पुन: परिहारों का अधिकार हो गया। 1294 ई. में फिरोज खिलजी ने परिहारों को पराजित कर मण्डोर दुर्ग अधिकृत कर लिया, परन्तु 1395 ई. में परिहारों की इन्दा शाखा ने दुर्ग पर पुन: अधिकार कर लिया। इन्दो ने इस दुर्ग को चूंडा राठौड़ को सौंप दिया।[10] राव चूडा महत्वाकांक्षी शासक थे। उन्होंने मण्डोर के आस-पास के कई प्रदेशों पर अधिकार किया। 1396 ई. मे गुजरात के फौजदार जफरखाँ ने मण्डोर पर आक्रमण किया। एक वर्ष के निरन्तर घेरे के उपरान्त भी जफर खाँ को मण्डोर पर अधिकार करने में सफलता नहीं मिली और उसे विवश होकर घेरा उठाना पड़ा।

1453 ई. मे राव जोधा ने मण्डोर दुर्ग पर अधिकार किया।[11] उस ने मारवाड़ की राजधानी मण्डोर से स्थानान्तरित करके जोधपुर ले जाने का निर्णय लिया। राजधानी हटने के कारण मण्डोर दुर्ग धीरे धीरे वीरान होकर खण्डहर हो गया।

## जालौर दुर्ग

जालौर दुर्ग मारवाड़ का सुदृढ़ गढ़ है। इसे परमारों ने बनवाया था। यह दुर्ग क्रमश: परमार चौहानों और राठौड़ो के अधीन रहा। यह राजस्थान मे ही नही अपितु सारे देश में अपनी प्राचीनता, सुदृढ़ता और सोनगरा चौहानों के अतुल शौर्य के कारण प्रसिद्ध रहा है।

प्राचीन शिलालेखों में जालौर का नाम जाबालीपुर और किले का नाम सुवर्णगिरि मिलता है। सुवर्णगिरि शब्द का अपभ्रंश रूप सोनलगढ़ हो गया और इसी से यहा के चौहान सोनगरा कहलाये।

जालौर जिले का पूर्वी और दक्षिणी भाग पहाड़ी शृंखला से आवृत है। इस पहाड़ी शृंखला पर उस काल में सघन वनावली छायी हुई थी। अरावली की शृंखला जिले की पूर्वी सीमा के साथ-साथ चली गई है तथा इसकी सबसे ऊँची चोटी 3253 फुट ऊँची है। इसकी दूसरी शाखा जालौर के केन्द्र भाग में फैली है जो 2408 फुट ऊँची है। इस शृंखला का नाम सोनगिरि है।[12] सोनगिरि पर्वत पर ही जालौर का विशाल सुदृढ़ दुर्ग विद्यमान है।

जहां जालौर दुर्ग की स्थिति है उस स्थान पर सोनगिरि की ऊँचाई 2408 फुट है। यहां पहाड़ी के शीर्ष भाग पर 800 गज लम्बा और 400 गज चौड़ा समतल मैदान है।[13] इस मैदान को चारों ओर विशाल बुर्जों और सुदृढ़ प्राचीरों से घेर कर दुर्ग का निर्माण किया गया है। गोल बिन्दु के आकार में दुर्ग की रचना है जिसके दोनों पार्श्व भागों में सीधी मोर्चा बन्दी युक्त पहाड़ी पंक्ति है। दुर्ग में प्रवेश करने के लिए एक टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता पहाड़ी पर जाता है। अनेक सुदीर्घ शिलाओं की परिक्रमा करता हुआ यह मार्ग किले के प्रथम द्वार पर पहुँचता है।

किले का प्रथम द्वार बड़ा सुन्दर है। नीचे के अन्त: पार्श्वों पर रक्षकों के निवास स्थल हैं। सामने की तोपों की मार से बचने के लिये एक विशाल प्राचीर चुन कर इस द्वार को सामने से ढक देती है। यह दीवार 25 फुट ऊँची और 15 फुट चौड़ी है। इस द्वार के एक ओर मोटा बुर्ज और दूसरी ओर प्राचीर का भाग आ गया है। यहां से दोनों ओर प्राचीरों से दबा हुआ किले का मार्ग फिर ऊपर की ओर बढ़ता है।

ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं नीचे की गहराई अधिक होती जाती है। इन प्राचीरों के पास मिट्टी के ऊँचे स्थल बने हुए हैं जिन पर रखी तोपों से आक्रमणकारियों पर मार की जाती थी। प्राचीरों की चौड़ाई यहां 15-20 फुट तक हो जाती है।

इस सुरक्षित मार्ग पर प्राय: आधा मील तक चढ़ने के बाद किले का दूसरा दरवाजा दृष्टिगोचर होता है। इस दरवाजे का युद्ध कला के दृष्टिकोण से विशेष महत्व है। दूसरे दरवाजे से आगे किले का तीसरा और मुख्य द्वार है। यह द्वार दूसरे द्वारों से विशालतर है। इसके दरवाजे भी अधिक मजबूत हैं। यहीं से रास्ते के दोनों ओर साथ चलने वाली प्राचीर श्रृंखला कई भागों में विभक्त होकर गोलाकार सुदीर्घ पर्वत प्रदेश को समेटती हुई फैल जाती है। तीसरे व चौथे द्वार के मध्य की भूमि बड़ी सुरक्षित है। प्राचीर की एक पंक्ति तो बांई ओर से ऊपर उठकर पहाड़ी के शीर्ष भाग को छू लेती है तथा दूसरी दाहिनी ओर घूम कर मैदानों पर छाई हुई चोटियों को समेट कर चक्राकार घूमकर प्रथम प्राचीर की पंक्ति से आ मिलती है। यहां स्थान-स्थान पर विशाल और विविध प्रकार के बुर्ज बनाए गए हैं। कुछ स्वतन्त्र बुर्ज प्राचीर से अलग हैं। दोनों ओर की गहराई ऊपर से देखने पर बड़ी भयावह लगती है।[14]

जालौर दुर्ग का निर्माण परमार राजाओं ने 10वीं शताब्दी में करवाया था। पश्चिमी राजस्थान में परमारों की शक्ति उस समय चरम सीमा पर थी। धारावर्ष परमार बड़ा शक्तिशाली था।[15] उसके शिलालेखों से, जो जालौर से प्राप्त हुए हैं, अनुमान लगाया जाता है कि इस दुर्ग का निर्माण उसी ने करवाया था।

किले की वास्तुशैली हिन्दू है। परन्तु इसके विशाल प्रांगण में एक ओर मुसलमान सन्त मलिक शाह की मस्जिद है।[16]

जालौर दुर्ग में जल के अतुल भण्डार हैं। सैनिकों के आवास बने हुए हैं। दुर्ग के निर्माण की विशेषता के कारण तोपों की बाहर से की गयी मार से किले के अन्त: भाग को जरा भी हानि नहीं पहुँची है। किले में इधर-उधर तोपें बिखरी पड़ी हैं जो विगत संघर्षमय युगों की यादा ताजा करती हैं।

12वीं शताब्दी तक जालौर दुर्ग अपने निर्माता परमारों के अधिकार में रहा। 12वीं शताब्दी में गुजरात के सोलंकियों ने जालौर पर आक्रमण कर परमारों को कुचल दिया[17] और परमारों ने सिद्धराज जयसिंह का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। सिद्धराज की मृत्यु के बाद कीर्तिपाल चौहान ने इस दुर्ग को घेर लिया। कई माह के कठोर प्रतिरोध के बाद कीर्तिपाल इस दुर्ग पर अपना अधिकार करने में सफल रहा। कीर्तिपाल के पश्चात् समरसिंह और उदयसिंह जालौर के शासक हुए। उदयसिंह ने जालौर में 1205 ई. से 1249 ई. तक शासन किया। गुलामवंश के शासक इल्तुतमिश ने 1211 से 1216 के बीच जालौर पर आक्रमण किया। वह काफी लम्बे समय तक दुर्ग का घेरा डाले रहा। उदयसिंह ने वीरता के साथ दुर्ग की रक्षा की परन्तु अन्ततोगत्वा उसे इल्तुतमिश के सामने हथियार डालने पड़े। इल्तुतमिश के साथ जो मुस्लिम इतिहासकार इस घेरे के समय मौजूद थे, उन्होने उसे दुर्ग के बारे में अपनी राय प्रकट करते हुए कहा था कि यह अत्याधिक सुदृढ़ दुर्ग है, जिसके दरवाजों को खोलना आक्रमणकारियों के लिए असंभव-सा है।

जालौर के किले की सैनिक उपयोगिता के कारण सोनगरा चौहानों ने उसे अपने राज्य की राजधानी बना रखा था। इस दुर्ग के कारण यहां के शासक अपने आपको बड़ा बलवान मानते थे। जब कान्हड़देव यहां का शासक था, तब 1305 ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने जालौर पर आक्रमण किया।[18] अलाउद्दीन ने अपनी सेना गुल-ए-बहिश्त नामक दासी के नेतृत्व में भेजी थीं।[19] यह सेना कान्हड़देव का मुकाबला

करने में असमर्थ रही और उसे पराजित होना पड़ा। इस पराजय से दुखी होकर अलाउद्दीन ने 1311 ई. में एक विशाल सेना कमालुद्दीन के नेतृत्व में भेजी लेकिन यह सेना भी दुर्ग पर अधिकार करने में असफल रही। खिलजी सेना की बार-बार असफलता का कारण दुर्ग मे अथाह जल का भण्डार होना एवं रसद आदि की पूर्ण व्यवस्था थी, जिससे राजपूत सैनिक लम्बे समय तक दुर्ग में रहकर प्रतिरोध करने की स्थिति में रहते थे। दूसरे दुर्ग के द्वारों की बनावट इतनी मजबूत थी कि आक्रमणकारियों द्वारा उन्हें तोड़ना असम्भव-सा था। लेकिन दो बार असफलता के बाद भी अलाउद्दीन खिलजी ने जालौर दुर्ग पर अधिकार करने का प्रयास नहीं छोड़ा और दुर्ग का घेरा जारी रखा। तत्कालीन स्रोतों से ज्ञात होता है कि जब राजपूत अपने प्राणों की बाजी लगा कर दुर्ग की रक्षा कर रहे थे, विक्रम नामक एक धोखेबाज ने सुल्तान द्वारा दिये गये प्रलोभन में शत्रुओं को दुर्ग मे प्रवेश करने का एक गुप्त मार्ग बता दिया जिससे शत्रु सेना दुर्ग के भीतर प्रवेश कर गयी। कान्हड़देव व उसके सैनिकों ने वीरता के साथ खिलजी का मुकाबला किया और कान्हड़देव इस संघर्ष में वीरगति को प्राप्त हुआ।[20]

कान्हड़देव की मृत्यु के बाद भी जालौर के चौहानों ने हिम्मत नहीं हारी और कान्हड़देव के पुत्र वीरमदेव के नेतृत्व में पुन: संगठित होकर खिलजी सेना से संघर्ष जारी रखा। परन्तु मुट्ठी भर राजपूत रसद की कमी हो जाने तथा शत्रुओं के किले में प्रवेश कर लेने से युद्ध को अधिक समय तक जारी नहीं रख सके। वीरमदेव ने यह समझ कर कि वह बन्दी बना दिया जायेगा, पेट मे कटार भोंक कर मृत्यु का वरण किया। इस सम्पूर्ण घटना का उल्लेख अखेराज चौहान के एक आश्रित लेखक पद्मनाभ ने 'कान्हड़देव प्रबन्ध' नामक ग्रन्थ मे किया है।

वैसे तो इस विजय के बाद यह दुर्ग अलाउद्दीन खिलजी के अधिकार मे चला गया फिर भी यह अपने अतीत के गौरव को अपने प्राचीन प्रतीकों के द्वारा आज भी प्रदर्शित कर रहा है।

महाराणा कुम्भा के काल (1433 ई. से 1468 ई ) में राजस्थान मे जालौर और नागौर मुस्लिम शासन के केन्द्र थे। नागौर को कुम्भा ने एक बार विजित[21] भी किया था परन्तु जालौर पर मुसलमानों का नियन्त्रण बना रहा। 1559 ई. मे मारवाड़ के राठौड़ शासक मालदेव ने आक्रमण कर जालौर दुर्ग को अल्प समय के लिए अपने अधिकार में कर लिया। 1617 ई. मे मारवाड़ के ही शासक गजसिंह ने इस पर पुन. अधिकार किया।[22]

18वी शताब्दी के अन्तिम चरण में जब मारवाड़ राज्य के राजसिंहासन के प्रश्न को लेकर महाराजा जसवंतसिंह एवं भीमसिंह के मध्य संघर्ष चल रहा था तब महाराजा मानसिंह वर्षों तक जालौर दुर्ग में रहे।[23] जोधपुर के राठौड़ शासक भीमसिंह ने मानसिंह को नतमस्तक करने के लिए विशाल सेना के साथ जलौर दुर्ग का घेरा डाला, परन्तु लम्बे संघर्ष के उपरान्त भी भीमसिंह को दुर्ग पर नियन्त्रण करने में सफलता नहीं मिली।

इस प्रकार 19वीं शताब्दी में जालौर दुर्ग मारवाड़ राज्य का एक हिस्सा था। मारवाड़ राज्य के इतिहास में जालौर का दुर्ग जहा एक तरफ अपने स्थापत्य के कारण विख्यात रहा है वहीं सामरिक व सैनिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण रहा है।

## जोधपुर दुर्ग

मारवाड़ के राठौड़ों की कीर्ति और वीरता तथा मान-मर्यादा के प्रतीक जोधपुर दुर्ग का निर्माण राव जोधा ने करवाया था। राज्याभिषेक के समय राठौड़ राव जोधा की राजधानी मण्डोर में थी, परन्तु सामरिक

व सैनिक दृष्टि से मण्डोर के असुरक्षित होने के कारण जोधा ने नवीन दुर्ग एवं नगर की स्थापना का निश्चय किया। आरम्भ में जोधा ने भौगिशैल के दक्षिणी छोर पर स्थित मसूरिया नामक पहाड़ी को दुर्ग निर्माण हेतु चुना।[24] लेकिन बाद में वर्तमान दुर्ग की पहाड़ी को ही उपयुक्त समझा गया।[25] इस पहाड़ी के तीन ओर नगर विस्तार हेतु समतल स्थान है, जहां वर्तमान नगर बसा हुआ है। इसी दृष्टि से उन्होने पहाड़ी शृंखला के इस छोर पर दुर्ग निर्माण का कार्य आरम्भ करवाया। यह कार्य वृक्ष लग्न, स्वाति नक्षत्र, ज्येष्ठ सुदि 11, शनिवार, संवत् 1515 दिनांक 12 मई , 1459 ई. को आरम्भ हुआ।[26] कहते हैं कि निर्माण कार्य आरम्भ हो जाने से तपस्वी चिड़ियानाथ को अपना स्थान बदलना पड़ा, अतः वह यह शाप देकर कि किले में कभी जल का सुपास नहीं होगा, अन्यत्र चला गया। इस स्थान पर राव जोधा ने एक कुण्ड और छोटा शिव-मन्दिर बनवा दिया।[27] कर्नल टॉड के अनुसार चिड़ियानाथ ने जोधगिरी नामक पर्वत पर किला बनाने की सलाह दी थी जिसका नाम पहले बाकुरा विरैया था। जोधपुर के किले की दीवार के बीच दो जीवित पुरुष गाड़े गये थे। इस त्याग के कारण उनकी संतानों को भूमि आदि की सुविधाएँ दी गई थीं ।[28]

शहर के समतल भाग से 400 फुट ऊँची पहाड़ी पर अवस्थित जोधपुर दुर्ग चारों और फैले विस्तृत मैदान को अधिकृत किये हुए है। पहाड़ी की ऊँचाई कम होने के कारण ऊँची-ऊँची विशाल प्राचीरों के बीच दीर्घकार बुर्जे बनवाई गई हैं तथा पहाड़ी को चारों ओर काफी ऊँचाई तक तराशा गया है जिससे किले की सुरक्षा में वृद्धि हो। महलों के भाग में ऊँचाई 120 फुट ही रह गयी है।[29] किले की विशाल उन्नत प्राचीर 20 फुट से 120 फुट तक ऊँची है जिसके मध्य गोल और चौकोर बुर्जें बनी हुई हैं। इनकी मोटाई 12 फुट से 70 फुट तक रखी गयी है। प्राचीर ने 1500 फुट लम्बी तथा 750 फुट चौड़ी भूमि को घेर रखा है।[30]

पहाड़ की चोटी पर बनी मजबूत दीवारों के शीर्ष भाग पर तोपों के मोर्चे हैं। यहां कई विशाल सीधी उठी हुई बुर्जें खड़ी की गई है। प्रायः छः किलोमीटर का भू-भाग इस व्यवस्था से सुरक्षित है।

नीचे के समतल मैदान से एक टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता ऊपर की ओर जाता है। इस रास्ते द्वारा कुछ घुमाव पार करने पर किले का विशाल फाटकों वाला प्रथम सुदृढ़ दरवाजा आता है। आगे चलकर 6 दरवाजे और हैं। 1707 ई. में महाराजा अजीतसिंह ने मुगलों पर अपनी विजय के स्मारक के रूप में फतहपोल का निर्माण करवाया था। अमृतपोल का निर्माण राव मालदेव ने करवाया, और महाराजा मानसिंह ने 1806 ई. में जयपोल का निर्माण करवाया। राव जोधा का फलसा किले का अन्तिम द्वार है। लोहापोल पर कुछ वीर रमणियों के छापे लगे हुए है जो उनके सती होने के स्मारक के रूप में आज भी विद्यमान हैं ।[31]

किले की प्राचीरों के नीचे दो तालाब है जहां से सेना जल प्राप्त करती थी। किले में एक कुण्ड है जो 90 फुट गहरा है। इसे पहाड़ी की चट्टानों के मध्य खोदकर बनाया गया था। किले के अन्तः भाग में शानदार अट्टालिकाओं और प्रासादों का समूह है जो वास्तुकला का उत्कृष्ट नमूना है। लाल पत्थरों से निर्मित ये प्रासाद वास्तुकला के उत्तम उदाहरण हैं। इन प्रासादों का निर्माण समय-समय पर होने के कारण इनमें विभिन्न वास्तुशैलियों का समावेश अपने आप हो गया है। उत्कृष्ट कलाकृतियों से अलंकृत पत्थर की काटी हुई जालियों से सजे हुए ये प्रासाद कला के उत्तम नमूने हैं।[32]

किले की ओर वाले पार्श्व भाग की प्राचीर विशेष रूप से मोटी और ऊँची है। बुर्जों की परिधि यहीं सर्वाधिक है। इस प्राचीर के शीर्ष भाग पर लगी भीमकाय तोपें अब भी किले की रक्षा में तत्पर प्रतीत

होती हैं। इन तोपों में कालका, किलकिला और भवानी नामक तोपें बहुत बड़ी और भारी हैं।[33]

राजपूतों के इतिहास में राठौड़ अपनी वीरता और शौर्य के लिए बड़े प्रसिद्ध रहे हैं। जोधपुर दुर्ग पर आक्रमणों का प्रारम्भ राव बीकाजी के समय हुआ। राव जोधा ने बीकाजी को स्वतन्त्र शासक स्वीकार कर उन्हें छत्र और चवर देने की बात कही थी, परन्तु जोधा की मृत्यु के बाद उनके उत्तराधिकारी सूरसिंह ने ये वस्तुएं बीकाजी को नहीं दीं। अतः बीकाजी ने जोधपुर पर चढ़ाई कर दी।[34] मारवाड़ राज्य की आन्तरिक कलह के परिणामस्वरूप मुगलों को मारवाड़ पर अधिकार करने का अवसर मिला। मालदेव के समय 1544 ई. में शेरशाह ने जोधपुर दुर्ग पर आक्रमण किया था। यद्यपि किलेदार बरजांग विलोकसी ने बड़ी बहादुरी से दुर्ग की रक्षा करने का प्रयत्न किया, फिर भी शेरशाह दुर्ग पर अधिकार करने में सफल हो गया। लेकिन मालदेव ने शक्ति संगठित कर दुर्ग पर अपना अधिकार पुनः स्थापित कर लिया।

मालदेव की मृत्यु के बाद मारवाड़ राज्य में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर संघर्ष छिड़ गया एवं यह राज्य आन्तरिक कलह में डूब गया। इससे जोधपुर की शक्ति काफी क्षीण हो गई। अब मुगलों ने जोधपुर दुर्ग पर अधिकार करने के उद्देश्य से वि.सं. 1621 के चैत्र माह में हुसैन कुली खां के नेतृत्व में सेना भेजी।[35] राव चन्द्रसेन ने चार लाख रुपये देकर सन्धि कर ली और मुगल सेना वापस लौट गई। लेकिन मुगलों ने जोधपुर दुर्ग पर पुनः आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण के समय राव चन्द्रसेन ने 660 सैनिकों सहित किले में रहकर रक्षात्मक युद्ध किया।[36] लेकिन वह शक्तिशाली मुगल सेना का सामना लम्बे समय तक नहीं कर पाया। अतः उसने मुगलों से सन्धि कर जोधपुर दुर्ग उन्हें सौंप दिया।[37] अकबर के काल में मोटा राजा उदयसिंह ने मुगलों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। अतः जोधपुर दुर्ग उसे लौटा दिया गया।

## सिवाना का दुर्ग

सिवाना का दुर्ग जोधपुर से लगभग 54 मील पश्चिम की ओर है। इसके पूर्व में नागौर, पश्चिम में मालानी, उत्तर में पचपदरा और दक्षिण में जालौर हैं। वैसे तो यह दुर्ग चारों ओर रेतीले भाग से घिरा हुआ है परन्तु इसके साथ-साथ यहां छप्पन के पहाड़ों का सिलसिला पूर्व-पश्चिम की सीध में 48 मील तक फैला हुआ है। इस पहाड़ी सिलसिले के अन्तर्गत हलदेश्वर का पहाड़ सबसे ऊँचा है, जिस पर सिवाना का सुदृढ़ दुर्ग बना है।

सिवाना के दुर्ग का बड़ा गौरवशाली इतिहास है। प्रारम्भ में यह प्रदेश परमारों के अधीन था। इस वंश में वीर नारायण बड़ा प्रतापी शासक हुआ। उसी ने सिवाना के दुर्ग को बनवाया था। तदनन्तर यह दुर्ग चौहानों के अधिकार में आ गया। जब अलाउद्दीन ने गुजरात और मालवा को अपने अधिकार में लिया,[38] तो इन प्रान्तों में आवागमन के मार्ग को सुरक्षित रखने के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह मार्ग में पड़ने वाले दुर्गों पर भी अधिकार करे। इस नीति के अनुसार उसने चित्तौड़ तथा रणथम्भौर को अपने अधिकार में कर लिया।[39] परन्तु मारवाड़ से इन प्रान्तों में जाने के मार्ग तब तक सुरक्षित नहीं हो सकते थे जब तक जालौर व सिवाना के दुर्गों पर उसका अधिकार नहीं हो जाता। उस समय सिवाना चौहान शासक सातलदेव के अधिकार में था। सातलदेव ने चित्तौड़ तथा रणथम्भौर जैसे सुदृढ़ दुर्गों को अलाउद्दीन की शक्ति के सामने पराजित होते हुए देखा था। इस कारण उसके मन में भय हो गया था, परन्तु उसने सिवाना के दुर्ग की स्वतन्त्रता को बनाये रखने की कामना भी की। वह बिना युद्ध लड़े किले को शत्रु के हाथों सौंप देना अपने धर्म, परम्परा और सम्मान के विरुद्ध समझता था। उसने सर्व

में परास्त किया था एवं उसकी धाक सारे राजस्थान में जमी हुई थी। अतः उसके लिए बिना युद्ध लड़े खिलजियों को दुर्ग सौंप देना असंभव था।

जब अलाउद्दीन ने देखा कि बिना युद्ध के किले पर अधिकार स्थापित करना संभव नहीं है तो उसने 2 जुलाई 1308 ई. को एक बड़ी सेना किले को जीतने के लिए भेजी। इस सेना ने किले को चारों ओर से घेर लिया। शाही सेना के दक्षिणी पार्श्व को दुर्ग के पूर्व और पश्चिम की तरफ लगा दिया एवं वाम पार्श्व को उत्तर की ओर। इन दोनों पार्श्वों के मध्य मलिक कमालुदीन के नेतृत्व में एक सैनिक टुकड़ी रखी गयी। राजपूत सैनिक भी किले के बुर्जों पर शत्रुओं का मुकाबला करने को आ डटे। जब शत्रुओं ने मजनीकों से प्रक्षेपास्त्रों की बौछार करनी शुरू की तो राजपूत सैनिकों ने अपने तीरों, गोफनों तथा तेल में भीगे वस्त्रों में आग लगाकर शत्रु सेना पर फेंकना प्रारम्भ किया। जब शाही सेना के कुछ दल किले की दीवारों पर चढ़ने का प्रयास करते तो राजपूत सैनिक उनके प्रयत्नों को असफल बना देते। लम्बे समय तक शाही सेना को राजपूतों पर विजय प्राप्त करने का कोई अवसर नहीं मिला। इस अवधि में शत्रुओं को बड़ी क्षति उठानी पड़ी तथा उनके सेनानायक नाहरखाँ को अपने प्राण गंवाने पड़े। जब मुस्लिम सेना कई माह तक दुर्ग पर अधिकार में असमर्थ रही तो स्वयं अलाउद्दीन एक विशाल सेना लेकर आया। उसने पूरी सैनिक शक्ति के साथ दुर्ग का घेरा डाला। अब तक लम्बे संघर्ष के कारण दुर्ग में रसद का अभाव हो गया था। जब सर्वनाश निकट दिखाई देने लगा तो राजपूत सैनिकों ने दुर्ग के दरवाजे खोलकर शाही सेना पर धावा बोल दिया। वीर राजपूत शत्रुओं पर टूट पड़े और एक-एक करके वीरोचित गति को प्राप्त हुए।[40] सीतलदेव भी एक वीर योद्धा की भांति लड़कर मारा गया। दुर्ग पर अधिकार करने के बाद अलाउद्दीन ने कमालुद्दीन को इस का सूबेदार नियुक्त किया।

जब अलाउद्दीन के बाद खिलजियों की शक्ति कमजोर पड़ने लगी तो राव मल्लीनाथ के भाई राठौड़ जैतमल ने इस दुर्ग पर कब्जा कर लिया और कई वर्षों तक जैतमलोतों की इस दुर्ग पर प्रभुता बनी रही। जब मालदेव मारवाड़ का शासक बना तो उसने सिवाना दुर्ग को अपने अधिकार में कर लिया। यहाँ उसने मुस्लिम आक्रमणकारियों का मुकाबला करने के लिए युद्धोपयोगी सामग्री को जुटाया। अकबर के समय राव चन्द्रसेन ने सिवाना दुर्ग में रहकर बहुत समय तक मुगल सेनाओं का मुकाबला किया।[41] परन्तु अन्त में चन्द्रसेन को सिवाना छोड़कर पहाड़ों में जाना पड़ा। अकबर ने अपने पोषितों के दल को बढ़ाने के लिए इस दुर्ग को राठौड़ रायमलोत को दे दिया। लेकिन जब जसवन्त सिंह की मृत्यु के पश्चात् मारवाड़ में स्वतन्त्रता संग्राम आरम्भ हुआ तो सिवाना की तरफ भी सैनिक अभियान आरम्भ हो गये। इस तरह मारवाड़ के इतिहास के साथ सिवाना के शौर्य की कहानी जुड़ी हुई है।

## नागौर दुर्ग

मारवाड़ के स्थल दुर्गों में नागौर दुर्ग बड़ा महत्वपूर्ण है। मारवाड़ के अन्य विशाल दुर्ग प्रायः पहाड़ी ऊँचाइयों पर स्थित है। भूमि पर निर्मित दूसरा ऐसा कोई दुर्ग नहीं है जो दृढ़ता में नागौर का मुकाबला कर सके। केन्द्रीय स्थान पर स्थित होने के कारण इस दुर्ग पर निरन्तर हमले होते रहे। अतः इसकी रक्षा व्यवस्था भी समय-समय पर दृढ़तर की जाती रही ।

नागौर का प्राचीन नाम अहिछत्रपुर बताया जाता है जो जांगल जनपद की राजधानी माना था।[42] यहां नागवंशीय क्षत्रियों ने करीब दो हजार वर्षों तक शासन किया। उन्हें आगे चलकर परमारों ने निकाल दिया।

नागौर का प्राचीन नाम अहिछत्रपुर बताया जाता है जो जांगल जनपद की राजधानी माना था।[42] यहां नागवंशीय क्षत्रियों ने करीब दो हजार वर्षों तक शासन किया। उन्हें आगे चलकर परमारों ने निकाल दिया।

पृथ्वीराज चौहान के पिता सोमेश्वर के एक सामन्त कैमास ने वि.सं. 1211 की वैशाख सुदी 2 को नागौर दुर्ग की नींव रखी।[43] राजस्थान के अन्य दुर्गों की तरह इसे पहाड़ी पर नहीं , साधारण ऊँचाई के स्थल भाग पर बनाया गया। इसके निर्माण की एक विशेषता है कि बाहर से छोड़ा हुआ तोप का गोला प्राचीर को पार कर किले के महल को कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकता यद्यपि महल प्राचीर से ऊपर उठे हुए हैं।

नागौर दुर्ग का मुख्य द्वार बड़ा भव्य है। इस द्वार पर विशाल लोहे के सीखचों वाले फाटक लगे हुए हैं। दरवाजे के दोनों ओर विशाल बुर्ज और धनुषाकार शीर्ष भाग पर तीन द्वारों वाले झरोखे बने हुए हैं। यहां से आगे किले का दूसरा विशाल दरवाजा है। उसके बाद 60 डिग्री का कोण बनाता तीसरा विशाल दरवाजा आता है। इन दोनों दरवाजों के बीच का भाग घूघस कहलाता है। नागौर दुर्ग का घूघस वास्तु निर्माण का उत्कृष्ट नमूना है।

प्रथम प्राचीर पंक्ति किले के प्रथम द्वार से ही दोनो ओर घूम जाती है। अत्यधिक मोटी और ऊँची इस 5000 फुट लम्बी दीवार में 28 विशाल बुर्ज बने हुए हैं। किले का परकोटा दुहरा बना है। एक गहरी जलपूर्ण खाई प्रथम प्राचीर के चारों ओर बनी हुई थी। महाराणा कुम्भा ने एक बार इस खाई को पाट दिया था, पर इसे पुन: ठीक करवा दिया गया।[44]

प्राचीरों के चारो कोनो पर बनी बुर्जों की ऊँचाई 150 फुट के लगभग है। तीसरे परकोटे को पार करने पर किले का अन्त: भाग आ जाता है।[45] किले में 6 दरवाजे हैं जो सिराई पोल, बिचली पोल, कचहरी पोल, सूरजपोल, धूपीपोल एवं राजपोल के नाम से जाने जाते हैं। किले के दक्षिण भाग में एक मस्जिद है। इस मस्जिद पर एक शिलालेख उत्कीर्ण है। इस मस्जिद को शाहजहाँ ने बनवाया था।[46]

केन्द्रीय स्थल पर स्थित होने के कारण इस दुर्ग को बार-बार मुगलों के आक्रमण का शिकार होना पड़ा। सन् 1399 में मण्डोर के राव चूंडा ने इस पर अधिकार कर लिया । महाराणा कुम्भा ने भी दो बार नागौर पर बड़े जबरदस्त आक्रमण किये थे। कुम्भा के आक्रमण सफल रहे एवं इस दुर्ग पर उनका अधिकार हो गया।[47] मारवाड़ के शासक बख्तसिंह के समय इस का पुनर्निर्माण करवाया गया। उन्होंने किले की सुरक्षा व्यवस्था को मजबूत किया।[48] मराठों ने भी इसी दुर्ग पर कई आक्रमण किये। महाराजा विजयसिंह को मराठों के हमलों से बचने के लिए कई माह तक इस दुर्ग में रहना पड़ा था।[49]

## दुर्गों की व्यवस्था

मारवाड़ के प्रत्येक दुर्ग का सर्वोच्च अधिकारी दुर्गाध्यक्ष होता था। 12वीं शताब्दी से पहले कोटपाल नामक अधिकारी दुर्ग का प्रमुख होता था। मुगलकाल के बाद इसी पद को किलेदार नाम से जाना जाने लगा। इस अधिकारी के पास सशस्त्र सेना होती थी जो राव को किले की निगरानी करती थी। किले के चारों तरफ भारी एवं हल्की बन्दूकों से लेस जवान होते थे। जब भारत में मुगल अपनी बन्दूकी शक्ति के साथ आये तो इन किलों की महत्ता कम हो गयी। मुगलों के पास भारी तोपें थी जिनसे किलों को आसानी से तोड़ा जा सकता था। मारवाड़ के शासकों ने तोपों से किलों

14

# जोधपुर के राजवंश की जनानी ड्योढ़ी : एक सांस्कृतिक अध्ययन

वसुमती शर्मा

जोधपुर दुर्ग के निर्माण[1] तथा अपने नाम से जोधपुर नगर आबाद करने के साथ राव जोधा का सूर्यवंशीय तथा राठौड़कुलीय राजघराना मारवाड़ में प्रतिष्ठित हुआ। अपने राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था हेतु राव जोधा ने अपने भाइयों एवं पुत्रों[2] को पृथक्-पृथक् प्रदेशों में नियुक्त किया तथा राजदरबार में सनतशाही प्रथा का सूत्रपात कर जीवणी मिसल ( दाँयीं ) में अपने भाइयों तथा डावीं मिसल ( बाँई ) में अपने पुत्रों को स्थान दिया।[3] इस प्रकार प्रशासनिक कार्यकलाप मर्दानी ड्योढ़ी के राजदरबार में सम्पन्न होते थे। लेकिन राजवंश की सांस्कृतिक गतिविधियाँ जनानी ड्योढ़ियों में अधिक होती थीं। जनानी ड्योढ़ी में राजा की रानियाँ, पटरानी, माँजी, राजकुमारियाँ, धायमाँ, दासियाँ डावड़ियाँ आदि रहती थीं। यहाँ जीवन के पारिवारिक, सामाजिक और धार्मिक पक्षों की अभिव्यक्ति होती थी। जनानी ड्योढ़ी के रीति रिवाज तथा रहन-सहन के तरीके नियमबद्ध थे। सभी रानियों के अलग-अलग रावले होते थे जिनमें उनके रहने, उठने-बैठने के कमरे, रसोईघर, पूजागृह, स्नानगृह, तुलसी ठावड़ा, साल झरोखे तथा भूण[4] आदि की सुविधा होती थी। जनानी ड्योढ़ी की बनावट इस प्रकार से की गई थी कि मर्दाने महलों में रहने वाले जनानी ड्योढ़ी के क्रिया-कलापों को किसी कोण से नहीं देख सकें।[5] परन्तु राजदरबार के महत्वपूर्ण समारोह रानियाँ तथा ड्योढ़ी की अन्य स्त्रियाँ देख सकें, इस हेतु ऊँचाई पर बरामदे बने होते थे जो जनानी ड्योढ़ी से जुड़े रहते थे। इनमें विशेष प्रकार के जालीदार झरोखे होते थे। जनानी ड्योढ़ी की व्यवस्था में बडारन, नाजर, खोजे, ड्योढ़ीदार तथा अहलकार भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे। इस प्रकार जनानी ड्योढ़ी अपने आप में पूर्ण व्यवस्था थी।

जोधपुर राजघराने में बहु-विवाह प्रथा थी। महाराजा अजीतसिंह (1678-1724 ई ) के रनिवास में 18 रानियों के नाम मिलते हैं[6]—

1 सिसोदणी जी, अमोलकदे-मेवाड़ के गजसिंह की पुत्री

2. सांचोरी जी, होटलू ग्राम के चतुर्भुज चौहान की पुत्री

3 भटियाणी जी, जैसलमेर रावल अमरसिंह की पुत्री

4 सांचोरी जी, रोहीया ग्राम के फतेहसिंह चौहान की पुत्री

5 भटियाणी जी— देरावर के भाटी दलेलसिंह की पुत्री

6 डुंगरणी जी अमरादे, पाटण के राव बख्तीराम की पुत्री

7 बघेली जी, नवानगर के जमाल खाँ की पुत्री

8. तुवराणी जी, लखासर के तुंवर किरतसिंह की पुत्री
9. चावडी जी, पृथ्वीसिंह चावडा की पुत्री
10. चौहाण जी, सांचोर की थी
11. देवडी जी, सिरोही के राव उम्मेदसिंह की पुत्री
12. गौड जी, राजगढ़ के केसरीसिंह की पुत्री
13. सिसोदणी जी, देवलिया के रावल पृथ्वीसिंह की पुत्री
14. चौहाण जी, नीवराणा के राजा टोडरमल की पुत्री
15. झाली जी उत्तमदे, हलवल के झाला चंद्रसेन की पुत्री
16. शेखावत जी, मनोहरपुर के शेखावत भगतसिंह की पुत्री
17. सांचोरी जी, चीतलवाणा के चौहान ठाकुर की पुत्री
18. सांचोरी जी, सांचोर के चौहान बलदेव की पुत्री

विभिन्न रानियों के साथ राजा की भेंट के दिवस निश्चित रहते थे। [7] राजपुत्रियों के नाम में 'कुंवर' शब्द का प्रयोग किया जाता था। महाराजा अजीतसिंह की पुत्रियों के नाम फूलकुंवर, इंद्रकुंवर, फतेकुंवर, सूरजकुंवर, किसोरकुंवर, अखैकुंवर, बखावरकुंवर तथा सौभागकुंवर, थे। विवाह के पश्चात् जोधपुर की राजकुमारी अपनी ससुराल में राठौडी जी के नाम से संबोधित की जाती थी। राजा लोग अन्य जातियों की स्त्रियों को पड़दायत, पासवान तथा खवासन पद देकर उपपत्नी के रूप में भी रख लेते थे। जोधपुर नरेश गजसिंह (1619-35 ई.) की पड़दायत का नाम अनारा था। [8] यह एक मुस्लिम महिला थी। इसी प्रकार महाराज विजयसिंह (1753-93 ई.) ने जाट जाति की गुलाबराय को पासवान बना उपपत्नी का दर्जा दिया। गुलाबराय का प्रभाव अन्य रानियों से भी अधिक था। [9] रानियों में सर्वोच्च पद पाने वाली रानी पटरानी कही जाती थी। यह पद राजकीय सम्मान का प्रतीक था। हिन्दू शास्त्र विधि के अनुसार पटरानी राजा की प्रत्येक धार्मिक व राजनीतिक क्रिया में साथ रहती थी। [10] पटरानी का पाटोत्सव बडी धूमधाम से मनाया जाता था। इस अवसर पर भव्य समारोह होता था। महारानी वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर महाराजा के साथ देवी-देवताओं का पूजन करती थी। पूजन के पश्चात् राजा और रानी सिंहासन पर बैठते थे। इसके बाद राजपुरोहित द्वारा गोद भरने की रस्म सम्पन्न करवाई जाती थी। रानी के सम्मान में नौबत बजायी जाती थी तथा तोपें दागी जाती थीं। उमराव, कामदार, निजी लोग, खवास तथा पासवान पैर छूकर विभिन्न प्रकार की भेंट देते थे तथा अन्य सरदार और ओहदेदार पैर छूने की रस्म की भेंट भेजते थे। राजा की ओर से भोज का आयायेजन किया जाता था। [11] महाराजा सूरसिंह ने अपनी रानी सोभागदे जी को संवत् 1652 के माघ सुद 5 को पटरानी पद दिया था। [12] इस अवसर पर पटरानी के नाम कई जागीरें के पट्टे इनायत किये गये थे। महाराजा गजसिंह (1919-38 ई.) ने रानी प्रतापदे सिसोदिया को इस अवसर पर सात गाँवों के पट्टे लिख दिये थे, जिनकी कुल आय 17,500 रुपये थी। [13] जोधपुर राजवंश में परम्परा से उदयपुर घराने की रानी को पटरानी पद का सम्मान दिया जाता रहा है। उदयपुर राजपरिवार में विवाह न होने पर जयपुर तथा जयपुर में न होने पर क्रमशः बूँदी, जैसलमेर, सिरोही राजवंश से आई रानियों को यह पद देने की परम्परा रही है।

जनानी ड्योढी के कार्य-कलाप, रहन-सहन के तरीके तथा उनके उठने-बैठने के कायदे जहाँ निश्चित मान्यताओं के अनुसार मर्यादित थे, वहीं जन्म एवं विवाह संस्कारों की अपनी महत्ता थी, तथा इनके मनाये

जाने के विशिष्ट रीति-रिवाज थे।[14] जन्म से पूर्व एवं जन्म के पश्चात् मनाये जाने वाले उत्सवों के विशिष्ट रिवाज मिलते हैं। जन्म से पूर्व "पचमासी" तथा "आगरणी" उत्सव मनाये जाते थे। स्त्री के गर्भधारण के पाँच महीने पश्चात् पचमासी[15] उत्सव मनाया जाता था जिसमें माता को स्नानादि करवा कर मुहूर्तानुसार कुलदेवी तथा अन्य देवी-देवताओं की पूजा करवाई जाती थी। आगरणी[16] उत्सव में गर्भधारण के आठ महीने पश्चात् माता व गर्भस्थ शिशु की सुरक्षा के लिए चन्द्रमा की पूजा करके दान आदि दिया जाता था। धाय द्वारा गर्भवती की नजर उतारी जाती थी[17] एव भोज का आयोजन किया जाता था।

राजकुमार का जन्म होने पर काँसे का थाल बजाया जाता था।[18] दाई आँवल नाल गाडने का कार्य सरदार की उपस्थिति में करती थी। इस समय गाजे बाजे के साथ गीत गाती डावडिया, भगतणीयां, सेवगणीया, ड्योढीदार, पुरोहित सेवग, जोशी,वेदिया एव पातरिया भी उपस्थित होती थी।[19] ज्योतिषी द्वारा जन्म-कुण्डली बनायी जाती थी, महलों में मगलसूचक बदनवारे बाधी जाती थी तथा बच्चे के मुँह मे शहद व घी डालकर जातकर्म सस्कार सम्पन्न किया जाता था।[20] जन्म के दसवे या चालीसवें दिन नामकरण तथा छ माह पश्चात् अन्नप्राशन सस्कार सम्पन्न किया जाता था[21] जिसमें बच्चे को चावल की खीर खिलाई जाती थी। जन्म से तीसरे वर्ष में चूडाकर्म सस्कार सम्पन्न किया जाता था।[22] राजा एव राजकुंवर की वर्षगाठ भी प्रतिवर्ष धूमधाम से मनाई जाती थी। महाराजा की वर्षगाठ के अवसर पर मर्दाना एव जनाना दरबार लगता था, उत्सव व रगराग होते थे एव मिठाई मेवे बटते थे।[23] यह उत्सव कई दिनों तक चलता था।

विवाह सस्कार की अपनी विशिष्ट परम्परा तथा रीति रिवाज थे। विवाह से पूर्व सगाई की रस्म अदा होती थी। राजवंश मे नारियल या टीका आना इस का सूचक था। यह टीका लडकी पक्ष वाला की ओर से भेजा जाता था।[24] इसमे मुहूर्तानुसार वधू के घर से लोग वस्त्राभूषण, मेवे, मिठाइयां आदि लेकर आते एव वर को तिलक करके ये सभी वस्तुएँ भेट करते थे।[25] उदाहरणार्थ, जब महाराजा गजसिंह का विवाह जैसलमेर में वि स 1677 में हुआ, सगाई का नारियल ब्राह्मण उदैराम तथा भाटी पदमा ले कर आये थे। वे अपने साथ सुपारियाँ, खोपरे, गुड, लौंग, डोडा, इलायची, नागरबेल का पान, पुष्प, चार पेडे तथा वस्त्र आदि लाये थे।[26]

राजवश में विवाह जहाँ वैदिक रीति से सम्पन्न होते थे, वहीं खाण्डा तथा डोला विवाह की परम्परा भी विद्यमान थी। महाराजा अपने से उच्च व समान घरानो में विवाह प्रचलित रीति-रिवाजों के अनुसार करते थे। अपने से छोटे घरानों या उन घरानो मे जहाँ उनका आधिपत्य होता था, अथवा अन्य नरेशों के संबंधियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध डोला मगा कर किया जाता था। समयाभाव या राजनैतिक परिस्थिति के कारण भी खाण्डा या डोला विवाह सम्पन्न होते थे।

स्थानीय भाषा में "खाण्डा" से तात्पर्य तलवार से है। इस विवाह में वधू द्वारा महाराजा की भेजी "तलवार" या "कटार" के साथ फेरे ले लिये जाते थे। महाराजा गजसिंह प्रथम का खाण्डा-विवाह संवत् 1678 मे राजा जगरूप की पुत्री कछवाही कल्याणदे के साथ सम्पन्न हुआ था। उस समय गजसिंह का डेरा अकबराबद, आगरे, में था।[27] राजा लोग अन्य जातियों की स्त्रियों को भी पासवान, पड़दायत पदवी देकर उपपत्नी के रूप में जनाना महलों में रखते थे, जिनसे उत्पन्न सतान "बाभा" या "वायराजा" कहलाती थी।

राजा की पुत्री का विवाह धूमधाम से सम्पन्न होता था। विवाह से पूर्व विभिन्न जनानी ड्योढ़ी में सम्पन्न होते थे। सर्वप्रथम कुम्हार के घर से विनायक ड्योढ़ी में स्थापित की जाती थी।[28] गणेश-पूजन के पश्चात् तारसी म

के बांये हाथ में कांकण डोरा [30] बांधा जाता था और उसका उबटन किया जाता था। निछरावला (वधू के सिर के ऊपर से मोहर और रुपये घुमाकर नायण आदि को दिया जाना) की जाती थी। ड्योढ़ी के अन्य रावलों की रानियाँ तथा सगे-सबंधी वधू को भोजन हेतु आमन्त्रित करते थे जिसे स्थानीय भाषा में बिंदोला देना कहा जाता था। सभी प्रकार की व्यवस्थाओं से परिपूर्ण डेरों में बारात को ठहराया जाता था। ये डेरे शहर के समीप लगा दिये जाते थे। वर हाथी पर सवार होकर गाजे-बाजे से पहुँचता था तथा जोधपुर दुर्ग की महत्वपूर्ण पोलों से होता हुआ जनानी ड्योढ़ी की पोल पर लगी हुई चांदी की तोरण को अपनी छडी से छूता था। हाथी के हौदे से उतरने पर वर को चांदी की चौकी पर खडा किया जाता था एवं ब्राह्मण द्वारा तिलक कर मोतियों के अक्षत चिपकाये जाते थे तथा आरती की जाती थी। वर पक्ष की ओर से वधू के लिए गहने, पोशाकें, मिठाइयां, मेवे आदि लाये जाते थे, जिन्हें ''पडला'' कहा जाता था। [31] इस अवसर पर भोज के आयोजन होते थे एवं वैदिक क्रिया-विधि से फेरे, लोकाचार यथा देवी-देवताओं को जात आदि देने की क्रियाएँ सम्पन्न की जाती थीं। नृत्य तथा गायन के आयोजन होते थे तथा बारात को कई दिनों तक राज्य में रोका जाता था। राजकुमारी को विशिष्ट जाब्ते (ढकी हुई) वाली पालकी में बैठा कर विदा किया जाता था तथा राजवंश अपनी हैसियत के अनुसार वधू को कपडे, गहने, बर्तन, हाथी, घोडे, रथ आदि के साथ दासियाँ भी दहेज में देता था।

जनानी ड्योढी में मनाये जाने वाले उत्सवों और त्यौहारों का संबंध जहाँ धार्मिक भावनाओं से जुडा हुआ था, वहीं उनकी अपनी सामाजिक महत्ता भी थी। राजवंश में होली, शीतला अष्टमी, गणगौर, रक्षाबंधन, तीज, दशहरा एवं दीवाली प्रमुख त्यौहारों के रूप में मनाये जाते थे। होली रंग, राग-नृत्य उल्लास से मनाई जाती थी। होली के पूजन का पुजापा रानियों द्वारा सेवगों को दिया जाता था। [32] जनानी ड्योढी में गुलाल तथा रंग के पानी से खेल होता था। [33] रानियाँ विशिष्ट प्रकार की ओढनियाँ ओढती थी जिन्हें ''फागनियां'' कहते थे। चेचक के प्रकोप से दूर रहने की कामना के साथ शीतला माता का पूजन शीतला अष्टमी को किया जाता था। [34] इस अवसर पर एक दिन पूर्व का बना ठण्डा खाना खाया जाता था। जनानी ड्योढी से पुजापा लेकर ब्राह्मण लोग रथों में बैठते थे। साथ में राज्य का नगाडा, निशान, हाथी-घोडें एवं कर्मचारी होते थे। वे राजवंश की ओर से शीतला की पूजा करते थे। [35] महाराजा विजयसिंह (1753ई.) से पूर्व राज्य में शीतला सप्तमी मनाये जाने का रिवाज था। किन्तु सप्तमी के दिन इनके पुत्र की मृत्यु हो जाने से राज्य में यह त्यौहार बंद हो गया तथा अष्टमी के दिन मनाया जाने लगा। ड्योढ़ी के पूजागृह में रानियाँ गणगौर की पूजा होली के दूसरे दिन से शुरू करती थीं। गणगौर की सवारी का आयोजन भी होता था। राव जोधा के समय राजवंश में ईश्वर (शिव) तथा गौरी (पार्वती) दोनों की पूजा होती थी, किन्तु जोधा के पुत्र राव सातल के वि.स. 1548 की चैत्रसुदी 3 (1491 ई. की 13 मार्च) को गणगौर के दिन मृत्यु हो जाने से [36] राजवंश में ईश्वर की पूजा बंद कर दी गई। गणगौर से पूर्व चैत्र बदी 8 के दिन घुडले का त्यौहार मनाने की परम्परा भी थी। श्रावण मास की पूर्णिमा के दिन यह त्यौहार मनाया जाता था। इस अवसर पर बहिनों द्वारा भाई को राखी बांधने की रस्म अदा की जाती थी। बदले में भाई भी बहन को भेंट आदि देता था। जोधपुर राजवंश की राजकुमारियां इस अवसर पर रेशमी धागे की तथा रत्नादि से जडित राखियाँ [37] बाँधती थीं। वि.स. 1857 (1800 ई.) में जोधपुर महाराजा भीमसिंह की बहिन राठौड़ी जी ने जयपुर से राखी भेजी जिसमें 2 जवाहर, 5 सिरोपाव, सिरपेच, जड़ाऊ राखी, सजावट के सारे सामान के साथ एक घोड़ा व नगद 38 रुपये 12 आने 3 पाई भेजे थे। [38] तीज का त्यौहार सुहागिनों एवं राजकुंवरियों द्वारा मनाया जाता था। इस दिन उपवास रखा जाता था, वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो कर रानियां व राजकुंवरियां तीज पूजती थीं, चौकेलांव के बागों में महाडौल में विराजकर जाती थी जहाँ गीत,

संगीत व झूला झूलने का आयोजन होता। दीपावली के शुभ अवसर पर जनानी महफिल होती थी। दीवाली के दस्तूर का रोशनी का तेल कोठार से पटरानी एवं अन्य रानियों को मिलता था।[39] इस अवसर पर विशिष्ट भोज का आयोजन भी होता था।

ड्योढ़ी में प्रचलित बहु-विवाह प्रथा के अलावा, जिसका उल्लेख किया जा चुका है, पर्दा-प्रथा एवं सती-प्रथा भी प्रचलित थीं, जिनका प्रभाव सम्पूर्ण मारवाड़ की जनता पर था। ड्योढ़ी से रानियों और राजकुमारियों के बाहर जाने के विशेष नियम तथा रिवाज थे। रानियाँ महाडौल तथा पालकियों में बैठ कर मंदिरों में दर्शनार्थ जाती थीं। साथ में ड्योढ़ी का नाजर एवं डावड़ियाँ होती थीं। चारण एवं भाट इस अवसर पर महारानी की प्रशंसा में विरुदावली बोलते चलते थे। रानियाँ माजी से पर्दा करती थीं। अपनी जागीर की आय-व्यय का हिसाब रानियाँ, बडारण पदधारी महिला के माध्यम से कामदारों एवं दीवानों से हासिल करती थीं। जोधपुर राज्य की स्थापना से ही रानियों के सती होने के उदाहरण बहियों में उल्लिखित हैं। राजवंश में सती होने वाली रानी अपने हाथों से छापे दुर्ग की पोल[40] पर कुम्कुम से अंकित कर, वस्त्राभूषण से अलंकृत हो, केश खोल कर तथा हाथ में नारियल लेकर सती होने निकलती थी एवं राजा के शव की प्रदक्षिणा कर चिता के साथ सहगमन करती थी। रानियाँ ही नहीं, पड़दायतें, बडारणें डावड़ियाँ आदि भी सहमरण करती थीं।[41] गर्भवती एवं रजस्वला स्त्री का सती होना निषिद्ध था।

जनानी ड्योढ़ी की रानियाँ और महारानियाँ संगीत, नृत्य, काव्य व इतिहास की ज्ञाता होती थीं। शस्त्र विद्या तथा अश्व संचालन में भी प्राय: निपुण होती थीं।[42] महाराजा मानसिंह की महारानी प्रतापकुंवर भटियाणी तथा महाराजा तख्तसिंह की महारानी ब्रजभान किशोरी अच्छी कवियित्री थी।[43] रानियाँ अपने निजी खर्च में से सामाजिक निर्माण कार्यों में भी सहयोग देती थी। बाग, कुएं, तालाब, बावड़ी, मंदिर आदि का निर्माण करवाती थीं। जोधपुर महाराजा सूरसिंह (1595-1619 ई.) की कछवाही रानी सौभाग्यदेवी ने दईजर गाँव में सौभागसागर नामक तालाब बनवाया था।[44] महाराजा गजसिंह (1619-38 ई.) की रानी चांदावत ने मांगेलाव तालाब बनवाया था।[45] महाराजा जसवंतसिंह की रानी अतिरंगदे ने शेखावत जी का तालाब बनवाया था तथा इनकी देवड़ी रानी ने 1708 ई. में सूरसागर के बगीचे में तुलादान किया था।[46] पासवानों में गुलाबराय द्वारा गुलाबसागर[47] तथा पड़दायत अनारा (1619-30 ई.) द्वारा अनारवेरी बनवाए गए थे।[48]

निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक त्यौहारों तथा उत्सवों को मनाये जाने की परम्परा को अनवरत रूप से जारी रखने में जोधपुर राजवंश की जनानी ड्योढ़ी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजवंश की स्त्रियों ने अपने जीवन के महत्वपूर्ण पदों को सदैव सांस्कृतिक गतिविधियों से जोड़े रखा। पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा एवं बहु विवाह जैसी कुरीतियों को, जो मध्ययुगीन सामाजिक परिवेश की रीतियाँ थीं, न छोड़ सकने की विडम्बना को सहते हुए भी वे अपने स्वामियों के लिए प्रेरणा बनीं।

## संदर्भ-सूची


1. शनिवार 12 मई 1459 ई. को जोधपुर दुर्ग का निर्माण आरम्भ हुआ। रेऊ, विश्वेश्वर नाथ, मारवाड़ का इतिहास, 1, पृ 92
2. इस शोध के 25 भवनों एवं 20 पुरों के नाम जोधपुर की विभिन्न बहियों में मिलते हैं।
3. हाथी से जौहरी निवास है जिन्ह, हस्तलिखित मारी पोथीखाना शोध-संस्थान, जोधपुर।
4. वह स्थान जहाँ कीमती वस्त्राभूषण आदि रखे जाते हैं।

## 15

# उत्तर-मध्यकालीन राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था

रामप्रसाद व्यास

उत्तरमध्यकालीन राजस्थान के जनजीवन मे सामन्ती प्रथा का एक विशिष्ट स्थान रहा है। राजस्थान के राजपूत राज्यों मे सामन्त व्यवस्था का उद्‌भव वहाँ के शासकों की कुलीय परम्परा से हुआ था। राज्य केवल शासक की सम्पत्ति नहीं अपितु कुलीय सामन्तो की सामूहिक धरोहर माना जाता था। राज्य की स्थापना के साथ ही सामन्तो का अस्तित्व आरम्भ हो गया था। राजा इन सामन्तो के सहयोग से ही राज्य की स्थापना व इसकी सीमा में विस्तार करने मे सफल हुआ था। अत वे सभी अपने को इसमे भागीदार समझते थे। उनकी दृष्टि में राजा अपने कुल का प्रधान था। वे अपने को उसके अधीन नहीं बल्कि उसका सहयोगी समझते थे। उनका राजा के साथ सम्बन्ध बधुत्व व रक्त का था, स्वामी और सेवक का नहीं। शासक और सामन्त के मध्य भाई - बधु के सम्बन्ध के कारण शासक की स्थिति बराबर वालो मे प्रथम के समान थी। सामन्त घरेलू और राजनैतिक सभी मामलों में सामाजिक समानता का दावा करते थे। जोधपुर के महाराजा मानसिंह (1803–1843 ई) के काल मे बहुत से सामन्तों को अपनी जागीरो से निष्कासित कर दिया गया था। वे पड़ौसी राज्यो मे बैठे रहे। अंग्रेजी रेजिडेन्ट को उन्होंने अपनी जागीरें दिलवाने के लिए जो प्रार्थना-पत्र भेजा था उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया था कि "राजा मानसिंह और हम सब एक ही राठौड़ राजा के वशज हैं। जब राजा हमारी सेवाए स्वीकार करता है तो वह हमारा स्वामी है अन्यथा हम सभी उसके भाई–बधु है। अत. मारवाड़ भूमि पर हमारा समानाधिकार है। इसी पत्र में उन्होंने आगे लिखा था कि "महाराजा मानसिंह के पूर्वज पीढ़ी-दर - पीढ़ी मारवाड़ में शासन करते आये है और हमारे पूर्वज उनके मत्री तथा सलाहकार के रूप में रहे है। राज्य के सभी महत्वपूर्ण कार्य सामन्तों की सामूहिक कार्यवाही द्वारा ही संपन्न होते है।"[1] इसी प्रकार मेवाड़ के प्रमुख ठिकाने देवगढ़ के ठाकुर गोकुलदास द्वितीय के विरुद्ध ठिकाने के उपसामन्तो द्वारा राणा को प्रेषित एक विरोध-पत्र में स्पष्ट लिखा था कि जिस प्रकार ठाकुर का राणा के साथ पारिवारिक सम्बन्ध है, उसी प्रकार उनका अपने ठाकुर के साथ पारिवारिक सम्बन्ध है। हम सबको अपने-अपने क्षेत्रों मे भाई-बंद का अधिकार है।[2] उक्त उदाहरणों से राजस्थान में सामन्ती प्रथा के रूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

राज्य के महत्वपूर्ण और विश्वसनीय पदों पर सामान्यतः स्वकुलीय सामन्तों की ही नियुक्ति की जाती थी। एक ही कुल के सदस्य होने के कारण तथा स्वामी धर्म के सिद्धान्त से प्रेरित होकर वे राजा की सेवा करने के लिये सदैव तत्पर रहते थे। युद्ध के समय सामन्त राजा की सहायता करते थे। उनमें यह भावना निहित थी कि वे अपने पैतृक सम्पत्ति की सामूहिक रूप से रक्षा करने हेतु ऐसा कर रहे है।[3]

राजा की ओर से अपने भाई बेटों को जीवन - यापन हेतु भूमि दी जाती थी जो उनकी वंशानुगत जागीर के रूप में अक्षुण्ण रहती थी। राजा अपने सामन्तों को "भाई जी" [illegible] जी" आदि आदर-सूचक शब्दों से सम्बोधित करते थे। इसी प्रकार सामन्त राजा को ' [illegible]

और ऐसा करने में गर्व अनुभव करते थे, क्योंकि राजा उनके वंश का मुखिया था और उनके कुल का प्रतिनिधित्व करता था ।[4]

स्वकुलीय सामन्त जो अपनी - अपनी खांप के "पाटवी" थे , अपने अधीन क्षेत्र में एकाधिकार प्राप्त शासक के रूप में आचरण करते थे । वे रावत राव, रावत राजा जैसी सम्मानसूचक पदवियाँ धारण करते थे । सामान्यतः वे "ठाकुर" कहलाते थे । सामन्त कई खांपों में विभाजित थे । प्रत्येक खांप का एक मुखिया या पाटवी होता था । ठाकुर भी अपने भाई-बेटों को जीवन-निर्वाह के लिये अपनी जागीर में से भूमि वितरित करता था । ठाकुर अपने उप-सामन्तों की मदद से, जिन्हें छुट-भाई की संज्ञा दी गई थी, अपनी जागीर में शांति व सुव्यवस्था कायम रखने सम्बन्धी कर्त्तव्यों का पालन करता था । वे छुट- भाई अपने "पाटवी" के प्रति पूर्ण निष्ठावान होते थे । ठिकाने की जमीयत बिरादरी की सेना इन्हीं छुट-भाइयों की सैनिक टुकड़ियों से वनी होती और राज्य के विभिन्न ठिकानेदारों की सैनिक टुकड़ियों को मिलाकर राजकीय सेना का गठन होता था जिसका प्रयोग देश की रक्षार्थ तथा उसकी सीमा विस्तार हेतु किया जाता था । धीरे--धीरे राज्य में एक ही खांप के कई स्वतंत्र ठिकाने स्थापित हो जाते थे, फिर भी वे सभी अपने "पाटवी" प्रथम ठिकानेदार को ही अपना नेता मानते थे, और उसके प्रति उनकी निष्ठा बनी रहती थी। ठिकानों के सैनिक अपने ठाकुर को ही सर्वस्व मानते थे । राजा के प्रति उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं थी। यदि उनके प्रश्न पूछा जाता था कि उनकी सेवाएँ किसके प्रति हैं राजा के या ठाकुर के ? तो उनका उत्तर यही होता था कि "राज का मालिक वे, पाट का मालिक थें", अर्थात् राजा राज्य का स्वामी है परन्तु मेरे मालिक तो ठाकुर ही हैं । उसका दायित्व और उसकी वफादारी अपने ठाकुर तक ही सीमित थीं । सुमेलगिरी के युद्ध में जनवरी 1544 ई. राव मालदेव के चले जाने के बाद बहुत से ठाकुर भी रणक्षेत्र से पलायन कर गये थे । उनके साथ उनके सैनिक भी भाग निकले, परन्तु जिनके स्वामी वहाँ डटे रहे, उनके सैनिक भी वहाँ उपस्थित रहे । राव मालदेव के प्रति उनका कोई विशेष दायित्व नहीं था । इस प्रकार उस समय राजपूत राज्य एक शिथिल संघ व्यवस्था के रूप में था जिसमें अनेक स्वतंत्र व अर्द्धस्वतंत्र प्रशासनिक इकाइयों का जमघट था ।

राजस्थान के राज्यों में स्वकुलीय सामन्तों के अतिरिक्त अन्य समकक्ष राजपूत सामन्त भी होते थे। उनका राजा के साथ स्वामी और सेवक का सम्बन्ध होता था । ऐसे सामन्तों का अस्तित्व व सम्मान राजा की कृपा पर ही निर्भर करता था । ऐसी स्थिति में इन सामन्तों का राजा के प्रति वफादार रहना स्वाभाविक था।[5] इनमें से कुछ राजपूत सामन्त तो वे थे जिनका विभिन्न क्षेत्रों पर किसी विशिष्ट राजपूत राजघराने के अधिपत्य स्थापित होने के पहले से ही अधिकार था और कम शक्तिशाली होने के कारण उन्होंने नवोदित शासक का सामन्त बनना स्वीकार कर लिया था । उनकी भूमि पहले की भांति उन्हीं के पास बनी रही । वे नवोदित शासक को कुछ रकम कर के रूप में देते थे और समय-समय पर शासक की सेवा में भी उपस्थित होते थे । मारवाड़ में भाटी, तंवर, चौहान, जाड़ेचा आदि इस श्रेणी के सामन्त थे। बीकानेर राज्य में सांखला, भाटी, निरवाण आदि राजपूत ठिकानेदारों की गणना भी इसी प्रकार के सामन्तों में की जाती थी । समकक्ष राजपूत सामन्तों के राजकीय कुल से शादी-सम्बन्ध भी होते थे । ऐसे सामन्तों को "गनायत" के नाम से सम्बोधित किया जाता था । कुछ परदेशी राजपूतों ने अपनी विशिष्ट सेवाओं के लिये विभिन्न राज्यों में सामन्त पद प्राप्त कर लिया था। उदाहरण के रूप में मेवाड़ के झाला, राठौड़, परमार आदि सामन्तों का उल्लेख किया जा सकता हैं । ऐसे समकक्ष राजपूत सामन्तों के कारण राज्य में शक्ति-संतुलन भी बना रहता था।[6]

कर्नल टॉड ने राजस्थानी की सामन्ती प्रणाली की तुलना मध्ययुगीन यूरोपीय सामन्ती पद्धति से की

है। इस सम्बन्ध में डॉ . जी. एन. शर्मा का मत है कि इसमें कोई संदेह नहीं कि यहाँ की सामन्त पद्धति और यूरोप की सामन्त- प्रणाली में कई साम्यताएं है, परन्तु राजस्थानी सामन्ती- प्रथा एक प्रकार की सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था का रूप है जिसमें नेता के रूप में एक राजा रहता है और उसके साथ उसी के वंशज या अन्य जाति के वंशज उसके साथी और उसके सहयोगी बने रहते है, जबकि यूरोप में एक स्वामी के साथी ऐसे आश्रित के रूप में रहते थे जिनकी कोई स्वतंत्र स्थिति नहीं थी। यहाँ एक प्रकार से राजा के सामन्त उसी या समकक्ष वंश के होने से राज्य में बराबर के हिस्सेदार होते थे। यहाँ यूरोप और राजस्थान में प्रचलित सामन्ती व्यवस्था पर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करना समीचीन होगा[7]

राजस्थानी सामन्ती प्रथा व यूरोपीय सामन्ती प्रथा मे अनेक अन्तर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते है। सर्वप्रथम तो इस प्रथा का दोनों स्थानों पर विभिन्न परिस्थितियों में उदय होना है। रोमन साम्राज्य के पराभव काल में और पतन के समय यूरोप मे सर्वत्र अराजकता और अशांति फैल गई। सरकार अपनी प्रजा की जान व माल की सुरक्षा प्रदान करने के प्राथमिक कर्त्तव्य का पालन करने में असमर्थ थी। फलत यूरोपीय समाज के लिये अपरिहार्य हो गया था कि आन्तरिक सुरक्षा हेतु कोई उपाय निकाले। यूरोप में सामन्त प्रथा का उदय इसी आवश्यकता के फलस्वरूप हुआ। टॉड व गिबन प्रभृति विद्वानों ने भी स्वीकार किया है कि यूरोपीय सामन्ती प्रथा का जन्म बर्बरतापूर्ण वातावरण के फलस्वरूप हुआ था। स्थानीय जन-धन की रक्षा का दायित्व सामन्तों पर डाला गया। सामन्तो को अपने- अपने क्षेत्रों में अमन चैन रखने के लिये अनेक अधिकार दिये गये, जैसे सिक्कों का प्रचलन करवाना, निजी तौर पर युद्ध लड़ना, सामन्ती कर के अतिरिक्त और किसी प्रकार के कर न देना, अपने क्षेत्र के लिये कानून बनाना व न्याय करना, आदि। यूरोप में सामन्त और राजा के बीच एक सौदेबाजी थी। उनका सम्बन्ध स्वामी और सेवक का था। इसका आधार पारस्परिक सुरक्षा व सेवाएं थीं। राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था के अभ्युदय के लिये ऐसी परिस्थितियाँ नहीं थीं। राजा और सामन्त का सम्बन्ध रक्त व बन्धुत्व का था। इसलिये प्रत्येक सामन्त राज्य में अपने अधिकार का दावा करता था और उस का हिस्सा उसे जागीर के रूप में मिलता था। सामन्त अपने मुखिया के साथ सामाजिक समानता की अपेक्षा करते थे। वे राजा को अपना नेता मानते थे। यूरोप में सामन्त भूस्वामी के रूप में था और उसे व्यापक अधिकार प्राप्त थे, जबकि राजस्थान में इसके विपरीत सामन्त को राजकुल का सदस्य होने के नाते भूमि का उपभोग करने का अधिकार प्राप्त था। राजस्थान में सामन्ती प्रथा राजा की क्षीणता से विकसित नहीं हुई, जैसा कि यूरोप में हुआ था। यूरोप की भांति राजस्थान के सामन्तों को सिक्को को ढलवाने, अपने क्षेत्र के लिये स्वतंत्र रूप से कानून बनाने, न्याय करने आदि जैसे व्यापक अधिकार कभी भी प्राप्त नही हुए थे। सामन्त लोग युद्ध में राजा की सहायता करते थे। उसके पीछे भी यह विचार निहित था कि वे अपनी पैतृक सम्पत्ति की सामूहिक रूप से रक्षा करने हेतु ऐसा कर रहे है।

द्वितीय अंतर इस बात में है कि यूरोप में भूमि राजा की सम्पत्ति मानी जाती थी। जमीन का स्वामित्व राजा का था। उसके विपरीत राजस्थान में भारत के अन्य भागों की तरह भूमि का स्वामी किसान था, राजा या उसका सामन्त भूमि की उपज का मात्र एक भाग लेने का अधिकारी था। राजा के पास भूमि के सम्बन्ध में मात्र उपभोक्ता का अधिकार था, स्वामित्व का नहीं। राजा जागीरदार को अपने अधिकार का हस्तान्तरण उतना ही कर सकता था जितना कि उसका अधिकार था, इससे अधिक नहीं।

राजस्थान में सामान्यत न्याय का कार्य ग्राम पंचायत या जाति पंचायत के हाथ में था। यह व्यवस्था राजस्थान के सामन्ती युग में विद्यमान थी, और इन पंचायतों के कार्यों में सामन्त यहाँ कभी भी हस्तक्षेप नहीं करता था। यूरोप में इस प्रकार की संस्था कभी नहीं रही। वहाँ सामन्त के पास न्याय- सम्बन्धी सभी

अधिकार रहते थे। राजस्थान में 19वीं शताब्दी में कुछ सामन्तों को न्याय - सम्बन्धी अधिकार मिले, वे भी आंशिक रूप में ही। यूरोपीय सामन्ती प्रथा के अन्तर्गत पंचायत जैसी संस्थाओं का होना संभव ही नहीं था। यूरोपीय समाज की सामन्ती प्रथा में जो प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों से मेल नहीं खाती थी, लोकतांत्रिकता के प्रतीक के रूप में पंचायतों का होना असंभव था।

यूरोप में जमीन जोतने वाला बेगारी दास या अर्द्ध-दास था, जबकि राजस्थान में किसानों की कृषकदास (सर्फ) जैसी स्थिति कभी नहीं हुई।

यूरोप में सामन्त अपने स्वामी की मदद के लिये युद्ध करने जाता था। यह उसका दायित्व था और एक प्रकार से यह उनके आपसी समझौते का परिणाम था। राजस्थान में जागीरदार राजा को युद्ध में सैनिक सहायता देता था क्योंकि उसका उससे व्यक्तिगत व रक्त का सम्बन्ध था। राज्य उनकी सामूहिक धरोहर था जिसकी रक्षा करना उनका कर्त्तव्य था।

अंत में, हम यह भी देखते हैं कि यूरोप में जब राजसत्ता का उदय हुआ, अर्थात् जब राजा शक्तिशाली और प्रभुसत्ता सम्पन्न हो गया तो सामन्तों का पतन हुआ और शनैः शनैः सामन्ती प्रथा पूर्णतः लुप्त हो गई। राजस्थान में राजा और सामन्तों की संस्थाएं साथ- साथ अंत तक चलती रहीं। अतः यह स्वीकार करना तर्कसंगत होगा कि यूरोप और राजस्थान में सामन्ती प्रथा का अभ्युदय भिन्न- भिन्न परिस्थितियों में हुआ और उनके विकास में भी कोई विशेष समता नहीं रही। राजस्थान में सामन्ती प्रथा का विकास सामाजिक और नैतिक कारणों से हुआ, राजनीतिक आवश्यकता के कारण नहीं।[8] कर्नल टॉड ने जिन मुद्दों को लेकर यूरोप और राजस्थानी सामन्ती व्यवस्था में साम्य बताने का प्रयास किया है, वह युक्तियुक्त नहीं हैं। खड्गबन्दी के समय सामन्त द्वारा दी जाने वाली धनराशि (नजराना), वैध उत्तराधिकारी के अभाव में जागीर का राजगमन किया जाना, सामन्त द्वारा अपने स्वामित्व का हस्तांतरण कर पाना, राजपरिवार में विवाह के अवसर पर दी जाने वाली "न्योत" नामक धनराशि, सामन्ती कर और अवयस्क सामन्त के रक्षापद की स्थिति आदि को लेकर टॉड द्वारा इन दोनों व्यवस्थाओं में जो समानताएं प्रदर्शित की गई हैं वे मात्र संयोगवश हैं, सामन्ती प्रथा के आवश्यक लक्षणों के रूप में नहीं। इसलिये यह मानना ठीक ही होगा कि यूरोप की सामन्ती व्यवस्था राजस्थान की सामन्ती व्यवस्था से मेल नहीं खाती।[9] टॉड ने जिस समय इस प्रथा को देखा था उस समय तक राजस्थान के सामन्त निर्बल हो चुके थे और उनकी स्थिति बहुत कुछ राज्य के आश्रित के रूप में हो गई थी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजस्थान के राजपूत राज्यों में कुलीय सामन्त प्रारंभ से ही बड़े शक्तिशाली थे। राज्य के कार्यो, व्यवस्था और प्रबन्ध में उनकी साझेदारी रहती थी। सामन्तों की इच्छा के विपरीत शासक के लिये सामान्यतः कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय लेना सम्भव नहीं था। उत्तराधिकारी के मामले में भी सामन्तों का दखल रहता था। मारवाड़ के सामन्त तो इतने शक्तिशाली थे कि उन्होंने शासको के निर्णयों के विरुद्ध भी कदम उठाया था। राव सूजा ने अपने पौत्र वीरम को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया था, परन्तु सामन्तों ने वीरम को सिंहासन के योग्य नहीं समझा तथा वीरम के स्थान पर उसके भाई गांगा को गद्दी प्रदान कर दी। इस तरह का एक अन्य उदाहरण राव जोधा के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र जोगा को गद्दी न देकर सातल को सिंहासन पर आरूढ़ किया जाना है। इस सम्बन्ध में मारवाड़ में एक कहावत प्रचलित थी—'रिड़मलां थापिया जिके राजा" अर्थात् राव रणमल के पुत्रों व वंशजों की सहमति से ही मारवाड़ के राजसिंहासन पर कोई आसीन हो सकेगा।[10]

राजस्थान के राज्यों में कुल क्षेत्र का लगभाग 80 प्रतिशत भूभाग स्वकुलीय व अधीनस्थ सामन्तो

के अधिकार में था । राज्य के उपजाऊ भाग पर भी इनका स्वामित्व था । इस तथ्य ने आने वाले समय में शासक–सामन्त सम्बन्धों पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला । शासक की महत्वाकांक्षाओं तथा राज्य के बढ़ते हुए उत्तरदायित्वों के कारण जब शासकों ने खालसा भूमि में वृद्धि करने का प्रयास किया तब राजा और सामन्तों के बीच तनाव का वातावरण बनने लगा । वस्तुत. राजाओं और सामन्तों के परस्पर विरोधी हितों के फलस्वरूप यदा- कदा उनके बीच आपसी मतभेद होना स्वाभाविक था । सामन्त लोग राज्य में स्वकुलीय व्यवस्था को अक्षुण्ण रखने के पक्ष में थे जबकि शासक अपनी शक्ति व प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील थे। वे सामन्ती व्यवस्था को शासकीय नेतृत्व के अधीन संगठित करना चाहते थे।[11]

मारवाड़ में राव गागा के काल में सामन्तों की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। वे सामान्यतः स्वतंत्र शासक की भाँति व्यवहार करने लगे । राव मालदेव ने इनकी शक्ति को क्षीण करने के प्रयास किये, परन्तु उसे इस कार्य में पूर्ण सफलता नहीं मिली । मालदेव ने वीरम से मेड़ता व अजमेर छीन लिये थे जिसका परिणाम उसे सुमेल के रणक्षेत्र मे भुगतना पड़ा । लेकिन मारवाड़ मे सामन्तो के शक्तिशाली होने पर भी उनमें स्वामिभक्ति की भावना प्रबल थी, इसलिए मारवाड़ में शांति व्यवस्था सामान्यतः बनी रही । ऐसे बहुत कम अवसर आये जब सामन्तो ने विपत्ति के समय अपने स्वामी का साथ नहीं दिया हो।[12]

राजस्थान में मुगलों का आधिपत्य हो जाने पर राजपूत राज्यों की सामन्त- व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा । अब सामन्तों का अपने राजाओ के साथ सम्बन्ध भाई- बंधु का न रहकर स्वामी और सेवक का होने लगा । मेवाड़ ने मुगलो का प्रभुत्व स्वीकार नहीं किया और राणा प्रताप तथा उसका उत्तराधिकारी राणा अमरसिंह मुगलों से निरन्तर युद्ध करते रहे । मेवाड़ के सामन्त जो पहले मारवाड़ और कुछ अन्य राज्यों के सामन्तों की तुलना में कम शक्तिशाली थे अब अधिक शक्तिशाली हो गये क्योंकि युद्धकाल में राणा की शक्ति का आधार सामन्त ही थे । सामन्तो के सहयोग से ही राणा शाही सेना का मुकाबला करने में सक्षम हो सका। मुगलो के साथ समझौता होने के बाद भी राणा मुगल दरबार मे उपस्थित नहीं होता था । इससे मुगल राजनीति में राणा अन्य रजवाड़ों की तुलना में पीछे रह गया । मेवाड़ के मुगलों के सम्पर्क में आने के पहले सामन्तो के मुख्य गावो के अलावा अन्य गावों में समय- समय पर अदला- बदली होती रहती थी जिससे उनका उनके अपने क्षेत्र में स्थायी प्रभाव स्थापित नही हो पाता था । अब दीर्घकालीन युद्ध के समय और बाद मे भी सामन्तों के गावों मे हेरा-फेरी करना राणा के लिये संभव नहीं रह गया । अत. एक स्थायी क्षेत्र पर सामन्तो का अधिकार बना रहा जिससे वे अधिक शक्तिशाली बने । दरबार में प्रथम श्रेणी के सामन्तों की बैठक राज्य के उत्तराधिकारी युवराज से भी आगे लगती थी ।[13]

मेवाड़ के अतिरिक्त अन्य सभी राज्यों में सामन्तो की शक्ति कम हो गई। अब राज्य मे अव्यवस्था, चोरी, डकैती आदि को रोकने के लिये राजा मुगल सेना की सहायता प्राप्त कर सकता था । यदि सामन्त सिर उठाता तो राजा मुगल सेना की मदद से उसे कुचल देने की स्थिति में था । मारवाड़ के मोटा राजा उदयसिंह ने अकबर का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था । उसने उन सभी सामन्तो को दंड दिया जिन्होंने उसके प्रतिद्वंद्वी भाई चंद्रसेन का साथ दिया था । मुगल सेवा मे रत रहने की वजह से राजाओं के अधिकारों और पदों में वृद्धि हो गई और सामन्त धीरे- धीरे पूर्ण रूप से राजाओं के आश्रित होने लगे । राजपूत नरेशों ने व्यवस्थित तरीके से उनके अस्तित्व को सैनिक सहयोगियों के रूप में बदलना आरम्भ कर दिया। सैनिक सहयोग देने की एवज में उन्हें जागीरें दी जाने लगीं । राजा प्रदत्त जागीर की आय के अनुसार सामन्तों से सैनिक सहायता प्राप्त करने लगा । सामन्तों द्वारा दी जाने वाली सैनिक सहायता मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित की जा सकती है—युद्धकालीन सेवा और शान्तिकालीन सेवा । युद्ध के समय सामन्त को अपने आप या जिलायत आदि की सेना के साथ राजा की सेवा में उपस्थित होना पड़ता था ।

शांतिकाल में वह अपने सवार और पैदल परगने के हाकिम के पास नियमित रूप से भेजता था जिनकी मदद से हाकिम परगने में शान्ति व व्यवस्था बनाये रखने में सक्षम होता था।

सैनिक सेवा के सम्बन्ध में कुछ हेर-फेर के साथ सामान्यत: सभी राज्यों में एक से नियम थे। उदाहरणार्थ, मारवाड़ में सामन्त 1000 रुपये की रेख पर एक घुड़सवार,750 रुपये पर एक सतुर सवार और 500 रुपये पर एक पैदल सिपाही राजकीय सेवा के लिये प्रस्तुत करता था।[14] मेवाड़ के प्रत्येक सामन्त के लिये प्रति 1000 रुपये की आय पर दो घुड़सवार और चार पैदल सिपाहियों से तीन महीने तक राज्य की सेवा करने का प्रावधान था।[15] जयपुर राज्य में सामन्त प्रति पाँच सौ रुपये की आय पर एक सवार और एक हजार की आय पर एक सवार और एक पैदल राजकीय सेवा के लिये भेजने को बाध्य था। [16] बीकानेर राज्य में मारवाड़ की भाँति चाकरी के सैनिक निर्धारित करने हेतु रेख- प्रथा प्रचलित नहीं थी। समकालीन स्रोतों से इसके सम्बंध में किसी निश्चित प्रणाली की जानकारी नहीं मिलती। फिर भी ऐसा देखा गया है कि जागीर की 1000 जमा पर एक घुड़सवार (जाबता असवार) या कम से कम एक गाँव के पीछे एक जाबता असवार को राजकीय सेवा के लिए प्रस्तुत करने का नियम था।[17] जैसलमेर में जागीरदारों को अपनी जागीर से आय बहुत कम होती थी। अत: उन्हें चाकरी के लिए सैनिक नहीं देने पड़ते थे। यदि उनसे सैनिक सेवा ली जाती थी तो राजा को उनके सैनिकों को वेतन देना पड़ता था।[18]

सामन्तों की आश्रित स्थिति में धीरे- धीरे उन पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे। जागीरदार को रेख, हुकमनामा (उत्तराधिकार शुल्क) न्योत आदि के रूप में राजा को बहुत बड़ी धनराशि देनी पड़ती थी। मुगल परिपाटी के अनुकूल राजस्थानी सामन्तों की जागीर की उपज का अनुमान निर्धारित किया गया, जिसे 'रेख' कहते थे। रेख के आधार पर ही सामन्तों से राजकीय रकम की वसूली तथा सेवा प्राप्त की जाती थी। मारवाड़ में रेख शब्द का प्रयोग 'पट्टा रेख' और 'भरतु रेख' के रूप में किया जाता था। 'पट्टा रेख' का तात्पर्य जागीर की उस अनुमानित वार्षिक आय से था जिसका शासक द्वारा प्रदान किये गये जागीर पट्टे में उल्लेख किया जाता था। 'भरतु रेख' वह रकम थी जो जागीरदार 'पट्टा रेख' के आधार पर राज्य खजाने में जमा करवाता था।[19] महाराजा सूरसिंह (1595-1619 ई.) के काल में सर्वप्रथम जागीरदारों के पट्टों में उनको दिये गये गावों की रेख (आमदनी दर्ज) की जाने लगी। मुगल काल में व उसके पहले जागीरदार लोग राज्य- रक्षा या राज्य- सीमा में वृद्धि हेतु महाराजा की तरफ़ से युद्ध में भाग लेते थे। अत: उन्हें इस चाकरी सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य कर नहीं देना पड़ता था। मुगलों के पतन के बाद मराठों के निरन्तर आक्रमणों ने महाराजाओं को इस बात के लिये बाध्य कर दिया कि वे मराठों की धन-लोलुपता को शान्त करने के लिये जागीरदारों से धन एकत्र करें। 1755 ई. में महाराजा विजयसिंह ने सामन्तों से एक हजार की आमदनी पर तीन सौ रुपये के दर से "मतालबा" नामक कर लेना आरम्भ किया। यही कर बाद में 'रेख' के नाम से पुकारा जाने लगा। उसके अभी कोई निश्चित नियम नहीं थे। प्रति 1000 रुपयों की आय की जागीर पर 150 रुपये से 500 रुपये तक रेख के रूप में राज्य की ओर से वसूली की गई थी। महाराजा मानसिंह के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि "मान लगाई महीपति रेखां ऊपर रेख"। ऐसी स्थिति में राजा और सामंतों के बीच तनाव उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। अंग्रेजों के सम्पर्क में आने पर ही इस सम्बन्ध में निश्चित नियम बन सके।[20]

नए सामन्त को राजा को उत्तराधिकार- शुल्क देना पड़ता था। जैसे ही जागीरदार की मृत्यु के समाचार प्राप्त होते थे, सरकार की तरफ से एक पदाधिकारी और कुछ सवार जागीर- जब्ती के लिए भेज दिये जाते थे। नए सामन्त को तुरन्त बातचीत कर उत्तराधिकारी शुल्क की रकम निश्चित करनी पड़ती थी। इसे अलग-अलग राज्यों में हुक्मनामा, पेशकशी, कैद खालसा, तलवार बन्धाई, नजराना आदि

विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। मारवाड़ में सर्वप्रथम मुगल पद्धति के अनुसार मोटा राजा उदयसिंह (1583-1595 ई.) द्वारा नये सामन्तों से उत्तराधिकार- शुल्क लेने की प्रथा चालू की गई थी। उस समय यह शुल्क "पेशकशी" के नाम से लिया जाता था। इस शुल्क की वसूली के पश्चात् ठिकाने के उत्तराधिकारी के नाम नया पट्टा प्रदान कर दिया जाता था। महाराजा सूरसिंह ने (1595-1619 ई.) पेशकशी की दर जागीर की रेख (वार्षिक आय) के बराबर निश्चित कर दी। महाराजा अजीतसिंह (1619-24 ई) के काल में इसका नाम "हुक्मनामा" पड़ गया। इसी समय मारवाड़ में जागीरदारों से "तागीरात" नाम का एक नया कर भी वसूल किया जाने लगा। "हुक्मनामा" और "तागीरात" के अभाव में सामन्त पद की स्वीकृति नहीं मानी जाती थी। महाराजा विजयसिंह (1751-1793 ई.) के समय मराठों के निरन्तर आक्रमणों के कारण राज्य की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। महाराजा ने हुक्मनामा की रकम जागीर की आय से दुगुनी तक वसूली की और इसके साथ मुत्सद्दी खर्च के रूप मे अतिरिक्त धनराशि भी एकत्र की। महाराजा मानसिंह (1803-1843 ई.) के समय मे तो हुक्मनामा की रकम की दर में और भी अधिक वृद्धि की गयी। इस प्रकार हुक्मनामा की रकम की जो वसूली स्वेच्छाचारितापूर्वक की जा रही थी, उससे सामन्तों के मन मे राजा के प्रति रोष उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था।[21]

रेख और हुक्मनामा की रकम की वसूली के अतिरिक्त मारवाड़ मे सामन्तों से अनेक अन्य करो की उगाही भी की जाती थी। जैसे राज्याभिषेक के अवसर पर शासक को नजराना, शासक एव युवराज की प्रथम शादी के समय भेट और राजकुमारी के विवाह के उपलक्ष मे "न्योत" के रूप में सामन्तों को प्रति 1000 रुपये की रेख पर क्रमश: 25 रुपये, 100 रुपये और 40 रुपये के हिसाब से रकम देनी होती थी। विभिन्न समय पर अलग-अलग शासकों द्वारा उक्त दरों में हेर-फेर भी कर दी जाती थी।[22] उदयपुर में राज्याभिषेक के समय बड़े-बड़े सामन्तो को 500 रुपये और अन्य सामन्तो को एक हजार की रेख पर 20 रुपये के हिसाब से नजराना देने के लिये बाध्य किया जाता था। इस अवसर पर बड़े सामन्तो से एक या दो घोड़ों की भेट भी अपेक्षित थी। शासक और युवराज की शादी पर उदयपुर मे सामन्तो से राजतिलक की दर से ही रकम वसूल करने की व्यवस्था थी। बाईजी लाल (राजकुमारी) के विवाह पर मेवाड़ी सामन्त प्रति 1000 की रेख पर 150 रुपये न्योत के दिया करता था। कुछ सामन्तो से इस अवसर पर घोड़ों की माग भी की जाती थी। उदयपुर में महाराजाओं के तीर्थ- यात्रा जाने पर हर सामन्त प्रति 1000 रुपये की रेख पर 75 रुपये के हिसाब से धनराशि भेंट-स्वरूप प्रस्तुत करता था। राजस्थान के अन्य राज्यों में भी कुछ हेर-फेर के साथ सामन्तों द्वारा इस प्रकार के कर देने की व्यवस्था थी।[23]

राजपूताने में मुगल- सत्ता स्थापित हो जाने के पश्चात् राजपूत शासकों और उनके सामन्तों के आपसी सम्बन्धों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। अब राजस्थानी शासक अपने सामन्तों की शक्ति की अपेक्षा मुगल- सम्राट पर अधिक निर्भर हो गए। अत: सामन्तों का अपने राज्य मे महत्व कम हो गया। राजपूत राजाओं ने भी मुगल सम्राट् का अनुकरण करते हुए सामन्तों को नियन्त्रित करने के प्रयास किये। मुगलों की मनसबदारी प्रथा से प्रेरणा लेकर राजपूत राजाओं ने भी अपने सामन्तो को पद और प्रतिष्ठा के आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभाजित कर दिया। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि दोनों प्रथाएं साम्य रखती हैं व एक-सी हैं। साम्य मात्र इसी अर्थ में है कि जागीरदारों के दर्जे निश्चित करने से उनकी जागीर की आय और उनके पद और प्रतिष्ठा का निर्धारण हो गया। मारवाड़ के जागीरदार कई श्रेणियों में विभाजित हो गये। इनमें चार मुख्य थे — राजवी, सरदार, मुत्सद्दी और गनायत।

राजा के छोटे भाई व निकट के सम्बन्धी, जिन्हें अपने निर्वाह के लिये जागीर दी जाती थी, राजवी कहलाते थे। उन्हें तीन पीढ़ी तक रेख, चाकरी, हुक्मनामा आदि की रकम राज्य खजाने में जमा नहीं

करवानी पड़ती थी । तीन पीढ़ी के बाद राजवी भी सामान्य जागीरदारों की श्रेणी में आ जाते थे ।

मारवाड़ के सरदारों को चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम श्रेणी के सरदार सिरायत कहलाते थे । प्रारंभ में ऐसे सामन्तों की संख्या मात्र आठ थी ।[24] परन्तु बाद में इनकी संख्या 12 तक पहुँच गयी । इन सरदारों का दरबार में बैठने का स्थान राजा के पास सबसे आगे रहता था । वे दो मिसलों में (पंक्तियों में) महाराजा के दांई ओर व बाईं ओर निश्चित स्थान पर बैठते थे । राव रणमल के वंशज दांई मिसल के और जोधा के वंशज बांई मिसल के सरदार थे । दाहिनी पंक्ति में शीर्ष स्थान पर आउवा के चांपावत ठाकुर को और बांई पंक्ति में प्रधान स्थान पर रींया के ठाकुर (मेड़तिया) को बैठने का अधिकार दिया गया था । सिरायत के सरदारों को दोहरी ताजीम प्राप्त थी । दोहरी ताजीम से तात्पर्य यह है कि जब सरदार राजा के समक्ष उपस्थित होता था तब उसकी उपस्थिति के समय और प्रस्थान करते समय महाराजा खड़े होकर उसका अभिवादन ग्रहण करते थे । इकहरी ताजीमी सरदार का अभिवादन राजा केवल उसके आने पर ही ग्रहण करता था । इसके अतिरिक्त कुछ सरदारों को बांह-पसाव और हाथ के कुरब का सम्मान प्राप्त रहता था । जिस सरदार को बांह-पसाव का सम्मान प्राप्त था, वह महाराजा के समक्ष उपस्थित होता और अपनी तलवार उनके पैरों के पास रखकर घुटने या अचकन के पल्ले को छूता था । तब महाराजा उसके कंधों पर हाथ रख देता था । इसी प्रकार जिसे हाथ का कुरब प्राप्त था, महाराजा उसके कंधे पर हाथ लगाकर अपने हाथ को अपनी छाती तक ले जाता था । ये ताजीमें भी इकहरी और दोहरी दोनों प्रकार की होती थीं । इस प्रकार का सम्मान या कुरब सामन्तों को बहुत बड़ी राजकीय सेवा करने पर ही प्रदान किया जाता । मारवाड़ में चंडावल के ठाकुर ने महाराजा विजयसिंह से निवेदन किया कि उसे हाथ का कुरब इनायत किया जाये । इसके बदले में वह महाराजा को चालीस-पचास हजार रुपये नजर करने को तैयार था । परन्तु महाराजा ने इस धनराशि को लेना स्वीकार नहीं किया और ठाकुर को कहलाया कि कुरब सिर साटै मिलता है, दाम साटै नहीं ।[25] सरदारों को इस प्रकार की ताजीमें व कुरब देने की प्रथा लगभग सभी राजपूत राज्यों में थी ।

गनायत के ठिकाने उन जागीरदारों के थे जिन्हें जागीर या तो राजघराने से शादी सम्बन्ध के कारण मिली थीं या वे राठौड़ों का राज्य स्थापित होने के पहले से ही मारवाड़ के किसी क्षेत्र के स्वामी थे । राठौड़ों का राज्य स्थापित हो जाने पर उन्होंने भी राठौड़ों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था । ऐसे ठिकाने भाटी, कच्छावा, हाड़ा, चौहान, सिसोदिया, तंवर, जड़ेचा, झाला आदि राजपूतों के थे ।[26]

मारवाड़ में मुत्सद्दी जागीरदार भी थे । उन्हें राज्य प्रशासन में कार्य करने के एवज में जागीर प्राप्त थी । उनकी जागीरें उनके सेवाकाल तक ही रहती थी । कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिनकी जागीरें वंशानुगत थीं ।

मारवाड़ में एक परम्परागत रीति यह चली आ रही थी कि किसी नरेश के स्वर्गगामी होने पर सहानुभूति प्रदर्शित करने हेतु, जैसे साधारण व्यक्ति के घर पर सम्बन्धी और मित्र वर्ग की स्त्रियाँ जाती है, सरदारों और मुत्सद्दियों की स्त्रियाँ रोती हुई किले पर पहुँचती थीं । महाराजा सूरसिंह के समय इस प्रथा का अंत कर दिया गया । इससे स्पष्ट है कि मुगलों के सम्पर्क में आने के पहिले महाराजा और सामन्तों के बीच भाई-बंधु का सम्बन्ध था ।[27]

मुगलों के प्रभाव के फलस्वरूप ही ताजीम व कुरब और सिरोपाव के नियम बनने लगे। सिरायतों तथा अन्य सरदारों को ताजीम, कुरब, बांहपसाव, हाथ का कुरब, आदि से सम्मानित किया जाता था । सिरायत के सरदार महाराजा द्वारा भेजे गये खास रुक्कों के—जिनमें ठाकुरों को सम्मानसूचक शब्दों से

सम्बोधित किया जाता था — पहुँचने पर ही राजधानी में उपस्थित होते थे। लौटते समय उन्हें महाराजा से स्वीकृति प्राप्त करनी पड़ती थी। इसके लिए वे किले में महाराजा के समक्ष उपस्थित होते थे, जहाँ उन्हें सीख सिरोपाव प्राप्त होता था।[28]

मारवाड़ के प्रशासन में सर्वोच्च स्थान राजा का होता था। उसके नीचे प्रधान की नियुक्ति की जाती थी। प्रधान का पद पहले कूपांवतों, आसोप के ठाकुर और बाद में चांपावतों के पास रहा। चांपावतों में आउवा और पोकरण के ठाकुरों को ही प्रधान- पद पर नियुक्त किया जाता था। प्रधान को गांवों के दान-पत्रों व जागीरों के पट्टों पर हस्ताक्षर करने का अधिकार था। उन्हें प्रधानगी के लिये वेतन-स्वरूप दो बधारे के गांव (अतिरिक्त गांव) दिये जाते थे। उत्सवों और सवारी के अवसरों पर प्रधान महाराजा के ठीक पीछे हाथी पर सवार रहता था और चवर किया करता था।[29]

मारवाड़ में नये राजा के राजतिलक के समय तिलक करने का अधिकार बगड़ी के जैतावत ठाकुर को था। वह अपने अंगूठे को तलवार से चीरकर रक्त का टीका किया करता था। राजतिलक के अवसर पर पूर्व पुरुषों (पुरखों) की नामावली पढ़ी जाती थी। वह राज्य का पोलपात (वंश-कर्मज्ञ) पढ़ा करता था। जोधपुर में मूँधियाड़ के बारहठ ठाकुर को राजतिलक के समय वंशावली की उद्घोषणा करने का अधिकार प्राप्त था।[30]

होली, दीपावली, दशहरा, रक्षाबन्धन, अक्षय तृतीया और राजा के जन्म-दिवस पर दरबार लगता था जिनमें सभी सरदार आमन्त्रित किये जाते थे।[31] सिरायत के ठाकुरों की मृत्यु पर उनके सम्मान में राजकीय शोक रखा जाता था। मारवाड़ में जोधपुर के किले पर एक टक नौबत व शहनाई का बजना बंद रखा जाता था।

उपर्युक्त विवेचन से उत्तर मध्यकालीन राजस्थान में सामन्तवाद का रूप भी स्पष्ट हो जाता है और यूरोपीय सामन्तवाद से उसका अन्तर भी।[32]

## संदर्भ-सूची


1 मारवाड़ से निष्कासित ठाकुरों द्वारा पोलीटिकल एजेंट को दिये गये पत्र, आषाढ़ सुदी 2, वि. सं. 1878 (जुलाई 1821 ई.), कर्नल टॉड द्वारा अनूदित, पृ. 159-60, भाग 1 पर उद्धृत, ए. सी. बनर्जी, राजपूत स्टडीज, पृ. 134-35।

2. वही, पृ. 160-62

3 हाथ रुक्का परवाना बही नं. 2, पृ. 110 – स्याम धर्म पण मूं बरतो करो छो– म्हारे थारो भरोसो छै – म्हारा थारो भरोसो छै।

4 जी. एस. शर्मा, सोशल लाइफ इन मेडीवल राजस्थान, पृ. 86, आर. पी. व्यास, रोल ऑफ नोबिलिटी इन मारवाड़, पृ. 8

5. टॉड, भाग 1, पृ. 127, आर. पी. व्यास, मारवाड़ में सामन्ती प्रथा, परम्परा, पृ. 79

6. आर. पी. व्यास, पृ. 7-8, जी. एस. एल. देवड़ा, राजस्थान की प्रशासनिक व्यवस्था, पृ. 72-73

7. जी. एन. शर्मा, राजस्थान का इतिहास, पृ. 472

8. विस्तृत विवरण के लिए द्र., पी. सरन, स्टडीज इन मेडीवल इण्डियन हिस्ट्री में प्रकाशित लेख 'दि फ्यूडल सिस्टम ऑफ राजपूताना', पृ. 3-21

9 टॉड, पृ. 128-33

10 मारवाड़ री ख्यात, भाग 1, पृ. 41 और 51; आर. पी. व्यास, पूर्वो., पृ. 9-10

11. देवड़ा, पृ. 50
12. मारवाड़ रो परगनो री विगत, भाग 1, पृ. 63; टॉड, भाग 2, पृ. 21; रामकरण आसोपा, हिस्ट्री ऑफ द राठौड़स, पृ. 32-33; परम्परा, भाग 39-40, पृ. 49, भाग 49-50, पृ. 79
13. आर. पी. व्यास, वही , पृ. 11; जे. के. ओझा, मेवाड़ का इतिहास , पृ. 260
14. मुंशी हरदयाल, तवारीख -ए- जागीरदारान राज मारवाड़, पृ. 7
15. एचीसन, भाग 3, पृ. 20, 28 और 30
16. जोधपुर रिकार्डस ट्रिब्युट डिपार्टमेण्ट, खण्ड 1, फाइल सं. सी 4/6, उदधृत, शर्मा और व्यास राजस्थान का इतिहास, पृ. 267 और 79
17. देवड़ा, पृ. 77-79
18. लक्ष्मीचन्द, तवारीख-ए-जैसलमेर, पृ. 100
19. आर. पी. व्यास, पृ. 187
20. हरदयाल, मारवाड़ की प्रथम प्रशासन सम्बन्धी रिपोर्ट; रेऊ, मारवाड़ का इतिहास, भाग 2, पृ. 627
21. आर. पी. व्यास, पृ. 186
22. हकीकत वही नं. 39, पृ. 553; ब्यावरी वही नं. 3, पृ. २; मारवाड़ प्रेसी, पृ. १50; आर. पी. व्यास, पृ. 179-80
23. प्रकाश व्यास, मेवाड़ राज्य का इतिहास, पृ. 261-62; मेहता संग्रामसिंह कलेक्शन का हवाला (नं. 1063) देते हुए व्यास लिखता है — महाराणा के पुत्र, पुत्रियों व बहिन की शादी पर जो नजराना लिया जाता था, उसे 'न्यात बराड़' भी कहा जाता था। आरम्भ में यह जागीर की वार्षिक आय का दसवां भाग होता था, इसलिए इसे 'दसोद' भी कहते थे।
24. टॉड, भाग 2, पृ. 135
25. हरदयाल, तवारीखे जागीरदारान, पृ. 4-6; आर. पी. व्यास, पृ . 171-73
26. आर. पी. व्यास, पृ. 174 : पाद-टिप्पणी 2
27. असोपा, मारवाड़ का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 340
28. आर. पी. व्यास, पृ. 176-78 ; असोपा, आसोप का इतिहास, पृ. 154, 166 और 168
29. वाल्टर, गजेटियर ऑफ मारवाड़, पृ. 85; आर. पी. व्यास, मारवाड़ में सामन्ती प्रथा —एक अध्ययन, परम्परा, भाग, 49-50, पृ. 82
30. असोपा, मारवाड़ का मूल इतिहास, पृ. 260
31. हकीकत वही, नं. 44, पृ. 324; आर. पी. व्यास, पृ. 177-78
32. असोपा, आसोप का इतिहास, पृ. 218

# 16

# मीरांबाई के भजनों में सामन्तवाद की झलक

हेरम्ब चतुर्वेदी

कृष्ण की अनन्य भक्ति में तल्लीन मीराबाई सगुणोपासक थीं , किन्तु अपने समकालीन सामाजिक-धार्मिक परिवेश को समझते हुए वे निर्गुण भक्ति के महत्व को भी रेखांकित करती हैं। वह उसकी भी उतनी ही प्रशंसा करती हैं। उसे भी उसी स्तर पर स्थापित करती हैं जिस पर सगुण भक्ति को।[1] यही नहीं, वे निर्गुण भक्त रैदास को अपना गुरु स्वीकार करती हैं[2] और अन्य निर्गुणियों—कबीर, नरसी, सेना, पीपा व धन्ना का सादर उल्लेख करती हैं।[3] मीराबाई के काव्य में यह एक विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। कहीं सगुण धारा की भक्ति में डूबी मीराबाई और कहीं निर्गुण धारा। किन्तु यह मीराबाई द्वारा इन दो विपरीत प्रकृति की धाराओं के समन्वय का सुनियोजित प्रयास नहीं है, अपितु सामाजिक वस्तुस्थिति का वास्तविक चित्रण मात्र है। उनके काल की भक्ति की ये दोनों धाराएँ एक साथ प्रवाहमान थीं और एक सच्चे भक्त की भाँति, बिना किसी भेद-भाव के मीरा दोनों को यदि आत्मसात् नहीं तो स्वीकार अवश्य कर रही थीं और दोनों को समान रूप से महत्वपूर्ण मान रही थीं।

यह भी सम्भव है कि ये साहित्यिक विरोधाभास, जो मीराबाई के काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं, उनके समसामयिक राजस्थान के सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में निहित अन्तर्विरोधों के प्रतिबिम्ब हैं। यह विरोधाभास स्पष्ट हो जाता है मध्यकालीन राजस्थान के राजनीतिक तंत्र के अध्ययन से। उस समय राजस्थान छोटे-छोटे (या छोटे-बड़े) राज्यों में विभक्त था। इन सभी राज्यों में राजतंत्रीय शासन पद्धति थी। किन्तु इसके बावजूद ये मूलतः सामन्तीय थे।[4] दूसरा प्रमुख विरोधाभास था राजस्थान के इस सामन्ती ढाँचे अथवा क्षेत्रीय सामन्तवाद द्वारा केन्द्रीकृत मुगल साम्राज्यवादी प्रसार का प्रतिरोध (सफल तथा असफल) अथवा कहीं-कहीं सबल विरोध (मेवाड़ का उदाहरण सर्वविदित है)। इस कारण मध्ययुगीन राजस्थान के सामाजिक, राजनीतिक परिवेश में यह द्वन्द्व प्रमुख था और इसीलिए मीराबाई के काव्य में भी यह अभिव्यक्त हुआ है।

यह पृष्ठभूमि है मीराबाई के काव्य की और इसी के परिणामस्वरूप उनके काव्य में सामन्तवादी व्यवस्था के चिह्न व प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, जैसा कि उनके काव्य के विश्लेषणात्मक अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। उनके चित्रण में सामन्तवादी प्रभाव का सर्वप्रमुख उदाहरण है, निवास का चित्रण। जब भी मीराबाई अपने आवास का वर्णन करती हैं, जहाँ वे शयन करती हैं अथवा अपने स्वामी कृष्ण के लिए प्रतीक्षारत रहती हैं , उसे वे 'भवन'[5] अथवा 'महल'[6] कहती हैं। यह सत्य है कि वे रहती ही भवन अथवा महल में थीं, अतः कुटिया या झोंपड़ी का उल्लेख तो स्वभावतः वास्तविकता से परे होता। मध्यकाल के स्थापत्य की एक विशेषता थी कि प्रत्येक महल में एक रंगमहल भी होता था।[7] मीराबाई, जो राजदरबार की महिला थी, उस कक्ष का भी वर्णन करती है—

विरहणि बैठी रंगमहल में, मोतियन की लड़ पोवै।[8]

मीरांबाई स्थापत्य के दृष्टिकोण से "झरोखा"[9] का भी वर्णन करना नहीं भूलती।

मीरांबाई जिस प्रकार महलों और भवनों का उल्लेख करती हैं, उसी प्रकार वे किले की भी चर्चा करती हैं जो मध्यकालीन सामन्तवादी व्यवस्था की धुरी था तथा युद्धपरक परिस्थितियों में शत्रुपक्ष से लोहा लेने का आधार व आक्रमणों के दौरान सुरक्षा का आश्रय-स्थान होता था।[10] चूँकि मीरांबाई किलों के इस महत्त्व से परिचित थी अत: किले के संदर्भ में वे निरन्तर गश्त द्वारा पहरे लगाये जाने का भी उल्लेख करती हैं।[11]

उपर्युक्त रंगमहल वाला पद दिलचस्प है क्योंकि उसमें एक अन्य महत्वपूर्ण तत्व भी वर्णित है और वह है "मोतियन की लड़"। इससे स्पष्ट होता है कि विरह में डूबी भक्ति की प्रतिमूर्ति मीरां न केवल रंगमहल में विराजमान है अपितु जो माला वह उपभोग में ला रही है वह तुलसी आदि की साधारण माला नहीं है वरन् मोती की माला है। उच्च वर्गों की महिलाओं द्वारा किस प्रकार की माला प्रयुक्त होती थी, इससे यह स्पष्ट हो जाता है।[12]

अपने सामन्ती परिवेश को ही चित्रित करते हुए मीरां उस व्यवस्था की विशिष्ट शैली व शब्दावली का भी प्रयोग करती हैं और अपने स्वामी कृष्ण को भी "प्रतिपाल" कहकर सम्बोधित करती हैं।[13] वे अपनी कविता में भवनपति[14] का भी उल्लेख करती हैं जो प्राय: मुगल किलेदारों की भाँति महत्वपूर्ण दुर्गों में नियुक्त किए जाते थे। वस्तुत: वह भी एक प्रकार के स्थानीय सामन्त थे। यह पद प्राय: पैतृक होता था। उसी प्रकार राज्य के प्रमुख नगरों में अलग प्रशासनिक अधिकारी नियुक्त किए जाते थे और सामन्तवादी व्यवस्था में इन्हें अपने नगर पर पूर्ण स्वामित्व-सा प्राप्त था। क्षेत्रीय सामन्त के रूप में ये सामन्त शासन की स्वतन्त्रता प्राप्त करते थे और अपने शासक से सम्बद्ध भी रहते थे। इन्हें नगर-नरेश व नगर-राजा कहा जाता था।[15] ये सामन्त प्राय: युद्धपरक परिस्थितियों में रहते थे। पारस्परिक युद्धों के अतिरिक्त मुगलों से भी युद्ध की सम्भावनाओं के कारण सुरक्षा कवचों के निर्माण में व्यस्त रहते थे। मीरांबाई ने सदैव अपने इर्द-गिर्द युद्ध-तत्परता व सुरक्षा के सुदृढ़ कवचों के निर्माण को देखा, अत: इनका चित्रण भी अपने काव्य में किया है।[16]

मीरां अपने इष्टदेव को अपना स्वामी स्वीकार करती हैं। वह उन्हें "ठाकुर" कहकर भी सम्बोधित करती है जो एक सामन्तवादी विरुद है।[17] यही नहीं, अपने इष्ट अथवा स्वामी से अपने सम्बन्धों को परिभाषित करने के लिये वे अपने-आप को उनके परिवार का ही एक सदस्य मानती हैं जो अपने स्वामी की कृपा व आशीर्वाद के बिना कुछ भी करने प्राप्त करने में असमर्थ व अक्षम है। यह इष्टदेव-भक्त सम्बन्ध वस्तुत: स्वामी-आश्रित के ही हैं अर्थात् पूर्णत: सामन्तवादी है। मुगल काल में शासन में पूर्व-नियुक्त मंसबदारों व उच्च शासनाधिकारियों के पुत्रों आदि को इसी प्रकार प्रशासनिक सेवा में अपनी प्रारम्भिक नियुक्ति के लिए, बावजूद पूर्ण प्रशिक्षण तथा योग्यताओं के मुगल बादशाह की कृपा पर निर्भर रहना पड़ता था। आभिजात्य वर्ग के इन वंशजों को 'खानजादा' कहते थे।[18] मीरां इस तथ्य से भली-भाँति अवगत थीं इसलिए वह अपने आप को अपने इष्टदेव का खानाजादा कहती हैं जो उनकी असीम अनुकम्पा के अभाव में बावजूद योग्यता व प्रशिक्षण के कुछ भी कर सकने में असमर्थ है।

और क्योंकि मीरां के इष्टदेव स्वामी व ठाकुर हैं और मीरां स्वयं एक आश्रित खानाजादा, अत: वह अपने आप को स्वामी का सेवक व दास भी मानती है। जैसा कि सर्वविदित तथा सर्वमान्य है, भक्त व इष्ट का यह सम्बन्ध सगुणोपासना की रामभक्ति के अधिक निकट है जहाँ राम ब्रह्म का प्रतिनिधित्व करते

है व हनुमान आत्मा का। रामभक्ति में मोक्ष की अवधारणा भी यही है कि भक्त अपने आराध्य के सान्निध्य में रहे, आत्मा या जीव ईश्वर या परमात्मा या ब्रह्म की अविरल सेवा में रत रहे जैसे कि हनुमान अपने इष्ट राम के चरणों में सेवक भाव के साथ सदैव उपस्थित दीखते हैं। रामभक्ति में मोक्ष की यह अवधारणा कृष्णभक्ति में मोक्ष की अवधारणा से भिन्न है जहाँ ब्रह्म अथवा परमात्मा के रूप में कृष्ण एवं जीव अथवा आत्मा के रूप में राधा है अर्थात् प्रेमी-प्रेयसी का लगभग समान पद है और मोक्ष के अन्तर्गत, राधा कृष्ण में अर्थात् आत्मा परमात्मा में अथवा ब्रह्म मे विलीन हो जाती है। स्वाभाविक रूप से कृष्णभक्ति धारा की प्रतिनिधि होने के कारण मीरां को भी इसी अवधारणा के अनुसार वर्णन करना चाहिए था, किन्तु वे अपने सामाजिक-आर्थिक व राजनीतिक परिवेश से प्रभावित होने के कारण सामन्ती अवधारणाओं का पूर्णत. परित्याग नहीं कर पाईं। सामन्तवाद के प्रभाव के कारण वे ईश्वर व भक्त के पारस्परिक सम्बन्धों को भी उन्हीं प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं, जो उनके काल की वास्तविकता है। अत वे ब्रह्म और आत्मा के वर्णन तथा मोक्ष की अवधारणा मे रामभक्ति के प्रतीकों, स्वरूपों व आस्थाओं के अधिक निकट हैं। अत: अपने आप को अपने इष्ट की मात्र दासी[19] अथवा चेरी[20] ही मानती हैं। वे अपने को कृष्ण की सखी नही मानती। उनके काव्य मे कृष्ण के प्रति प्राय. मात्र सेवा भाव ही अभिव्यक्त होता है-

जहाँ-जहाँ देखूँ म्हारो राम तहा सेवा करूँ।। [21]

अत, जैसा कि इस पद से सुस्पष्ट है, वे ईश्वर और भक्त के मध्य स्वामी और आश्रित का ही सम्बन्ध स्वीकार करती है जो सामन्ती व्यवस्था के साथ-साथ रामभक्ति की अवधारणा के भी निकट था। वह कृष्णभक्ति की सीमा का अतिक्रमण करते हुए अपने इष्टदेव कृष्ण को कभी-कभी "राम" कहकर भी सम्बोधित करती है।[22]

स्त्रियों की दशा किसी भी समाज व संस्कृति की वास्तविक माप की इकाई अथवा अङ्कना होती है। स्त्रियों का गिरता सामाजिक स्तर व प्रतिष्ठा सम्पूर्ण मध्यकालीन भारतीय समाज की विशेषता थी। तत्कालीन साहित्य में उनके वास्तविक चित्रण से यह तथ्य सुस्पष्ट व सुस्थापित हो जाता है।[23] मीरा स्वयं भी एक स्त्री थीं (भले ही राजपरिवार की क्यो न थीं — किन्तु सामन्ती परिवेश के अन्तर्गत तो वह भी आश्रित ही थी )। अत: उनके काव्य मे भी स्त्री शारीरिक व मानसिक दोनों ही रूपो में पुरुषों से हीन व दुर्बल है। इस भाव के अन्तर्गत पुरुष स्त्री का स्वामी ही हो सकता था और स्त्री उस पर निर्भर व आश्रित —

मै अबला बल नाहै गुसाई.........। [24]

मध्यकालीन समाज स्त्री से पुरुषों को श्रेष्ठ मानता था, अत: समकालीन जीवन का वास्तविक चित्रण करने वाली मीरा भी अपने "पुरुष" कृष्ण को "स्वामी" व "ठाकुर" कहकर सम्बोधित करती है। एक तो उस समय स्वामी-दासी की अवधारणा सशक्त थी, ऊपर से कृष्ण एक राजा है, अत उनको स्वीकृत "चँवर" के वैसे भी अधिकारी हैं। इन सबके अतिरिक्त कृष्ण राजपरिवार की महिला के आराध्य देव अथवा स्वामी होने के नाते भी "चँवर" के अधिकारी हो जाते हैं और चँवर उनके लिए आवश्यक प्रतिष्ठा-मूलक एवं मर्यादोचित हो जाता है।[25]

मीरां मनुष्य के अंतिम-संस्कार का उल्लेख करते समय साधारण लकड़ी की चिता का वर्णन नहीं करतीं जिसका प्रयोग जनसाधारण करते थे, अपितु वे उस चिता का वर्णन करती हैं जो चंदन की है तथा जिसका प्रयोग शासक, अभिजात्य-वर्ग के लोग व सामन्त और समृद्ध सरदार ही कर सकते थे। राजपरिवार की सदस्या होने के नाते "चंदन की चिता" मीरां की एक सामन्ती वास्तविकता अथवा सामान्य सत्य है।[26]

सामन्ती व्यवस्था के आधारभूत भू-अनुदानों अथवा "जागीरों" का भी उल्लेख इन मीरां

काव्य में प्राप्त होता है। जिस प्रकार सामन्तों को ये जागीरें प्रदान की गई थीं, एक सुस्थापित ऐतिहासिक तथ्य है।[27] मीरां जागीर के साथ-साथ "पट्टा" जैसे प्रशासनिक दस्तावेज के विषय में भी इंगित करती है जिसके द्वारा शासक लोग ये जागीरें आभिजात्य-वर्ग अथवा सामन्तों को प्रदान करते थे —

तीन लोक जागीरी पाई, निर मे पटा लिखया।।[28]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों व विवरणों से यह स्थापित हो जाता है कि मीरां जिस वातावरण में पली-बढ़ी थीं वह सामन्ती था और उसकी सटीक तथा वास्तविक झलक हमें मीरां के काव्य में प्राप्त होती है। एक अच्छी कवयित्री व भक्त होने के परिणामस्वरूप वे अपने भजनों में वस्तुपरक वर्णन करने में सफल रहीं जिससे तत्कालीन सामन्तवादी जीवन की छाया इनमें आ गई है।

## संदर्भ-सूची


1. मीरा सुधा सिंधु (सं. स्वामी आनन्दस्वरूप), पृ. 322/4 (पद)।
2. वही, पृ. 379-380/9 तथा पृ. 843-844/10
3. वही, पृ. 323/9. पृ. 337/49. पृ. 339/55. पृ.354/103. पृ. 774/74
4. टॉड, एनाल्स एंड एण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान (कुक का सं.), भाग 2, अध्याय द्वितीय, पृ. 174 : दशरथ शर्मा, लेक्चर्स ऑन राजपूत हिस्ट्री एंड कल्चर, पृ. 13-17
5. मीरा सुधा सिंधु, पृ. 187/78. पृ. 201/115. पृ. 196/100, पृ. 208/142
6. वही, पृ.189-190/85. पृ. 207/139. पृ. 208/140, पृ. 272/18. पृ. 291-292/65. पृ. 327/19
7. पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ. 104
8. मीरां, उपर्युक्त, पृ.178/54. पृ.654/232, पृ.847/17 व पृ.933/32
9. वही, पृ.813/2 तथा देखें, पर्सी ब्राउन, उपर्युक्त, पृ. 103
10. मीरा, पृ. 280/32
11. वही, पृ.611/106 :......पहरा गरत फिरै छे।।
12. वही, पृ. 178/54
13. वही, पृ. 163/10, पृ.615/118. पृ.929/18
14. वही, पृ. 177/51
15. वही, पृ. 175/46. पृ. 193/92, पृ. 195/97. तुलना के लिए देखें, तारीख-ए-मुबारक शाही, 146
16. मीरां, पृ. 171/34 तथा पृ.611/106
17. वही, पृ. 194/95. पृ. 215/65. पृ. 292-293/66, पृ. 386/24. पृ. 620/132, साथ ही देखें, रामशरण शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म, पृ. 137 तथा, दशरथ शर्मा, लेक्चर्स ऑन राजपूत हिस्ट्री एंड कल्चर, पृ. 115 व 117
18. मीरां, पृ.187/80, अतहर अली, दि मुगल नोबिलिटी अण्डर औरंगजेब, पृ.11
19. मीरां, पृ. 164/9, पृ. 168/25, पृ. 170/30, पृ. 173/40, पृ. 175/45, पृ. 179/57. पृ. 200/112, पृ. 322-323/7, पृ. 324/12. पृ. 660/257, पृ. 697/363, पृ. 842-843, पृ. 962/12 आदि।
20. वही, पृ. 163/10, पृ. 179/57, पृ. 200/112, पृ.843/18, पृ. 842-843/7, पृ. 869/870/2,3,4 व 5, पृ. 876/23
21. उपर्युक्त।

22. उपर्युक्त ।

23. मीरां, पृ. 187/80, पृ. 341/61, पृ. 344/72, साथ ही देखें , रेखा मिश्रा [अब रेखा जोशी], विमेन इन मुगल इंडिया, पृ. 124, अलबरूनी, सचाउ का अनुवाद, प्रथम, पृ. 181, तथा हेरम्ब चतुर्वेदी, दि सोसाइटी ऑव नोर्थ इंडिया इन दि सिक्सटीन्थ सेंचुरी (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, इलाहाबाद विश्वविद्यालय), पृ. 139-44

24. मीरां, पृ. 322/5, पृ.341/61, पृ.344/72, पृ. 870-871/6, पृ 967-968/26, आदि ।

25. वही, पृ 192/90, पृ 845/13 व पृ 988/4 आदि ।

26. वही, पृ. 173/41, पृ 928/15, 'अगर चदन की चिता रचाऊँ।'

27. देखें, रामशरण शर्मा कृत 'इण्डियन फ्यूडलिज्म' ।

28. मीरां, पृ. 351/97, साथ ही देखें, यू एन डे, दि मुगल गवर्नमेण्ट, पृ 107